त्रैमासिक
जुलाई–सितम्बर 2005
बीस रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

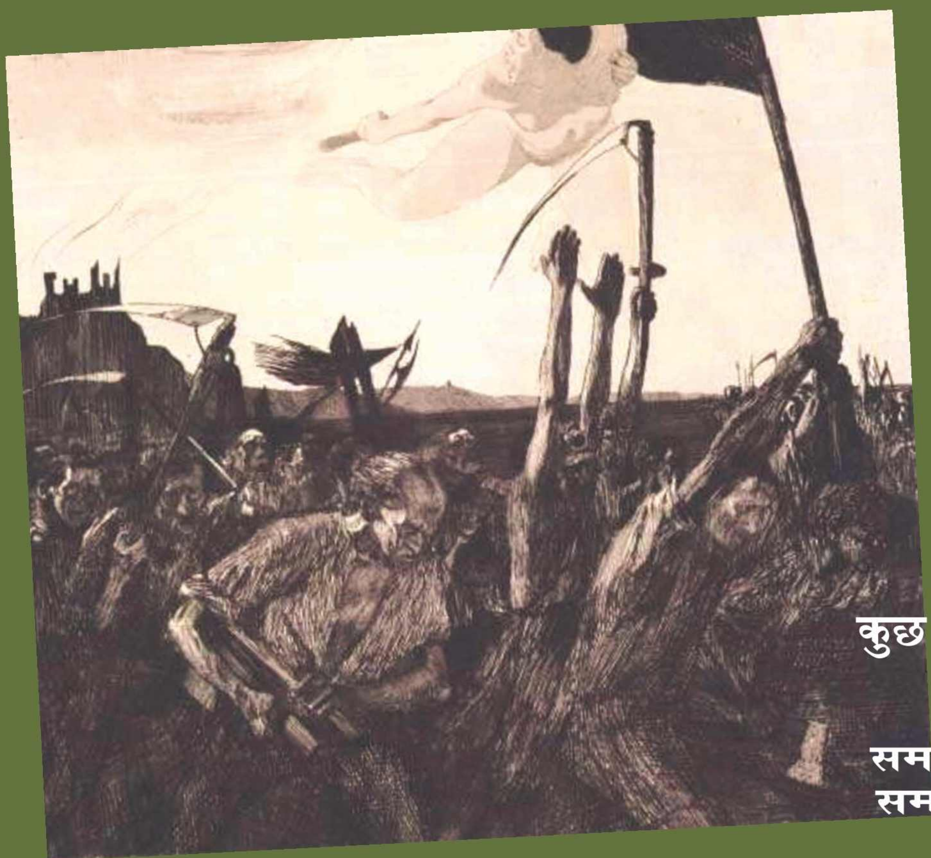

विशेष

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ

समाजवाद पर पुनर्विचार : समाजवादी संक्रमण क्या है

भारत में बदलते कृषि–सम्बन्ध • पंजाब का किसान आन्दोलन और कम्युनिस्ट • साम्राज्यवादी देशों के बीच दुनिया का बँटवारा
पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए एक आम कार्यक्रम
उत्तर–आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान'
अप्टन सिंक्लेयर और पूँजीवादी पत्रकारिता के अन्तरविरोध

एक नये क्रान्तिकारी नवजागरण–प्रबोधन की मुहिम के सहयात्री बनें!

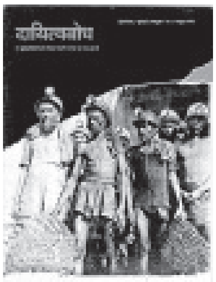

दायित्वबोध उन बुद्धिजीवियों की एक वैचारिक पत्रिका है जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है, जो विश्व ऐतिहासिक विपर्यय एवं पुनरुत्थान के वर्तमान दौर में भी बेहतर भविष्य से नाउम्मीद नहीं हैं, जो इस बेहतर भविष्य को दूर और उसके लिए नये सिरे से लड़ाई की तैयारी को कठिन मानते हुए भी उससे किसी न किसी रूप में अपने को जोड़े हुए हैं और जो क्रान्तियों की नयी श्रृंखला की सर्जना के लिए आज एक नये क्रान्तिकारी वैचारिक-सांस्कृतिक नवजागरण एवं प्रबोधन के महाउद्यम में, जुट जाने के लिए तत्पर हैं।

विगत 11 वर्षों के दौरान इस महाउद्यम के बेहद छोटे अंग के रूप में **दायित्वबोध** ने अपनी यात्रा जारी रखी है। **दायित्वबोध** अपने मिशन में किस हद तक सफल रहा है, यह तय करने का काम हम पाठकों पर छोड़ देते हैं। हां, अपने तईं हम लगातार असन्तोष के शिकार रहे हैं कि पत्रिका की सामग्री में विविधता और सृजनात्मकता का उस स्तर का समावेश नहीं कर पा रहे हैं, जो हमारी परिकल्पना में है। बहरहाल, हमारे तईं, यह असन्तोष जारी रहना चाहिए, तभी पत्रिका उत्तरोत्तर अधिक परिपक्व होती जायेगी।

अपनी छोटी से टीम और अनेक प्रकार की तकनीकी दिक्कतों के कारण हम **दायित्वबोध** को अभी नियमित नहीं कर पा रहे हैं, इसके प्रति हमारा सर्वाधिक असन्तोष है, और जाहिर है पाठकों का भी। चूंकि पूरी टीम प्रत्यक्ष राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जनकार्रवाइयों में भी भरपूर शिरकत करती है, इसलिए भी अक्सर अंक नियमित करने में दिक्कतें आती हैं। अपने पाठकों-सहयोगियों-शुभचिन्तकों का सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहा है। लेकिन, अब भी पत्रिका का एक सम्पूर्ण आत्मनिर्भर आर्थिक ताना-बाना नहीं खड़ा हो सका है। पत्रिका को नियमित न बना पाने में यह भी एक अहम कारण रहा है।

इसलिए, पत्रिका को नियमित बनाने की दिशा में लगातार प्रयास जारी रखते हुए इसके आर्थिक ताने-बाने को ज्यादा टिकाऊ स्वरूप देने के लिए हम एक **'विशेष सहभागिता अभियान'** चला रहे हैं। हम अपने सभी पाठकों-सहयोगियों-शुभचिन्तकों से इस अभियान में भरपूर सहयोग की अपील करते हैं। यह सहयोग हमारी मुहिम को जारी रखने में बेहद मूल्यवान होगा।

. . . .

'विशेष सहभागिता अभियान' में आप इस तरह सहयोग कर सकते हैं :

- ⇨ पत्रिका का एक स्थायी कोष बनाने के लिए सहयोग दें।
- ⇨ पत्रिका की आजीवन सदस्यता लें। आजीवन सदस्यता राशि रु. 1000 है।
- ⇨ पत्रिका की वार्षिक सदस्यता लें। वार्षिक सदस्यता रु. 80.00 है (डाक व्यय रु. 12 अतिरिक्त)। अपने मित्रों-सहकर्मियों को भी सदस्यता हेतु प्रेरित करें।
- ⇨ पत्रिका के मद में अपने मित्रों-सहयोगियों से धनराशि एकत्र करें।
- ⇨ पत्रिका के वितरण में हाथ बटायें।
- ⇨ पत्रिका के अंकों पर अपने-अपने क्षेत्र में चर्चाएँ आयोजित करें और इसकी रपट हमें भेजें।
- ⇨ पत्रिका से नियमित संवाद जारी रखने के लिए हमें अपनी बेबाक प्रतिक्रिया-सलाह-सुझाव भेजें।

आप धनराशि मनीऑर्डर अथवा **दायित्वबोध** के नाम से चेक या ड्राफ्ट (लखनऊ में देय) से भेज सकते हैं।

पता : 29, यू.एन.आई. अपार्टमेंट, जीएच-2, सेक्टर-11, वसुंधरा, गाजियाबाद-201010

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

सम्पादक मण्डल, 'दायित्वबोध'

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ

5

...यह सही है कि (i) अलग-अलग पश्चिमी देशों की आर्थिक शक्ति के अनुपात, (ii) विश्व-बाजार में उनकी दखल व अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों पर उनकी पकड़, (iii) एक विश्व-मुद्रा के रूप में डालर की मौजूदगी, (iv) सोवियत संघ के विघटन के बाद की भू-राजनीतिक स्थिति और (v) अमेरिका की सर्वोच्च आर्थिक शक्ति तथा अमेरिकी सामरिक-औद्योगिक तंत्र की सर्वोच्चता को देखते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद की सर्वोच्चता आज भी निर्विवाद है और निकट भविष्य में इसे मिलने वाली चुनौतियों, नयी साम्राज्यवादी धुरियों के अस्तित्व में आने की सम्भावनाओं, अमेरिकी अर्थतंत्र की असाध्य बीमारियों एवं डालर की बढ़ती कमजोरियों आदि उपादानों के बावजूद, अमेरिकी चौधराहट और विश्व-मुद्रा के रूप में डालर की स्थिति बहुत जल्दी बदलने नहीं जा रही है। लेकिन इतना तय है कि साम्राज्यवादी विश्व की दरारें-दरकनें बढ़ती जा रही हैं। महाबली की मुश्किलें बढ़ती जा रही हैं। विश्व मुद्रा के रूप में डालर का पतन एक प्रबल सम्भावना बन चुका है, इसका समय भले ही तय न हो। अमेरिकी सर्वोच्चता की दृष्टि से विश्व की एकलध्रुवीयता विगत लगभग डेढ़ दशकों की (और आगे के कुछ वर्षों तक की भी) एक वक्ती वास्तविकता है, लेकिन साम्राज्यवादी विश्व या पूरे विश्व-पूँजीवाद की बढ़ती एकाश्मिता या एकलता एक नितान्त भ्रामक आभासी यथार्थ है। इसकी विपरीत गति भी साम्राज्यवाद के भीतर लगातार मौजूद रही है और अब तेजी से मुखर एवं उग्र होने की दिशा में उन्मुख है। गत शताब्दी के आखिरी दशक में भी, अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तरविरोध सतह के नीचे निरन्तर सक्रिय रहे थे, जो अब तेजी से मुखर हो रहे हैं। समय एक बार फिर, निर्णायक तौर पर, लेनिन के इस आकलन को सत्यापित करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है कि ''अति-साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में, यानी समाजवाद में, रूपान्तरित हो जायेगा।

समाजवाद पर पुनर्विचार: समाजवादी संक्रमण क्या है?

चीन में समाजवादी संक्रमण तथा इसके पूँजीवादी दिशा में मुड़ जाने का यह विश्लेषण पिछले चालीसेक वर्षों में चीन के ठोस अनुभवों पर आधारित है। ... पिछले 80 वर्षों के दौरान, दसियों करोड़ लोगों ने अपने समाजों को समाजवाद की ओर ले जाने का बीड़ा उठाया है। दुर्भाग्य से, समाजवाद के निर्माण के प्रयास का प्रथम चक्र असफल हो गया। हमें उनके बहुमूल्य अनुभवों से सीखने की जरूरत है, क्योंकि दसियों करोड़ लोग फिर भविष्य में इसके लिए कमर कसेंगे। समाजवाद असफल नहीं हुआ है, क्योंकि हम अभी तक इसकी देहरी पर भी नहीं पहुँचे हैं।

19

साम्राज्यवादी देशों के बीच दुनिया का बँटवारा

साम्राज्यावादी देशों के भीतर के अन्तरविरोध लगातार तीखे होते जा रहे हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद के अश्वमेध के घोड़े की लगाम कसने और उसके मुकाबले में खड़ा होने के लिये यूरोपीय संघ व जापान कसमसा रहे हैं। रूस भी एक बार फिर अपने संकटों से उबरने की कोशिश करता हुआ साम्राज्यवादी होड़ में शामिल होने को बेताब है। साम्राज्यवादी दुनिया के भीतर मची यह उठापटक भविष्य में क्या रूप-रंग लेगी, इसके कुछ पूर्वानुमान इस लेख में लगाये गये हैं। ...आज के समय में अन्तरसाम्राज्यवादी होड़ की प्रकृति को समझने के लिये यह लेख बेहद उपयोगी है।

58

इस अंक में

अपनी बात

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ **5**

विशेष

समाजवाद पर पुनर्विचार: समाजवादी संक्रमण क्या है? – *देङ-युआन सू और पाओ-यू चिङ* **19**

भारत में बदलते कृषि-सम्बन्ध : हाल के आँकड़ों पर आधारित कुछ विचार – *सुच्चा सिंह गिल और रणजीत सिंह घुम्मन* **43**

पंजाब का किसान आन्दोलन और कम्युनिस्ट – *सुखविन्दर* **55**

साम्राज्यवादी देशों के बीच दुनिया का बँटवारा – *हरपाल बराड़* **58**

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए एक आम कार्यक्रम – *चेङ यूएह* **72**

चीन में माओवादियों को पर्चे बाँटने पर तीन वर्ष की जेल **79**

उत्तर-आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान' – *मीरा नन्दा* **82**

अप्टन सिंक्लेयर एवं पूँजीवादी पत्रकारिता के अन्तरविरोध – *राबर्ट डब्ल्यू मैकेंज़ी एवं बेन स्काट* **92**

दायित्वबोध

वर्ष–10 अंक–3
जुलाई–सितम्बर 2005

सम्पादक मण्डल :
विश्वनाथ मिश्र
अरविन्द सिंह

आवरण एवं सज्जा :**रामबाबू**

सम्पादकीय कार्यालय :
29, यू.एन.आई. अपार्टमेंट, जीएच-2
सेक्टर-11, वसुंधरा, गाजियाबाद-201010
फोन : (0120) 3096414
ईमेल : **dayitvabodh@rediffmail.com**

एक प्रति : 20 रुपये
वार्षिक : 80 रुपये (डाक व्यय 15 रुपए अतिरिक्त)
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक
कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग,**
राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ-226 010

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

हमारे युग में हर वस्तु अपने गर्भ में अपना विपरीत गुण धारण किये हुए प्रतीत होती है। हम देख रहे हैं कि मानव श्रम को कम करने और उसे फलदायी बनाने की अद्‌भुत शक्ति से सम्पन्न मशीनें लोगों का भूखा मार रही हैं, उन्हें थकाकर चूर कर रही हैं। सम्पदा के नूतन स्रोतों को किसी अजीब जादू-टोने के जरिए अभाव के स्रोतों में परिणत किया जा रहा है। तकनीक की विजयें चरित्र के पतन से खरीदी जाती लगती हैं। मानवजाति जिस रफ्तार से प्रकृति पर अपना प्रभुत्व कायम करती जा रही है, मनुष्य दूसरे लोगों का अथवा अपनी ही नीचता का दास बनता लगता है। विज्ञान का शुद्ध प्रकाश तक अज्ञान की अँधेरी पार्श्वभूमि के अलावा और कहीं आलोकित होने में असमर्थ प्रतीत होता है। हमारे सारे आविष्कार तथा प्रगति का यही फल निकलता प्रतीत होता है कि भौतिक शक्तियों को बौद्धिक जीवन प्रदान किया जा रहा है तथा मानव जीवन को प्रभावहीन बनाकर भौतिक शक्ति बनाया जा रहा है। एक ओर आधुनिक उद्योग तथा विज्ञान के बीच और दूसरी ओर आधुनिक कंगाली तथा अधःपतन के बीच यह वैरविरोध; हमारे युग की उत्पादक शक्तियों तथा सामाजिक सम्बन्धों के बीच यह वैरविरोध स्पृश्य दुर्दमनीय तथा अकाट्य तथ्य है। कुछ पार्टियां इस पर विलाप कर सकती हैं; कुछ आधुनिक संघर्षो से छुटकारा पा सकने के लिए आधुनिक तकनीकों से छुटकारा पाने की दुआएँ माँग सकती हैं। या वे यह कल्पना कर सकती हैं कि उद्योग में इतनी विशिष्ट उन्नति राजनीति में उतनी ही विशिष्ट अवनति से पूर्ण होनी चाहिए। अपनी ओर से हम उस चतुर शैतान की प्रकृति को पहचानने में भूल नहीं करते जो इन तमाम अन्तरविरोधों में निरन्तर प्रकट होता रहा है। हम जानते हैं कि समाज की नूतन शक्तियों को ठीक तरह से काम करने के लिए जिस चीज की जरूरत है, वह है उन्हें नूतन लोगों द्वारा वश में लाया जानाऔर ये हैं मेहनतकश लोग।

कार्ल मार्क्स

(‘पीपुल्स पेपर’ की जयन्ती पर भाषण, 1856)

पाठकों से

मित्रो,

‘दायित्वबोध’ का यह अंक लगभग डेढ़ वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद आपके पास जा रहा है। दरअसल, सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक की अधिकांश सामग्री भी करीब एक वर्ष से अधिक पहले तैयार हो चुकी थी लेकिन कई कारणों से इसका प्रकाशन टलता रहा। ‘दायित्वबोध’ से जुड़ी टीम की विभिन्न सांगठनिक व्यस्तताएँ भी इसका एक कारण थीं। इस बीच हमने पत्रिका में कुछ व्यवस्था सम्बन्धी बदलाव शुरू किये हैं और इसे एक बार फिर नियमित करने का संकल्प लिया है। अक्टूबर-दिसम्बर 2005 के अंक पर काम चल रहा है और इस वर्ष वह आपके हाथों में होगा। पत्रिका को नियमित करने के लिए हमें आपकी भरपूर मदद की भी जरूरत होगी।

टीम छोटी और अति-व्यस्त होने के कारण हम सदस्यों से नियमित पत्र-व्यवहार अभी नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए हमारा अनुरोध है कि आप खुद भी देख लें और यदि आपकी सदस्यता अवधि पूरी हो चुकी हो तो अपनी सदस्यता राशि शीघ्र भिजवा दें। पत्र की प्रतीक्षा न करें।

यदि किन्हीं मित्रों ने सदस्यता राशि भेजी है और उन्हें पत्रिका नहीं मिल रही है, तो अपना पूरा पता और सदस्यता राशि भेजने की तिथि तथा जरिया एक बार फिर लिख भेजें।

पत्रिका पर अपने विचार जरूर लिखें, हो सके तो विस्तार से।

कागज और छपाई की बढ़ती कीमतों के मद्देनजर हमें इस अंक से पत्रिका के नियमित अंकों का मूल्य 20 रुपये करना पड़ रहा है।

सम्पादक मण्डल

अपनी बात

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ

"फिर भी, क्या इससे इंकार किया जा सकता है कि साम्राज्यवाद के *बाद*, अमूर्त रूप में पूँजीवाद का, अति-साम्राज्यवाद नामक, एक नया चरण ''कल्पनीय'' है? नहीं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। ऐसे किसी चरण की कल्पना की जा सकती है। लेकिन व्यवहार में, इसका मतलब होगा अवसरवादी बन जाना, आज की गम्भीर समस्याओं से मुँह मोड़कर भविष्य की अगम्भीर समस्याओं के सपने देखने लग जाना। सिद्धान्त में इसका मतलब होगा वास्तविक परिवर्तनों से निर्देशित होने के बजाय, मनमाने ढंग से, ऐसे सपनों के लिए उनका *परित्याग कर देना*। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विकास की प्रवृत्ति एक एकल विश्व ट्रस्ट *की दिशा में* है जो निरपवाद रूप से सभी उपक्रमों को और निरपवाद रूप से सभी राज्यों को आत्मसात कर लेगा। लेकिन यह विकास ऐसी परिस्थितियों में, ऐसी रफ्तार से, औरन केवल आर्थिक बल्कि राजनीतिक, राष्ट्रीय आदि-आदिऐसे अन्तरविरोधों, टकरावों और महापरिवर्तनों के बीच से होकर आगे बढ़ रहा है कि एक विश्व-ट्रस्ट के अस्तित्व में आने से *काफी पहले ही*, राष्ट्रीय वित्तीय पूँजियों के ''अतिसाम्राज्यवादी'', विश्वव्यापी संलयन के घटित होने से पहले ही, साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में रूपान्तरित हो जायेगा।''

लेनिन (नि. बुखारिन के पैम्फलेट 'इम्पीरियलिज़्म ऐण्ड दि वर्ल्ड इकॉनमी' की भूमिका, दिसम्बर, 1915)

सोवियत संघ के विघटन के बाद, अमेरिकी साम्राज्यवादी शक्तिमत्ता की सर्वोच्चता की, उसकी भूमण्डलीय आक्रामकता, पैठ एवं विस्तार की, उसके नेतृत्व में सम्पूर्ण पश्चिम की नीतिगत आम सहमति की चर्चाएँ, पिछली शताब्दी के आखिरी दशक से ही प्रायः इस रूप में होती रही हैं मानो विश्व निर्णायक तौर पर, और अनुत्क्रमणीय रूप से, और तीव्र गति से, स्थायी एकलधुव्रीयता की ओर, एक एकाश्मी विश्व-पूँजीवाद बनने की ओर आगे बढ़ चला है (या लगभग ऐसा बन ही चुका है)। भूमण्डलीकरण के निराशावादी विरोधी और उत्साही समर्थकदोनों ही पूँजी के एक ऐसे एकल विश्व-साम्राज्य की कार्यप्रणाली और गतिकी के बारे में, व्याख्यान दे-देकर और शोधपत्र तथा पुस्तकें लिख-लिखकर गंभीर पूर्वानुमानों और दिलचस्प कल्पनाओं के अम्बार लगाते रहे हैं और यह काम अभी भी जारी है। विश्व-पूँजीवाद की संजटिल आर्थिक गतिकी के कुछ आयामों एवं पक्षों के असंतुलित-एकांगी पर्यवेक्षण एवं आधिभौतिक विश्लेषण के आधार पर बहुतेरे मार्क्सवादी भी पूँजी से राज्यसत्ता के ऐतिहासिक-भौतिक सम्बन्ध और राष्ट्र-राज्यों के विघटन या उनके शक्तिहीन एवं औपचारिक मात्र होते जाने की स्थापनाएँ देते रहे हैं। अमेरिकी नाभिक के इर्दगिर्द निर्मित एकाश्मी पश्चिमी केन्द्र और उसके चतुर्दिक उत्पीड़ित, कृषिप्रधान, पिछड़े पूँजीवादी या प्राक्पूँजीवादी संरचना वाले भूतपूर्व औपनिवेशिक-नवऔपनिवेशिक देशों की अवस्थिति के विश्व-मॉडल थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ दर्जनों अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत किए जा रहे हैं। एक ''उत्तर-साम्राज्यवादी'' अवस्था की प्रस्थापना भी नव उदारतावादी यूटोपिया के कुछ उत्तर आधुनिकतावादी-उत्तर मार्क्सवादी पैरोकारों द्वारा धड़ल्ले से प्रस्तुत की जा रही है।

इस लेख के विस्तार में जाने से पहले ही, आम पाठकों की सुविधा के लिए हम यह बात देना चाहते हैं कि हमारे निष्कर्ष उपरिचर्चा से एकदम अलग और काफी हद तक उलट हैं। यह सही है कि (i) अलग-अलग पश्चिमी देशों की आर्थिक शक्ति के अनुपात, (ii) विश्व-बाजार में उनकी दखल व अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों पर उनकी पकड़,

(iii) एक विश्व-मुद्रा के रूप में डालर की मौजूदगी, (iv) सोवियत संघ के विघटन के बाद की भू-राजनीतिक स्थिति और (v) अमेरिका की सर्वोच्च आर्थिक शक्ति तथा अमेरिकी सामरिक-औद्योगिक तंत्र की सर्वोच्चता को देखते हुए अमेरिकी साम्राज्यवाद की सर्वोच्चता आज भी निर्विवाद है और निकट भविष्य में इसे मिलने वाली चुनौतियों, नयी साम्राज्यवादी धुरियों के अस्तित्व में आने की सम्भावनाओं, अमेरिकी अर्थतंत्र की असाध्य बीमारियों एवं डालर की बढ़ती कमजोरियों आदि उपादानों के बावजूद, अमेरिकी चौधराहट और विश्व-मुद्रा के रूप में डालर की स्थिति बहुत जल्दी बदलने नहीं जा रही है। लेकिन इतना तय है कि साम्राज्यवादी विश्व की दरारें-दरकनें बढ़ती जा रही हैं। महाबली की मुश्किलें बढ़ती जा रही हैं। विश्व मुद्रा के रूप में डालर का पतन एक प्रबल सम्भावना बन चुका है, इसका समय भले ही तय न हो। अमेरिकी सर्वोच्चता की दृष्टि से विश्व की एकलध्रुवीयता विगत लगभग डेढ़ दशकों की (और आगे के कुछ वर्षों तक की भी) एक वक्ती वास्तविकता है, लेकिन साम्राज्यवादी विश्व या पूरे विश्व-पूँजीवाद की बढ़ती एकाश्मिता या एकलता एक नितान्त भ्रामक आभासी यथार्थ है। इसकी विपरीत गति भी साम्राज्यवाद के भीतर लगातार मौजूद रही है और अब तेजी से मुखर एवं उग्र होने की दिशा में उन्मुख है। गत शताब्दी के आखिरी दशक में भी, अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तरविरोध सतह के नीचे निरन्तर सक्रिय रहे थे, जो अब तेजी से मुखर हो रहे हैं। समय एक बार फिर, निर्णायक तौर पर, लेनिन के इस आकलन को सत्यापित करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है कि ''अति-साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में, यानी समाजवाद में, रूपान्तरित हो जायेगा।

निश्चय ही यह निकट भविष्य की बात नहीं है और इसका कोई टाइम-टेबुल भी नहीं बनाया जा सकता, लेकिन हम साम्राज्यवाद-विषयक लेनिन की मूल प्रस्थापनाओं के सत्यापन और नये परिवर्तनों के आकलन-विश्लेषण के आधार पर नये अन्तरविरोधों के उभरने-गहराने की प्रक्रिया, नये ध्रुवीकरणों-समीकरणों और उनकी नयी तार्किक परिणतियों की कुछ चर्चा अवश्य करेंगे। विश्व-पूँजीवाद का मूल स्थापत्य अपनी प्रकृति से ही एकाश्मी नहीं है और अब एक बार फिर इसका संरचनात्मक पुनर्गठन भी बहुध्रुवीयता के आधार पर होने की परिस्थितियाँ बन रही हैं। नयी साम्राज्यवादी धुरियों की निर्मिति सम्भावित है।

अन्तरविरोधों के अन्य धरातल भी हैं। विश्व-स्तर पर विनियोजित अधिशेष (सरप्लस एप्रोप्रियेटेड ऑन वर्ल्ड स्केल) में उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के हिसाब से बँटवारे की नवउदारवादी व्यवस्था इतनी अन्तरविरोधमुक्त भी नहीं है कि दूसरे पायदान पर खड़े पूर्वी यूरोप के देश व कुछ अन्य पूँजीवादी देश वफादार छोटे भाइयों जैसा और एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के पिछड़े पूँजीवादी देश स्वामिभक्त ''दलाल पूँजीपतियों'' जैसा व्यवहार करें। इस पद-सोपान-क्रम में अलग-अलग सोपानों के बीच मौजूद जो अन्तरविरोध पश्चिम की नव-उदारवादी आम सहमति के दौर में ह्रासमान या विलुप्तप्राय दीख रहे थे, वे भी अब कुछ विपरीत संकेत दे रहे हैं। स्वाभाविक है कि विश्व-बाजार में भागीदारी के मोलतोल और छीना-झपटी में दूसरे सोपान के पूँजीवादी देशों के शासक वर्ग इस या उस धुरी या धड़े से जुड़ने की कीमत वसूलें। साथ ही, साम्राज्यवाद-विरोधी किसी रैडिकल राष्ट्रीय मुक्ति-परियोजना के भागीदार बन सकने की ऐतिहासिक सम्भावना खो चुकने तथा सापेक्षतः एकीकृत विश्व-बाजार में कमजोर आर्थिक स्थिति की विवशताओं के बावजूद, तीसरी दुनिया, खासकर उसकी अगली कतारों के देशों के पूँजीपति विनियोजित अधिशेष में अपनी भागीदारी बढ़ाने के लिए यथासम्भव, स्थितियों का लाभ उठायें और दबाव बनायें, यह भी सर्वथा कल्पनीय है। उदारीकरण के दौर को तीसरी दुनिया के देशों की ''नयी गुलामी'' के रूप में देखना हास्यास्पद मूर्खतापूर्ण अनैतिहासिकता और आधिभौतिकता होगी। साम्राज्यवादियों के बीच के अन्तरविरोधों और विश्व-पूँजीवादी पद-सोपान-क्रम के अलग-अलग सोपानों के पूँजीपतियों के अन्तरविरोधों के साथ ही, पश्चिम से लेकर पूरब तक, उत्तर से लेकर दक्षिण तक, सबसे उन्नत से लेकर सबसे पिछड़े तकसभी देशों में श्रम और पूँजी के बीच, ध्रुवीकरण भी तीखा हो रहा है। सम्भावित तूफानों के केन्द्र अभी भी पूरब और दक्षिण में ही हैं, लेकिन अब पहले हमेशा की अपेक्षा तीव्र गति से इनकी लहर उत्तर और पश्चिम के शक्तिकेन्द्रों तक पहुँचने की स्थितियाँ निर्मित हो रही हैं और इसमें उसी नयी भूमण्डलीय व्यवस्था की आन्तरिक गति का योगदान बुनियादी है, जो साम्राज्यवाद की अभूतपूर्व आक्रामक आम सहमति की परिणति के रूप में अस्तित्व में आयी है।

हम अन्दरूनी संकटों के स्वतःविस्फोट से साम्राज्यवाद के पतन की कोई नियतत्ववादी सोच, या सर्वहारा की हरावल पाँतों के संगठित हुए बगैर श्रम और पूँजी के गहराते अन्तरविरोधों के चलते समाजवाद की विजय की कोई अराजकतावादी अथवा सामाजिक-जनवादी सोच के कतई विरोधी हैं। विश्व के राजनीतिक और आर्थिक पटल की कुछ प्रमुख घटनाओं-परिघटनाओं के मर्म एवं निहितार्थ की पड़ताल करते हुए तथा अमेरिकी वर्चस्व के सामने उपस्थित समस्याओं एवं चुनौतियों का विश्लेषण करते हुए हम विश्व स्तर पर वर्ग-शक्ति-संतुलन में बदलाव की दिशाओं-सम्भावनाओं की चर्चा करेंगे। साथ ही, हम विश्व-पूँजीवाद विषयक ऐसे कुछ भ्रामक एवं पराजयवादी

पर्यवेक्षणों-आकलनों-निष्कर्षों की भी चर्चा करेंगे जो सर्वहारा क्रान्ति की कतारों को किसी-न-किसी हद तक प्रभावित कर रहे हैं। यह सदी श्रम और पूँजी के बीच विश्व-ऐतिहासिक महासमर के एक नये और निर्णायक चक्र की सदी है। यह नयी विश्व सर्वहारा क्रान्ति की सदी है जिसकी शुरुआत पिछड़े पूँजीवादी देशों में नयी समाजवादी क्रान्तियों के रूप में सम्भावित हैयह हमारा ऐतिहासिक तर्क-आधारित आकलन है, एक नया यूटोपिया नहीं। लेख के अंत तक पहुँचते-पहुँचते हमारे इस आशावाद के कम से कम कुछ आधारभूत तर्क भी यदि पाठकों के सामने स्पष्ट हो जायें, तो हम अपने उद्देश्य में सफल हो जायेंगे।

यूरोप-अमेरिका से लेकर एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के देशों तक, जितनी भी संशोधनवादी कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं, वे सभी, विगत लगभग चौथाई सदी के दौरान साम्राज्यवाद की प्रकृति एवं कार्यप्रणाली में आये कतिपय बुनियादी परिवर्तनों को, थोड़ी बहुत हेर-फेर के साथ और प्रायः लक्षणों के पर्यवेक्षण के आधार पर स्वीकार करती हैं। वे इससे जुड़े बहस के बुनियादी मुद्दों तक प्रायः नहीं जातीं। जैसे, लेनिन द्वारा व्याख्यायित साम्राज्यवाद और आज के साम्राज्यवाद में अन्तरों की प्रकृति क्या है और यह किस हद तक गुणात्मक है तथा नयी विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा में इनके चलते किन बुनियादी/गैर बुनियादी परिवर्तनों की दरकार है! व्यावहारिक नतीजे के तौर पर वे केवल उदारीकरण और निजीकरण की निर्बाध प्रक्रिया के रास्ते में कुछ रोक खड़ी करने की बातें करती हैं तथा अतीत के कठिन संघर्षों से अर्जित मजदूरों के अधिकारों के अपहरण का विरोध करती हैं (हालाँकि इसके लिए भी व्यवहारतः वे कुछ नहीं कर पातीं)। ये संशोधनवादी पार्टियाँ विकल्प के तौर पर कीन्सवादी ''कल्याणकारी'' राज्य और राजकीय पूँजीवाद के गुजरे हुए जमाने की वापसी के आगे की कोई बात नहीं कर पातीं। भूमण्डलीकरण का इनका ''विरोध'' एकदम वैसा ही है, जैसा कि भाँति-भाँति के आर्थिक रोमांसवादियों का, या एन.जी.ओ. और डब्ल्यू.एस.एफ. वालों का या फिर रंग-बिरंगे निम्न पूँजीवादियों एवं नरोदवादियों के नये अवतारों का। साथ ही, चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के सूत्रधार देङपंथियों के नक्शेकदम पर चलते हुए ये संशोधनवादी, बाजार की शक्तियों की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए इनके साथ समाजवाद के तालमेल की भी बातें करते हैं और जहाँ कहीं भी सत्ता में भागीदारी का अवसर आता है तो ''बाजार समाजवाद'' की बातें करते हुए वे वास्तव में उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को ही लागू करते हैं। कुल मिलाकर, पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति और 'सेफ्टीवॉल्व' के रूप में संशोधनवादी पार्टियों की आज भी वही भूमिका है जो कार्ल काउत्स्की के जमाने से होती आयी है। भारत में माकपा, भाकपा और भाकपा (मा-ले) इसके प्रतिनिधि उदाहरण हैं और क्रान्तिकारी वाम के विघटित शिविर के बहुतेरे संगठन भी इसी दिशा में अग्रसर हैं।

साम्राज्यवादी विश्व की दरारें-दरकनें बढ़ती जा रही हैं। विश्व मुद्रा के रूप में डालर का पतन एक प्रबल सम्भावना बन चुका है, इसका समय भले ही तय न हो। अमेरिकी सर्वोच्चता की दृष्टि से विश्व की एकलध्रुवीयता एक वक्ती वास्तविकता है, लेकिन साम्राज्यवादी विश्व या पूरे विश्व-पूँजीवाद की बढ़ती एकाश्मिता या एकलता एक नितान्त भ्रामक आभासी यथार्थ है। इसकी विपरीत गति भी साम्राज्यवाद के भीतर लगातार मौजूद रही है और अब तेजी से मुखर एवं उग्र होने की दिशा में उन्मुख है। समय निर्णायक तौर पर, लेनिन के इस आकलन को सत्यापित करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है कि ''अति-साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में, यानी समाजवाद में, रूपान्तरित हो जायेगा।

जहाँ तक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों की बात है, तो उनमें से बहुतेरे तो नये विश्व परिदृश्य के बदलते यथार्थ पर चर्चा तक गवारा नहीं करते। कुछ अन्य एड़ी-चोटी का पसीना एक करके और तथ्यों के मनमाने चयन एवं भोथरे कठमुल्ला तर्कों के द्वारा यह सिद्ध करने में व्यस्त रहते हैं कि जो भी परिवर्तन हुए हैं वे मात्र आभासी या गौण हैं, साम्राज्यवाद आज भी वैसा ही है जैसा कि लेनिन के जमाने में था और विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा वही है जो चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत आम दिशा विषयक दस्तावेज और *'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे'*, शीर्षक लेख (1965) में बतायी गयी थी। ऐसी किसी भी सच्चाई को वे देखना नहीं चाहते जिससे नयी जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का उनका चौखटा चरमरा उठे। उन्हें लगता है कि ऐसा होते ही वे लेनिन और माओ के रास्ते से डिग जायेंगे। कुछ ऐसे भी हैं जो साम्राज्यवादी निर्बाध शोषण और निर्बन्ध आक्रामकता के इस नये दौर को ''उपनिवेशवाद की वापसी'' मानते हैं। एक तीसरी उपधारा उनकी है जो पूँजी के भूमण्डलीकरण की नयी परिघटना की कई अभिलाक्षणिकताओं की पहचान और व्याख्या करते हुए निठल्ले मुक्त चिन्तकों के झुण्ड में शामिल होकर चिन्तन के मुक्त आकाश में विचरण करने लगते हैं। इन संगठनों की अलग-अलग अवस्थितियों की आलोचना एक अलग चर्चा का विषय है।

यहाँ अपनी बात सकारात्मक रूप से रखने से पहले हम मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों की एक धारा द्वारा प्रस्तुत कुछ ऐसी प्रातिनिधिक अवस्थितियों की चर्चा और आलोचना करेंगे जो ऊपरी तौर पर गम्भीर और तर्कसंगत प्रतीत होने के चलते क्रान्तिकारी वाम धारा के भी एक हिस्से को तथा विश्व परिस्थितियों के गम्भीर जिज्ञासु अध्येताओं को भी प्रभावित कर रही हैं। हम यहाँ **प्रभात पटनायक** और **एजाज़ अहमद** की भूमण्डलीकरण-विषयक कुछ स्थापनाओं की आलोचना

रखेंगे, पर ये सिर्फ उनकी ही स्थापनाएँ नहीं हैं। ऐसी ही, या इन्हीं से मिलती-जुलती स्थापनाएँ दुनिया के कई अन्य मार्क्सवादी विश्लेषक भी प्रस्तुत कर रहे हैं। चूँकि ये स्थापनाएँ साम्राज्यवाद-विषयक बुनियादी मान्यताओं से जुड़ी हुई हैं और इस नतीजे तक पहुँचती हैं कि हम आज लेनिन के युग से एक भिन्न युग में जी रहे हैं, अतः इनकी चर्चा बेहद जरूरी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस आलोचना के जरिए हमारी अपनी अवस्थिति भी स्पष्ट होती चलेगी।

प्रभात पटनायक और एजाज अहमद साम्राज्यवाद की प्रकृति और कार्यप्रणाली में आये कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों को सही रूप में रेखांकित करते हैं, लेकिन दोनों ही, अलग-अलग ढंग से आज के साम्राज्यवाद की जो तस्वीर पेश करते हैं, वह काउत्स्की द्वारा कल्पित अतिसाम्राज्यवाद या अधिसाम्राज्यवाद (अल्ट्रा इम्पीरियलिज़्म या सुपर इम्पीरियलिज़्म) से काफी मिलती-जुलती है, बल्कि सारतः वैसी ही है। इसलिए इन पर चर्चा जरूरी है, हालाँकि उनके कुछ और भी पर्यवेक्षण और निष्कर्ष ऐसे हैं, जिनसे निश्चय ही सहमत नहीं हुआ जा सकता।

विगत लगभग दस वर्षों के दौरान प्रभात पटनायक ने भूमण्डलीकरण के बारे में काफी कुछ लिखा है और महत्वपूर्ण लिखा है। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण निबंधों में से एक है 2002 में लिखित *''ग्लोबलाइज़ेशन ऐण्ड दि इमर्जिंग ग्लोबल पॉलिटिक्स'* (*'दि रिट्रीट टु अनफ्रीडम : एसेज़ ऑन दि इमर्जिंग वर्ल्ड ऑर्डर'* नामक संकलन, तूलिका बुक्स, दिल्ली, 2003)। इसमें उनकी मूल प्रस्थापना यह है कि वित्तीय पूँजी का वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय चरित्र लेनिन के जमाने से काफी अलग है। लेनिन के समय में वित्तीय पूँजी का मतलब था बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी का मिलकर एक हो जाना, जबकि आज वित्तीय पूँजी का अपना स्वायत्त अस्तित्व है जिसकी उत्पादन में नाममात्र की दिलचस्पी है और जो सिर्फ तीव्र भूमण्डलीय संचलन के जरिए, सट्टेबाजी से अर्जित त्वरित लाभों से ही सरोकार रखती है। आज भूमण्डलीकरण की जो परिघटना पूँजी के अभूतपूर्व निर्बाध-त्वरित विश्वव्यापी संचलन के रूप में घटित हुई है, वह उत्पादन में लगी पूँजी का नहीं बल्कि इसी वित्तीय पूँजी का भूमण्डलीकरण है। लेनिन के समय की वित्तीय पूँजी और वित्तीय अल्पतंत्र सारतः राष्ट्र-आधारित थे, जबकि समकालीन वित्तीय पूँजी अपनी राष्ट्रीय जड़ों के बावजूद उससे विच्छिन्न है, उसका राष्ट्रीय मूल उसके व्यवहार को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं करता, और इसका एक ऐसा अन्तरराष्ट्रीय चरित्र बन गया है जो लेनिनवादी निहितार्थों से सर्वथा भिन्न है। लेनिन के जमाने में विभिन्न साम्राज्यवादी राष्ट्रों की वित्तीय पूँजियों की सघन एवं तीक्ष्ण प्रतिस्पर्धा अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के रूप में प्रकट एवं प्रतिफलित होती थी, जबकि आज वित्तीय पूँजी के 'अन्तरराष्ट्रीय' चरित्र के चलते साम्राज्यवादी देशों के बीच की प्रतिस्पर्धा बहुत अधिक शान्त कर दी गयी है। इन अन्तरों के चलते, लेनिन ने अपने समय के संक्रान्ति काल (कंजंक्चर) के परिघटना-समुच्चय की पड़ताल करते हुए परस्पर-प्रतिस्पर्धारत जिन सुदृढ़ीकृत, अस्तिभूत, कठोर, साम्राज्यवादी राष्ट्र-राज्यों की चर्चा की है, वे वर्तमान वित्तीय पूँजी की हितपूर्ति के सन्दर्भ में अप्रासंगिक हो चुके हैं। इसके लिए राज्य व्यवस्था की एक नयी संरचना अपेक्षित है और वास्तव में वह अस्तित्व में आने भी लगी है। जाहिर है कि इस नयी राज्य व्यवस्था का एक भूमण्डलीय चरित्र ही होगा, यानी काफी हद तक यह एक ''विश्व अधि-राज्य'' ('वर्ल्ड सुपर स्टेट) होगा। यह अधि-राज्य मौजूद राष्ट्र-राज्यों का उन्मूलन नहीं करेगा, बल्कि उन्हीं से उद्‌भूत होगा और उन पर अध्यारोपित (सुपरइम्पोज़्ड) होगा। किसी भी संघीय ढांचे में केन्द्र और प्रान्तों की संस्थाओं की साथ-साथ मौजूदगी की ही तरह राष्ट्र-राज्यों की मौजूदा संस्थाओं के साथ विश्व अधि-राज्य की अधि-संस्थाओं का सहअस्तित्व कायम रहेगा। ऐसी अधि-संस्थाओं के रूप में विश्व व्यापार संगठन और अन्तरराष्ट्रीय युद्ध-अपराध न्यायाधिकरण जैसी संस्थाएँ पहले से ही मौजूद हैं। इस नये विश्व अधि-राज्य के अन्तर्गत कुछ थोड़े से राष्ट्र-राज्य एकजुट होकर अधिकांश (कमजोर) राष्ट्र-राज्यों की सम्प्रभुता का अपहरण कर लेंगे। निस्सन्देह इस नये विश्व अधि-राज्य का नेतृत्व अमेरिका के ही हाथों में रहने की संभावना है, लेकिन वित्तीय पूँजी के अन्तरराष्ट्रीय चरित्र के अनुरूप यह सभी उन्नत पूँजीवादी देशों की आम सहमति की नीतियों को लागू करेगा, इसके अन्तर्गत सभी उन्नत पूँजीवादी देशों के पूँजीपति ऐक्यबद्ध होकर काम करेंगे और इसे तीसरी दुनिया के देशों के पूँजीवादी संस्तरों का भी समर्थन प्राप्त होगा। यह नया विश्व अधि-राज्य उच्चतर धरातल पर राष्ट्रीय राज्य संस्थाओं की प्रतिकृति नहीं होगा, बल्कि साम्राज्यवादी राष्ट्र-राज्यों का एक ऐक्यबद्ध समूह होगा। प्रभात पटनायक उन लोगों से अपनी असहमति प्रकट करते हैं जो अमेरिकी वर्चस्व को उभरते विश्व अधि-राज्य की प्रमुख अभिव्यक्ति मानते हैं और अमेरिकी राज्य को प्रच्छन्न विश्व अधि-राज्य के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार, सुस्पष्ट निर्विवाद अमेरिकी वर्चस्व के काल या *'पैक्स अमेरिकाना'* के काल के मुकाबले या अमेरिकी ''अधिसाम्राज्यवाद'' के दौर के मुकाबले विश्व अधि-राज्य का दौर आगे का दौर है और यही दौर अब शुरू हो रहा है जब

ये संशोधनवादी, बाजार की शक्तियों की अपरिहार्यता को स्वीकारते हुए इनके साथ समाजवाद के तालमेल की भी बातें करते हैं और जहाँ कहीं भी सत्ता में भागीदारी का अवसर आता है तो ''बाजार समाजवाद'' की बातें करते हुए वे वास्तव में उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को ही लागू करते हैं। कुल मिलाकर, पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति और 'सेफ्टीवॉल्व' के रूप में संशोधनवादी पार्टियों की आज भी वही भूमिका है जो कार्ल काउत्स्की के जमाने से होती आयी है।

सभी साम्राज्यवादी राष्ट्र एकजुट होकर विश्व अधि-राज्य के जरिए अपनी नीतियाँ लागू करेंगे क्योंकि वित्तीय पूँजी के वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय चरित्र का यही तकाजा है। यह विश्व अधि-राज्य अमेरिकी नेतृत्व में विकसित पूँजीवादी देशों के पूँजीपतियों के हितों को सर्वोपरि रखते हुए पूरी दुनिया के पूँजीपतियों के हितों की नुमाइंदगी करेगा और पूरी दुनिया की जनता पर प्रत्यक्ष तानाशाही जैसा शासन कायम करेगा। संक्षेप में, विश्व अधि-राज्य की प्रभात पटनायक की यही अवधारणा है।

अब हम संक्षेप में आज के साम्राज्यवाद के बारे में एजाज अहमद की स्थापनाओं की चर्चा करेंगे जो सर्वाधिक प्रातिनिधिक रूप में उनके निबंध *'दि इम्पीरियलिज़्म ऑफ अवर टाइम'* (*'ईरान, अफगानिस्तान ऐण्ड दि इम्पीरियलिज़्म ऑफ अवर टाइम'* संकलन, लेफ्टवर्ड बुक्स, दिल्ली 2004) में सामने आई हैं। हमारे समय की वित्तीय पूंजी के अन्तरराष्ट्रीय चरित्र की जो पहले से भिन्न विशिष्टता है, उसे एजाज अहमद ने भी प्रभात पटनायक की ही तरह चिह्नित किया है जो मूलतः सही है। वे बताते हैं कि राष्ट्रीय पूँजियाँ आज एक दूसरे में इस तरह पैठ और मिल गयी हैं कि किसी एक राष्ट्र-राज्य में काम करने वाली पूँजी अलग-अलग अंशों में राष्ट्रीय और राष्ट्रपारीय पूँजी के सम्मिलन से निर्मित है। दूसरी बात, उत्पादक पूँजी पर वित्तीय पूँजी का प्रभुत्व आज जिस सीमा तक कायम हो चुका है, उसकी कल्पना लेनिन की 'पूँजी के निर्यात' की थीसिस के जमाने में या लगान-उपजीवियों (रेण्टियर्स) की लूटमार के बारे में कीन्स की चेतावनी के समय में की तक नहीं गयी थी। तीसरी विशिष्टता वे यह बताते हैं कि माल बाजारों से लेकर वित्त के संचलन तक हर चीज इतने व्यापक रूप से भूमण्डलीकृत हो गयी है कि भूमण्डलीकृत सामारिक क्षमता सहित एक भूमण्डलीय राज्य स्वयं व्यवस्था की एक वस्तुगत आवश्यकता हो गयी है। इस भूमण्डलीकय राज्य के वास्तव में अस्तित्व में आने की सम्भावना या समय के बारे में एजाज अहमद इससे अधिक कुछ नहीं कहते, लेकिन इतना जरूर कहते हैं कि विश्व बैंक, विश्व-व्यापार संगठन, अमेरिकी राज्य और अन्य राष्ट्र-राज्यों के स्थानीय प्रबंधकों की व्यापक आम सहमति की एक 'टाइट फिट' प्रणाली वर्तमान भूमण्डलीय विश्व व्यवस्था की वस्तुगत आवश्यकता को आज पूरा करने का काम कर रही है। औपनिवेशिक महाप्रभुओं की परस्पर प्रतिस्पर्धा के अन्त, तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ प्रोजेक्ट के अवसान, समाजवादी शिविर के पतन एवं विघटन तथा अन्य साम्राज्यवादी देशों पर अमेरिका की निर्णायक श्रेष्ठता एवं नेतृत्व स्थापित होने के बाद यह नयी व्यवस्था कायम हुई है जिसमें पूरी दुनिया पर अमेरिका का निर्णायक प्रभुत्व कायम है। अमेरिका की 'इम्पीरियल' सम्प्रभुता ने सभी राष्ट्र-राज्यों की सम्प्रभुता को मातहत बना लिया है। सभी साम्राज्यवादियों की आम सहमति की नीतियाँ अमेरिकी नेतृत्व में लागू होती हैं और यदि कोई मतभेद हो तो अन्य साम्राज्यवादी देशों को झुकना पड़ता है और अंततः अमेरिकी हितों की नीतियों को स्वीकार करना पड़ता है। वाशिंगटन और न्यूयार्क कमोबेश दुनिया की जुड़वाँ राजधानियों का दर्जा हासिल कर चुके हैं। इस अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती मिलने की दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं है। अमेरिका की स्थिति आज भूमण्डलीय साम्राज्य के केन्द्र की है। मुख्य पूँजीवादी देशों और क्षेत्रों में राष्ट्रीय पूँजियों के (विशेषकर वित्त के क्षेत्र में) पारस्परिक अन्तर्भेदन, और उन्नत देशों की राष्ट्रीय पूँजियों के पृथक अस्तित्व के अभाव के चलते आज अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा सम्भव नहीं है। बेशक प्रतियोगिता पूँजीवादी राज्य व्यवस्था की प्रकृति में अन्तर्निहित होती है, और विश्व मुद्रा बनने के लिए यूरो की डालर से प्रतियोगिता तथा बाजार में यूरोपीय संघ और अमेरिका की प्रतियोगिता के रूप में आज इसे देखा भी जा सकता है, लेकिन यह प्रतियोगिता लेनिनवादी अर्थों में 'प्रतिस्पर्धा' नहीं बन सकती। अर्थव्यवस्थाओं का पारस्परिक अन्तर्भेदन इसकी इजाजत नहीं देता और अमेरिका तथा यूरोपीय संघ के बीच या अमेरिका तथा जापान के बीच सामरिक शक्ति के भारी अन्तर के चलते भी यह सम्भव नहीं है। एजाज अहमद के अनुसार सौ साल पहले के संक्रान्ति काल (कंजंक्चर) की परिस्थितियों के बारे में लेनिन के विश्लेषण को खींचकर आज तक नहीं लाया जा सकता। अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के बारे में लेनिन की थीसिस पहले विश्वयुद्ध की आसन्नता और युद्ध भड़क उठने की स्थिति में सामाजिक जनवादी पार्टियों के रणनीतिक कार्यभारों से जुड़ी हुई थी। वैसी स्थिति आज नहीं है। साथ ही यह थीसिस 'सबसे कमजोर कड़ी' की धारणा, क्रान्ति में मजदूर-किसान संश्रय पर आधारित रणनीति और राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न से भी जुड़ी हुई थी। अतः यह आज प्रासंगिक नहीं रह गयी है। इस तरह, एजाज अहमद स्पष्टतः विश्व अधि-राज्य को जन्म लेते तो नहीं देखते लेकिन वे एक ऐसे एकलध्रुवीय साम्राज्यवाद वाली भूमण्डलीय व्यवस्था को जरूर देखते हैं, जिसके केन्द्र में अमेरिका है, जिसमें अमेरिकी 'इम्पीरियल' सम्प्रभुता सभी देशों की सम्प्रभुता

जहाँ तक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट संगठनों की बात है, तो उनमें से बहुतेरे तो नये विश्व परिदृश्य के बदलते यथार्थ पर चर्चा तक गवारा नहीं करते। कुछ अन्य एड़ी-चोटी का पसीना एक करके और तथ्यों के मनमाने चयन एवं भोथरे कठमुल्ला तर्कों के द्वारा यह सिद्ध करने में व्यस्त रहते हैं कि जो भी परिवर्तन हुए हैं वे मात्र आभासी या गौण हैं, साम्राज्यवाद आज भी वैसा ही है जैसा कि लेनिन के जमाने में था और विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम दिशा वही है जो चीनी पार्टी द्वारा 1963 में प्रस्तुत आम दिशा विषयक दस्तावेज और *'लोकयुद्ध की विजय अमर रहे'*, शीर्षक लेख (1965) में बतायी गयी थी। ऐसी किसी भी सच्चाई को वे देखना नहीं चाहते जिससे नयी जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का उनका चौखटा चरमरा उठे। उन्हें लगता है कि ऐसा होते ही वे लेनिन और माओ के रास्ते से डिग जायेंगे।

को अधीनस्थ बना चुकी है, जिसमें अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और साम्राज्यवादी युद्धों की सम्भावना का अन्त हो चुका हे। प्रकारान्तर से एजाज अहमद भी एक तरह के अधिसाम्राज्यवाद और अधिराज्य की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं, लेकिन प्रभात पटनायक से अलग उनका अधिराज्य *'पैक्स अमेरिकाना'* वाला है, जिसमें अमेरिकी पूँजी के हितों की सर्वोपरिता है। वे साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच प्रतियोगिता को भी स्वीकार करते हैं लेकिन कहते हैं कि यह प्रतियोगिता प्रतिस्पर्धा में परिणत नहीं हो सकती। इस रूप में दोनों विद्वान परस्पर एकमत हैं कि अन्तरसाम्राज्यवादी अन्तरविरोध को दोनों ही आज की दुनिया के एक बुनियादी अन्तरविरोध के रूप में मान्यता नहीं देते। इस तरह न कहते हुए, आधा-अधूरा कहते हुए और घुमा-फिराकर कहते हुए, दोनों विद्वानों का विचार यही निकलकर आता है कि यह साम्राज्यवाद लेनिन के समय से अलग एक ''नया साम्राज्यवाद'' है। ऐसा कहते हुए एक एकदम काउत्स्की से चिपककर खड़ा हो जाता है तो दूसरा उसकी बाँह पकड़कर झूल जाता है।

अब हम यह देखने की कोशिश करें कि मार्क्सवाद के इन धुरंधर पण्डितों का पर्यवेक्षण सही है या लेनिन का यह आकलन कि एक अति साम्राज्यवादी अवस्था में प्रवेश से पहले ही साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में रूपान्तरित हो जायेगा।

सबसे पहले, हम मार्क्सवादी ज्ञान-धुरीण द्वय की इस मान्यता को लें कि लेनिन ने लगभग एक सदी पहले के संक्रान्ति काल की जो व्याख्या की थी, वह आज की परिस्थितियों पर लागू नहीं की जा सकती क्योंकि हम एक सर्वथा अलग युग में जी रहे हैं। यह एक किस्म के अतिसाम्राज्यवाद या अधिसाम्राज्यवाद का युग हैदोनों बंधुओं ने साफ-साफ यह कहने से परहेज किया है, पर उनकी सारी व्याख्या (हालाँकि कुछ अलग-अलग ढंग से) यही कहती है। लेनिन की साम्राज्यवाद-विषयक थीसिस के दो पहलू हैं। एक तो साम्राज्यवाद के युग में पहली बार सामने उपस्थित विशिष्ट संक्रान्तिकाल (कंजंक्चरल) परिघटना के सभी पहलुओं को समझने की कोशिश करते हुए अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के कार्यभारों के निरूपण का पहलू है। लेकिन ऐसा तभी सुसंगत ढंग से किया जा सकता है जब पूँजीवाद की प्रकृति में ऐतिहासिक तौर पर आये हुए गुणात्मक परिवर्तन को, पूँजीवाद की नयी अवस्था को, इसकी संरचना एवं कार्य प्रणाली को, इसकी अर्थनीति और राजनीति को समझा जाये। यह व्यापक परिप्रेक्ष्य लेनिन की साम्राज्यवाद-विषयक थीसिस का दूसरा पहलू है, जो कतिपय आंशिक परिवर्तनों के बावजूद (क्योंकि जीवन में किसी महान समाज-वैज्ञानिक की सटीकतम व्याख्या भी ऐसी नहीं हो सकती जो भावी समस्त संभावित परिवर्तनों का हूबहू पूर्वानुमान लगा ले) मूलतः और मुख्यतः तब तक प्रासंगिक बना रहेगा जब तक विश्व पूँजीवाद का अस्तित्व कायम रहेगा। अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा साम्राज्यवाद के युग में विश्व पूँजीवाद की एक बुनियादी अभिलाक्षणिकता है, जिसका विस्फोट समय-समय पर युद्धों के रूप में होता रहेगा। यदि आज ऐसा नहीं रह गया है, तब तो निश्चय ही साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम अवस्था नहीं है, बल्कि इसके आगे का भी एक (या एकाधिक) युग कल्पनीय है। तब तो हमें लेनिन की साम्राज्यवाद-विषयक थीसिस के किसी एक या दो पहलू पर नहीं, बल्कि उसके बुनियादी तर्क पर ही पुनर्विचार करना होगा। लेकिन वास्तव में ऐसा है नहीं। आगे हम देखेंगे कि साम्राज्यवाद का एकाश्मी ढाँचा या एकलध्रुवीयता और एक विश्व अधिराज्य का उद्भव मात्र एक मिथ्याभास है। यह क्रियाविच्छिन्न ज्ञानातिरेक से उद्भूत मतिभ्रम है। अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का सदा-सर्वदा के लिए विलोपन मात्र एक अटकल है, यह अकादमिक मार्क्सवाद की हाँड़ी में पकाया गया दिलचस्प ख़याली पुलाव मात्र है।

लेकिन इस चर्चा में जाने से पहले न्यायसंगत यही होगा कि इस तथ्य को स्वीकार किया जाये कि विगत लगभग चौथाई शताब्दी के दौरान अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की संरचना, प्रकृति ओर कार्यप्रणाली में निस्सन्देह कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिन्हें मात्र आभासी या परिमाणात्मक नहीं माना जा सकता। ये परिवर्तन निश्चय ही मूलभूत हैं। ये आंशिक गुणात्मक परिवर्तन हैं, जिन्हें प्रभात पटनायक और एजाज अहमद ने (और कुछ अन्य मार्क्सवादी विद्वानों ने भी) ठीक ही रेखांकित किया है। इनमें से सबसे पहले जिस फर्क की चर्चा की जानी चाहिए, वह है वित्तीय पूँजी के चरित्र में आने वाला बुनियादी परिवर्तन। लेनिन ने बैंक पूँजी और औद्योगिक पूँजी के मिलकर एक हो जाने के चलते वित्तीय पूँजी के उद्भव की प्रक्रिया को रेखांकित किया था। आज की वित्तीय पूँजी न केवल पहले की अपेक्षा उत्पादक पूँजी पर अत्यधिक प्रभुत्व कायम किये हुए है, बल्कि यह एक स्वायत्त चरित्र ग्रहण कर चुकी है। वास्तविक उत्पादन के बजाय इसकी दिलचस्पी केवल त्वरित भूमण्डलीय आवाजाही के सहारे जुएबाजी/सट्टेबाजी से त्वरित लाभ अर्जित करने में है, जिसके चलते वास्तविक उत्पादन ''जुआघरों का उपोत्पाद'' बनकर रह गया है। फलतः गुब्बारे की तरह फूलता हुआ और पारे की तरह अस्थिर एक ऐसा वित्तीय तंत्र अस्तित्व में आया है, जैसा पहले कभी नहीं था।

दुनिया भर में आवाजाही करती पूँजी का एक बहुत छोटा हिस्सा विनिर्माण और कच्चे माल के दोहन जैसी उत्पादक गतिविधियों में लगा है। सबसे बड़ा हिस्सा सट्टेबाजी में और दूसरे क्रम में विविध अनुत्पादक गतिविधियों

(जैसे विज्ञापन और मनोरंजन उद्योग) में लगा हुआ है। सीमाओं के आर-पार होने वाले कुल पूँजी-प्रवाह का मात्र 2 प्रतिशत व्यापार-सम्बन्धित है। यानी भूमण्डलीकरण केवल वित्तीय पूँजी का हुआ है, उत्पादक पूँजी का नहीं। पूँजीवाद ने जब साम्राज्यवाद की अवस्था में प्रवेश किया था तो अर्थव्यवस्था की 'कमाण्डिंग हाइट्स' पर वित्तीय पूँजी का नियंत्रण कायम हो गया था, लेकिन वित्त तब भी उत्पादन से सम्बद्ध था, उससे स्वतंत्र नहीं था। सट्टेबाजी तब भी थी, लेकिन उसका अस्तित्व वास्तविक उत्पादन की लहर पर एक बुलबुले के समान था। आज स्थिति इसके एकदम उलट है। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, खासकर अन्तिम चतुर्थांश में हुए परिवर्तनों के बाद पूँजी-संचय वास्तविक उत्पादन का बुनियादी कारक-संकेतक न होकर, ठहराव पर पलने वाली एक विध्वंसक शक्ति और एक भ्रमोत्पादक परिघटना बन गया है। लेकिन यह लेनिन के जमाने की अपेक्षा एक नयी परिघटना भले ही हो, अंतिम नतीजे के तौर पर इससे यही सिद्ध होता है कि साम्राज्यवाद आज पहले से भी कई गुना अधिक परजीवी, परभक्षी, मरणोन्मुख और मानवद्रोही चरित्र ग्रहण कर चुका है।

दूसरा बुनियादी परिवर्तन यह हुआ है कि लेनिन के समय में वित्तीय पूँजी और वित्तीय अल्पतंत्र मूलतः राष्ट्र-आधारित या राष्ट्र-राज्य के साथ घनिष्ठता से जुड़े हुए थे। आज अपने सुस्पष्ट राष्ट्रीय मूल के बावजूद यह पहले से गुणात्मक रूप से भिन्न अन्तरराष्ट्रीय चरित्र अपना चुके हैं। राष्ट्रीय पूँजियाँ परस्पर इस तरह से अन्तर्ग्रंथित हो गयी हैं कि क्षेत्र-विशेष में सक्रिय पूँजी राष्ट्रीय और राष्ट्रपारीय पूँजी से संघटित हैं। लेकिन हमारे मतभेदों की यहीं से शुरुआत होती है। प्रभात पटनायक और एजाज अहमद के अनुसार, वित्तीय पूँजी के इस नये अन्तरराष्ट्रीय चरित्र ने साम्राज्यवादी देशों के बीच हितों की ऐसी साझेदारी और ऐसी भू-राजनीति को जन्म दिया कि उन्नत पूँजीवादी राष्ट्र-राज्यों के बीच टकरावों के विस्फोटों की सम्भावना समाप्त हो गयी है, अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतियोगिता का शमन हो गया है और एक विश्व-अधिराज्य विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की एक वस्तुगत जरूरत बन गया है। हमारे विचार से ऐसा कत्तई नहीं हुआ है। अपने एकरेखीय गैरद्वंद्वात्मक तर्क-पद्धति के चलते दोनों विद्वान इस गलत नतीजे तक पहुँचे हैं कि दुनिया उन्हें सारतः वैसी ही दीखने लगी है, जैसी कार्ल काउत्स्की ने कल्पना की थी।

वित्तीय पूँजी के नये अन्तरराष्ट्रीय चरित्र के आधार पर, किसी भी रूप में, दूरगामी तौर पर या तात्कालिक तौर पर, एक विश्व-अधिराज्य के अस्तित्व में आने की सोच नितान्त अनर्गल और बचकानी है, क्योंकि वित्तीय पूँजी की सभी इकाइयाँ (या सभी साम्राज्यवादी देशों की वित्तीय पूँजी की सभी इकाइयाँ न तो (एक विश्व ट्रस्ट जैसी किसी आर्थिक अधिसंस्था या अधिनियम में) मिलकर एक हो गयी हैं, न ही एक-दूसरे के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व बनाये रखकर शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता कर रही हैं। उनके बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्धा का परिवेश वित्तीय-औद्योगिक जगत को लगातार अस्थिर और सरगर्म बनाये हुए है। हर वर्ष अमेरिका-यूरोप-जापान से लेकर एशिया-अफ्रीका-लाातिन अमेरिका तक सैकड़ों ऐसी घटनाएं घटती हैं कि एक वित्तीय-औद्योगिक घराना या एक बैंक दूसरे घराने या बैंक को अपने में मिला लेता है या निगल जाता है तथा सैकड़ों घरानों का दिवाला पिट जाता है। एकाधिकारण की यह दिशा किसी विश्व ट्रस्ट के निर्माण की सम्भावना को नहीं, बल्कि मुट्ठी भर खिलाड़ियों के बीच और भी अधिक गलाकाटू प्रतिस्पर्धा को जन्म दे रही है। साम्राज्यवाद के विश्लेषण के सन्दर्भ में लेनिन और काउत्स्की की तर्क-प्रणाली में एक बुनियादी फर्क यह था कि लेनिन एकाधिकारीकरण की प्रक्रिया की परिणति मुट्ठी भर एकाधिकारी घरानों के बीच और अधिक तीखी प्रतिस्पर्धा के रूप में देखते थे जबकि काउत्स्की एक एकाश्मी साम्राज्यवाद के निर्माण तक पहुंचने के बाद इस प्रतिस्पर्धा के अन्त और शान्ति स्थापना की कल्पना कर रहा था। आज साम्राज्यवादियों के बीच चिरस्थायी शान्ति और एकता की स्थापना की बातें चाहे जिस रूप में भी हो रही हों, उनके अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और प्रतिगामी मर्म को समझने के लिए हमें इस विषय पर कुछ और विस्तार से चर्चा करनी होगी।

प्रभात पटनायक और एजाज अहमद साम्राज्यवाद की प्रकृति और कार्यप्रणाली में आये कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों को सही रूप में रेखांकित करते हैं, लेकिन दोनों ही, अलग-अलग ढंग से आज के साम्राज्यवाद की जो तस्वीर पेश करते हैं, वह काउत्स्की द्वारा कल्पित अतिसाम्राज्यवाद या अधिसाम्राज्यवाद (अल्ट्रा इम्पीरियलिज़्म या सुपर इम्पीरियलिज़्म) से काफी मिलती-जुलती है, बल्कि सारतः वैसी ही है।

साम्राज्यवाद की सर्वाधिक विशिष्ट अभिलाक्षणिकता के रूप में लेनिन ने माल-पूँजी के निर्यात (जो वाणिज्यिक पूँजीवाद और स्वतंत्र प्रतियोगिता वाले औद्योगिक पूँजीवाद के युग से ही जारी था) के साथ-साथ मुद्रा-पूँजी और उत्पादक पूँजी के निर्यात की प्रवृत्ति के शुरू होकर प्रमुख महत्व ग्रहण कर लेने की परिघटना पर विशेष बल दिया था। पूँजी के 'संचलन' की जगह 'निर्यात' शब्द के इस्तेमाल का कारण यह था कि साम्राज्यवाद एक ऐसी दुनिया में विश्व बाजार का निर्माण कर रहा था, जो देशों में विभाजित थी। राष्ट्रीय स्तर पर, या देशों के भीतर, तब तक पूँजी के संचलन की जो गतिकी थी, अन्तरराष्ट्रीय संचलन से बुनियादी तौर पर उसमें कोई बुनियादी फर्क जाहिरा तौर पर नहीं आना था। मात्र देशों की सीमाओं-और चेकपोस्टों को पार करने से पूँजी की बुनियादी कार्य-प्रणाली में जाहिरा तौर पर कोई परिवर्तन नहीं आना था। लेकिन पूँजीवादी समाज विषयक अमूर्त सूत्रों को देशों में विभाजित दुनिया पर, जिसे विश्वव्यापी प्रसार की अपनी अन्तर्निहित प्रकृति के हिसाब से पूँजी अब एक विश्व बाजार में ढाल

रही थी (और मौजूद दुनिया को बदलती हुई खुद भी बदल रही थी), लागू करते समय, पूँजी की मूल गति के नये रूपों को और पूँजीवादी राजनीति के नये आयामों को लाजिमी तौर पर सामने आना ही था। पूँजी राज्य के समर्थन के बिना काम नहीं करती। राष्ट्रीय बाजारों में, राष्ट्र-राज्यों की एक भूमिका थी। इजारेदार पूँजीवाद के युग में, राष्ट्र-राज्यों की भूमिका बदलनी लाजिमी थी, क्योंकि विश्व बाजार में वित्तीय पूँजी की कई इकाइयों एवं धड़ों के साथ-साथ उनसे सम्बद्ध राष्ट्र-राज्यों को भी एक-दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया करनी थी। विश्व बाजार में पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा ने पूँजीवादी राज्यों के बीच दो धरातलों पर राजनीतिक टकरावों की जमीन तैयार की। एक, साम्राज्यवादी देशों के राष्ट्र-राज्यों के बीच टकराव और दूसरा, साम्राज्यवादी देशों की राज्यसत्ता और उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों या नाम मात्र आजादी वाले देशों के बुर्जुआ वर्ग या निर्माणाधीन/नवोदित राष्ट्रों/राष्ट्रीयताओं के बीच टकराव। इन दोनों अन्तर्सम्बन्धित अन्तरविरोधों का विश्लेषण करते हुए लेनिन ने एक ओर अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की और दूसरी ओर राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न की सांगोपांग विवेचना प्रस्तुत की। पहले पक्ष की विवेचना करते हुए लेनिन ने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी नियमों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद के युग में पूँजी संचय की प्रक्रिया और उसमें निहित प्रतियोगिता का बुनियादी अवयव अन्तर-साम्राज्यवादी युद्धों को (और साथ ही, राष्ट्रीय मुक्ति-युद्धों को भी, जिसे उन्होंने राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर लिखते हुए रेखांकित किया) जन्म देगा।

काउत्स्की ने एक ओर तो साम्राज्यवाद के युग में जारी एकाधिकारीकरण की प्रक्रिया की परिणति अधिसाम्राज्यवाद के रूप में तथा उन्नत देशों के शासक वर्गों के बीच अन्तरविरोधों की समाप्ति के रूप में देखी, दूसरी ओर साम्राज्यवाद की परिभाषा उन्नत पूँजीवादी देशों और कृषि-प्रधान समाजों वाले पिछड़े देशों के अन्तर्सम्बन्ध के रूप में प्रस्तुत की। लेनिन द्वारा प्रस्तुत साम्राज्यवाद का सिद्धान्त मार्क्स के पूँजी-संचय के सिद्धान्त को आधार बनाकर आगे बढ़ता है। इसकी शुरुआत वास्तव में 'साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था' से लगभग बीस वर्षों पहले लिखे गये दो दीर्घ निबन्धों'बाजार का प्रश्न' और 'आर्थिक रोमांसवाद का चरित्र-निरूपण' से होती है जिनमें 'अण्डरकंजंप्शनिस्ट' (अल्प उपभोक्तावादी) अवस्थिति का विरोध करते हुए लेनिन ने मार्क्स के पूँजी-संचय के सिद्धान्त को सही ठहराया तथा एक पूँजीवादी विश्व बाजार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। पूँजीवादी समाज के विकास के नियम उस विशेष तौर-तरीके को प्रतिबिम्बित करते हैं जिसके द्वारा प्रत्यक्ष उत्पादक से अतिरिक्त उत्पाद निचोड़ लिया जाता है। यह अधिग्रहण उत्पादन के दायरे में होता है और श्रम-शक्ति की खरीद-बिक्री के आधार पर प्रतिपादित होता है। श्रम शक्ति की यही खरीद-बिक्री पूँजीवादी समाज की सारभूत प्रकृति को प्रतिबिम्बित और निर्धारित करती है। आदिम पूँजी-संचय की प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों से मजदूरों की विलगाव की प्रक्रिया एक बार जब पूरी हो जाती है तो श्रम शक्ति की माल की हैसियत उस तौर-तरीके को निर्धारित-निर्देशित करने लग जाती है, जिसके द्वारा पूँजीवादी समाज अपना पुनरुत्पादन करता है। यह पुनरुत्पादन मालों के परिचलन (सर्कुलेशन) के जरिए ही हासिल किया जा सकता है। बेदखल मजदूरों को उन मालों को खरीदने के लिए पगार दी जाती है, जिन्हें अब वे स्वयं पैदा नहीं कर सकते। पूँजीपतियों को माल बेचना होता है और मुद्रा-पूँजी अर्जित करनी होती है ताकि वे श्रम-शक्ति और उत्पादन के साधन खरीद सकें तथा उत्पादन-प्रक्रिया को फिर से शुरू कर सकें। इस तरह पूँजीवादी समाज विनिमय, उत्पादन और नकदीकरण (या उगाही) के चक्र (पूँजी का परिपथ) को बार-बार दुहराता हुआ इसके जरिए अपना पुनरुत्पादन करता रहता है। इसीलिए मार्क्स ने पूँजी को आत्म-संवर्धी (सेल्फ-एक्सपैण्डिंग) मूल्य की संज्ञा दी। प्रतियोगिता ही वह चालक शक्ति है जो आत्म-संवर्धन की इस प्रक्रिया को और अधिक बड़े पैमाने और व्यापक धरातल पर विकसित करती है। प्रतियोगिता, मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के अनुसार, पूँजी की बुनियादी प्रकृति में अन्तर्निहित है। यह प्रतियोगिता पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की बुनियादी संरचना में कई रूपों में काम करती है, जिसका एक आयाम यह है कि पूँजीवादी समाज में पूँजी कई पूँजियों के निरन्तर संघातरत समुच्चय के रूप में ही काम कर सकती है। स्वतंत्र प्रतियोगिता के पूँजीवादी दौर में यह प्रतियोगिता मुख्यतः राष्ट्र-राज्यों की सीमा में कैद थी, हालाँकि माल-पूँजी के निर्यात के उस दौर में और उसके पहले वाणिज्यिक साम्राज्यवाद के दौर में भी उपनिवेशों को हड़पने-छीनने की लड़ाइयाँ चलती रहतीं थीं। एकाधिकारी पूँजीवाद के युग में इस प्रतियोगिता ने विश्व स्तर पर एक नया रूप अख्तियार किया, जिसकी तार्किक परिणति साम्राज्यवादी युद्धों के रूप में होने की लेनिन ने स्थापना दी, जिसे समूची बीसवीं शताब्दी ने सही सिद्ध किया। कई पूँजीपतियों के बिना पूँजीवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। साम्राज्यवाद कई साम्राज्यवादों का परस्पर संघातरत समुच्चय ही हो सकता है। साम्राज्यवादियों के बीच यदि स्थायी शान्ति बहाल हो जाये, या यदि सभी साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजियाँ एक एकल इकाई में समा जायें तो पूँजी के आत्मसंवर्धन की प्रक्रिया रुक जायेगी। पूँजी की आन्तरिक परस्पर विरोधी गतियों में से एक यदि साम्राज्यवादियों को एकीकरण की दिशा में ठेलती है तो दूसरी उसकी विपरीत दिशा

में सतत काम करती है। इसीलिए लेनिन ने कहा था कि ''...राष्ट्रीय वित्तीय पूँजियों के ''अतिसाम्राज्यवादी'', विश्वव्यापी संलयन के घटित होने से पहले ही, साम्राज्यवाद अनिवार्य रूप से फट पड़ेगा और पूँजीवाद अपने विपरीत में रूपान्तरित हो जायेगा।''

यहीं पर हम राजनीतिक अर्थशास्त्र के उद्‌भट पण्डित प्रभात पटनायक और मार्क्सवादी विद्वान एजाज अहमद को पूँजी की गतिकी के बुनियादी नियम की सर्वथा विपरीत दिशा में तर्क करते हुए पाते हैं। रोजा लक्जेमबर्ग अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'एक्युमुलेशन ऑफ कैपिटल' में पुराने 'अण्डरकंजंप्शनिस्ट्स' की लाइन पर तर्क करते हुए 'पूँजी' में मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूँजी के आत्म-संवर्धन के तर्क को स्वीकार नहीं करतीं और इसलिए सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्रों के बीच पूँजी के संचलन का एक विशेष सिद्धान्त प्रस्तुत करती हैं। उनकी एक मूल स्थापना यह है कि उपनिवेशवाद मूल्य के नियम के विश्वव्यापी विस्तार का एक संक्रान्तिकालिक (कंजंक्चरल) पहलू नहीं, बल्कि एक आवश्यक पहलू है क्योंकि अतिरिक्त मूल्य की पूरी उगाही के लिए पूँजीवादी क्षेत्रों को गैर-पूँजीवादी क्षेत्रों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। साथ ही, वे यह भी कहती हैं कि एक बार जब पूँजीवाद पृथ्वी के परिधिगत छोरों तक पहुँच जायेगा और गैरपूँजीवादी क्षेत्र विलुप्त हो जायेंगे, तो पूँजीवाद के लिए अनिवार्यतः संकट पैदा हो जायेगा। एजाज अहमद इस संकट वाली प्रस्थापना को तो खारिज करते हैं, लेकिन रोजा की उस मूल प्रस्थापना को, जिसमें वे पूँजी की आत्म-संवर्धी प्रकृति को बजाय सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्रों में उसके संचलन के जरिए अतिरिक्त मूल्य की उगाही की बात करती हैं, न केवल स्वीकार करते हैं, बल्कि हिल्फर्डिंग या लेनिन या बुखारिन के मुकाबले भी साम्राज्यवाद के उनके इस सिद्धान्त को ज्यादा व्यवस्थित मानते हैं। हालाँकि रोजा लक्जेमबर्ग काउत्स्की की तरह अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा की परिणति अधिसाम्राज्यवाद के रूप में नहीं देखतीं लेकिन आत्म-संवर्धी मूल्य के रूप में पूँजी की मार्क्स द्वारा दी गयी परिभाषा को अस्वीकार करने के चलते वे भी काउत्स्की की ही तरह साम्राज्यवाद को उन्नत पूँजीवादी देशों और अल्पविकसित (प्राक्‌पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों वाले, कृषि-प्रधान समाज वाले) देशों के अन्तर्सम्बन्ध के रूप में देखने लगती हैं। चूँकि प्रभात पटनायक और एजाज अहमद द्वारा प्रक्षेपित आज के साम्राज्यवाद के मानचित्र में भी अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का कोई स्थान नहीं है, इसलिए उनकी अवस्थिति भी इस विशेष सन्दर्भ में मार्क्स और लेनिन के निकट न होकर रोजा लक्जेमबर्ग और कार्ल काउत्स्की के निकट है। ऐसे में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि औद्योगिक और कृषि उत्पादन के अन्तर्सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में साम्राज्यवाद को परिभाषित करने के नाते रोजा लक्जेमबर्ग की अवस्थिति एजाज अहमद को पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के व्यापक सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में लेनिन के मुकाबले अधिक व्यवस्थित जान पड़ती है।

लेनिन के सैद्धान्तिक प्राधिकार को स्वीकार करते हुए भी क्रान्तिकारी वाम धारा के जो घटक साम्राज्यवाद की मूल गतिकी को या प्रमुख अभिलाक्षणिकता को साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्राक्‌पूँजीवादी (अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक) पिछड़े देशों के शोषण-उत्पीड़न के रूप में देखते हैं, वे वास्तव में कार्ल काउत्स्की की अवस्थिति और रोजा लक्जेमबर्ग की अवस्थिति पर खड़े हैं। आज भी अधिकांश ऐसे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुटों में यह विचार जड़ जमाये है कि जब तक साम्राज्यवाद का युग रहेगा, तब तक एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के देशों में किसी न किसी रूप में प्राक्‌पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों की ही प्रधानता बनी रहेगी और ये देश राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम दिये बिना समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रविष्ट हो ही नहीं सकते।

प्रसंगवश, यहीं पर यह भी उल्लेख कर देना जरूरी है कि लेनिन के सैद्धान्तिक प्राधिकार को स्वीकार करते हुए भी क्रान्तिकारी वाम धारा के जो घटक साम्राज्यवाद की मूल गतिकी को या प्रमुख अभिलाक्षणिकता को साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्राक्‌पूँजीवादी (अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक) पिछड़े देशों के शोषण-उत्पीड़न के रूप में देखते हैं, वे वास्तव में कार्ल काउत्स्की की अवस्थिति और रोजा लक्जेमबर्ग की अवस्थिति पर खड़े हैं। आज भी अधिकांश ऐसे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी गुटों में यह विचार जड़ जमाये है कि जब तक साम्राज्यवाद का युग रहेगा, तब तक एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के देशों में किसी न किसी रूप में प्राक्‌पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों की ही प्रधानता बनी रहेगी और ये देश राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम दिये बिना समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रविष्ट हो ही नहीं सकते। लेनिन ने उन्नत और पिछड़े देशों के अन्तर्सम्बन्ध के रूप में साम्राज्यवाद की परिभाषा को सिरे से खारिज करते हुए उसे पूँजी-संचय की प्रक्रिया के ही वैश्विक विस्तार के रूप में देखा। इसी प्रक्रिया में और इसी के निमित्त वित्तीय पूँजी का उद्‌भव हुआ और पूँजी के विभिन्न धड़ों के बीच प्रतियोगिता का वैश्विक विस्तार अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के रूप में सामने आया। बेशक किसी एक देश की ही तरह दुनिया के स्तर पर भी अन्तर्सम्बन्धित असमान विकास पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय प्रणाली के अन्तर्निहित तर्कों में से एक है। वह पूँजी संचय की प्रक्रिया का सहायक कारक भी है और परिणति भी, लेकिन इसके लिए यह कदापि आवश्यक नहीं कि परिधि के देश प्राक्‌पूँजीवादी अवस्था में पड़े रहें। अन्तर्क्षेत्रीय असमानता तथा कृषि और उद्योग के बीच का अन्तर आज भी विश्व स्तर पर मौजूद है, महाद्वीपीय स्तर पर भी और न सिर्फ पिछड़े बल्कि उन्नत देशों के भीतर भी। विश्व स्तर पर एक ओर उद्योग-केन्द्रित अर्थव्यवस्था वाले उन्नत पूँजीवादी देश हैं तो दूसरी ओर वे पिछड़े देश, जहाँ पूँजीवादी

उत्पादन-प्रणाली के वर्चस्व के बावजूद कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्रों के उत्पादन की ही प्रधानता है। इन पिछड़े देशों के भीतर औद्योगिक क्षेत्र हैं तो खेती-बाड़ी के विशाल ग्रामीण क्षेत्र हैं, (हालाँकि खेती-बाड़ी के ये नितान्त पिछड़े इलाके भी पूँजीवादी मूल्य के नियम से ही संचालित होते हैं)। अमेरिका, फ्रांस, और जर्मनी तक में उन्नत औद्योगिक उत्पादन के इलाके हैं और कृषि-उत्पादन वाले ऐसे इलाके भी हैं जो आम लोगों की नजर में भी पिछड़े माने जाते हैं। कृषि और उद्योग की उत्पादकता के अन्तर पर आधारित यह अन्तर्क्षेत्रीय असमानता, कच्चे माल के उत्पादन वाले और सस्ती श्रम शक्ति मुहैया करने वाले इलाकों तथा औद्योगिक उत्पादन वाले इलाकों के बीच का यह अन्तर एक-एक देश और पूरी दुनिया के स्तर पर पूँजी-संचय के लिए अनुकूल पारिस्थितिकी बनाये रखेगा।

यहीं पर उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों-नवउपनिवेशों पर कुछ और बातें। उपनिवेशों या अर्द्धउपनिवेशों का निर्माण आधुनिक साम्राज्यवाद ने नहीं किया। ये वाणिज्यिक पूँजीवाद के वर्चस्व के काल में जन्मे थे और उपनिवेशों की अकूत एवं निर्मम लूट ने यूरोप में औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के लिए जरूरी आदिम पूँजी-संचय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वास्तविक इतिहास में क्लासिकी उपनिवेशवाद ने ही पूरी दुनिया को औद्योगिक केन्द्रीय परिक्षेत्र और विराट कृषि प्रधान पृष्ठ प्रदेश में बांट दिया था। मार्क्स ने कहा था कि वाणिज्यिक पूँजी के प्रभुत्व वाला व्यापार जब तक प्रधान बना रहता है, तब तक वह प्राक्-पूँजीवादी सम्बन्धों को ही प्रस्तरीकृत करने या रूढ़ बनाने का काम करता रहता है। वास्तविक इतिहास में भी यही हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विश्व बाजार का प्रारम्भिक विकास, 'पिछड़े देशों' में (लेनिन के शब्दों में) या उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों में पूँजीवाद के विकास को बाधित करता रहा। यह समय पश्चिम यूरोप में वाणिज्यिक पूँजीवाद के प्रभुत्व के ह्रास और मैन्युफैक्चर के विकास का काल था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पूँजीवाद ने (मार्क्स के शब्दों में) 'आधुनिक उद्योग' की मंजिल में प्रवेश किया तो उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों से कच्चे माल के दोहन, भूराजस्व वसूली और सम्पत्ति की लूट के साथ-साथ वहाँ माल पूँजी के निर्यात की भी शुरुआत हुई। सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन औद्योगिक पूँजीवाद के इस दौर की अभिलाक्षणिकता थी जिसने पूँजी के केन्द्रीकरण और उस केन्द्रीकरण के लिए क्रेडिट संस्थाओं का विकास किया। ज्यादा से ज्यादा बड़े पैमाने पर उत्पादन ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर एकाधिकारीकरण की प्रवृत्ति को मजबूत बनाया। एकाधिकारीकरण ने क्रमशः ज्यादा से ज्यादा तीखी व सघन प्रतियोगिता को जन्म दिया।

एकाधिकारी पूँजीवाद के युग की इसी विशिष्टता को लेनिन ने उसके अन्तर्निहित तर्क सहित रेखांकित किया, जबकि काउत्स्की ने एकाधिकारीकरण को प्रतियोगिता समाप्त करने वाली प्रवृत्ति के रूप में देखा। बुखारिन और प्रियाब्राझेंस्की ने मध्य मार्ग अपनाया और यह स्थापना दी कि एकाधिकारी पूँजीवाद/साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवादी देशों के भीतर प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है, लेकिन उनके बीच प्रतियोगिता बनी रहती है। अब प्रभात पटनायक कह रहे हैं कि उन्नत पूँजीवादी देशों के भीतर और उनके बीच भी प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और पिछड़े देशों के पूँजीपतियों से भी एकता बन जाती है और चीज केवल एक ही बच जाती हैविश्व पूँजी के हाथों (विश्व अधिराज्य के माध्यम से) पिछड़े देशों की समूची जनता और उन्नत देशों की मेहनतकश आबादी की लूट। उनकी स्कीम के अनुसार, चूँकि विश्व-अधिराज्य के अन्तर्गत मौजूद राष्ट्र-राज्यों की स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही होगी जैसी संघीय ढाँचों में केन्द्र की सत्ता के साथ प्रान्तों की सत्ता की होती है, चूँकि क्रान्ति का प्रश्न सर्वोपरि तौर पर शासक वर्ग की राज्यसत्ता को ध्वस्त करने का प्रश्न होता है, अतः इस हिसाब से प्रभात पटनायक को विश्व-अधिराज्य के विरुद्ध एक भूमण्डलीय सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल के बारे में सोचना शुरू कर देना चाहिए। पर वे ऐसा नहीं करेंगे क्योंकि वे एक प्रोफेसर हैं और इसलिए भी नहीं करेंगे क्योंकि इस तार्किक परिणति तक पहुँचते-पहुँचते उनकी स्कीम का हास्यास्पद चरित्र एकदम स्पष्ट हो जायेगा और उसका पूरा ताना-बाना ही बिखर जायेगा। एजाज अहमद उनसे कुछ अलग हैं। वे विश्व अधिराज्य का तो नक्शा नहीं पेश करते, लेकिन आने वाले समय में, जब तक साम्राज्यवाद रहेगा, वे अमेरिकी वर्चस्व के अन्तर्गत पूरी दुनिया पर सभी साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपतियों की प्रत्यक्ष तानाशाही जैसे शासन का नक्शा पेश करते हैं। चूँकि अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी आज राष्ट्र-राज्य आधारित नहीं है, इसलिए वे बताते हैं कि पूँजी की विभिन्न इकाइयों के बीच की प्रतियोगिता अब अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा में रूपान्तरित नहीं हो सकती और यह कि साम्राज्यवादी युद्धों की सम्भावना अब समाप्त हो चुकी है। इस निष्कर्ष को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई आधार नहीं मिलता, यह चर्चा हम कर चुके हैं और यह भी कि पूँजी संचय के बारे में मार्क्स से नहीं बल्कि रोजा लक्जेमबर्ग से और अन्तरविरोध मुक्त साम्राज्यवाद के बारे में लेनिन से नहीं बल्कि कार्ल काउत्स्की से प्रभात पटनायक और एजाज अहमद की निष्पत्तियों को तर्क एवं बल प्राप्त होता है। आगे हम आज की दुनिया के सन्दर्भ में इस प्रश्न को एक बार फिर उठायेंगे और

देखेंगे कि आज की दुनिया वैसी नहीं है और न ही उसका भविष्य वैसा है, जैसा कि प्रोफेसर-द्वय देख और आँक रहे हैं। दोनों की मुश्किल यह है कि वे तात्कालिक यथार्थ को स्थायी परिघटना और आभासी यथार्थ को सारभूत यथार्थ मान ले रहे हैं और इसी आधार पर भविष्य का एक काल्पनिक मानचित्र प्रक्षेपित कर रहे हैं। लेकिन पहले हम उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों के बीच में छूटे प्रसंग को एक बार फिर से उठायें और बात वहीं से आगे बढ़ायें जहाँ छोड़ा था।

ब्रिटेन, फ्रांस आदि उपनिवेशवादी देशों में, जिस समय औद्योगिक पूँजीवाद निर्णायक रूप से सत्ता पर काबिज हुआ और एकाधिकारीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ी, उस समय उसकी आवश्यकताओं और उपनिवेशों से अपेक्षाओं की चौहद्दी में अनेकशः अन्तरविरोध उठ खड़े हुए। उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों में पहले माल पूँजी और फिर मुद्रा पूँजी और उत्पादक पूँजी के निर्यात के लिए पूँजीवादी विकास (मुद्रा-अर्थव्यवस्था का विकास और श्रम का मुक्त होना) जरूरी था, लेकिन प्राक् पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों के टूटते ही वर्ग-संघर्षों और प्रतिरोध-संघर्षों के प्रचण्ड उभार का खतरा था (अधिवासी उपनिवेशों यानी 'सेटलर कालोनियों' की भिन्न स्थिति थी) दूसरी ओर उपनिवेशों में पूँजीवादी विकास एक स्थानीय पूँजीपति वर्ग को भी जन्म देता जो उपनिवेशों के बाजार में प्रतिद्वंद्वी बन सकता था और अपनी वर्गीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में मध्य वर्ग, किसानों और अन्य मेहनतकश वर्गों का संश्रयकारी बन सकता था। इस मायने में, कहा जा सकता है कि जनता के प्रतिरोध और वर्ग-संघर्षों के उभार का भय औपनिवेशिक सत्ताओं को उपनिवेशों में पूँजीवादी बाजार के विकास की नीतियाँ अपनाने से रोक रहा था और उन्हें विवश कर रहा था कि वे प्राक् पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना को बनाये रखें। इस दोहरे दबाव में, उन्होंने गाँवों में प्राक्पूँजीवादी भूमि सम्बन्धों को बरकरार रखे हुए सीमित स्तर पर सीमित और नियंत्रित औद्योगिक विकास का रास्ता चुना। कच्चे माल के दोहन और अपना माल बेचने के लिए, खदानों, रेलों, सड़कों आदि के रूप में एक औद्योगिक ढाँचा तो खड़ा हो ही रहा था, फिर जूट, कपड़ा, चीनी, शराब और रसायनों आदि के कारखाने तथा बागान भी लगे। इन कारखानों ने उपनिवेशों के आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा वर्ग को जन्म दिया, और फिर इन्हीं के सहायक उत्पादन की अनिवार्य सहवर्ती क्रिया ने एक देशी पूँजीपति वर्ग को भी जन्म दिया जिसने कालान्तर में महायुद्धों में उपनिवेशवादियों के उलझाव का लाभ उठाकर अपने आर्थिक आधार एवं शक्ति का विस्तार किया, उस शक्ति के आधार पर ही अलग-अलग देशों में उनके साम्राज्यवाद-विरोध का जुझारू या नरम चरित्र तय होता था। जिन उपनिवेशों में उद्योगों का विकास कम हुआ, वहाँ भी निम्न पूँजीपति वर्ग ने (ज्यादा रैडिकल ढंग से) राष्ट्रीय मुक्ति का अपना प्रोजेक्ट पेश किया। यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है, जिसके विस्तार में जाने के बजाय, यहाँ प्रासंगिक निष्कर्ष की ही चर्चा की जानी चाहिए। वह यह कि आम प्रवृत्ति के तौर पर, उपनिवेशों में पूँजीवादी विकास साम्राज्यवादियों की इच्छा नहीं, बल्कि पूँजी की अपनी स्वतंत्र गति की तार्किक परिणति थी। जहाँ तक साम्राज्यवादियों की आवश्यकताओं-अपेक्षाओं की बात है तो उसमें भी द्वैधता थी। एक पूँजीवादी बाजार का विकास उनकी जरूरत थी, लेकिन वर्ग संघर्ष का भय उन्हें ऐसी नीतियाँ अपनाने से रोक रहा था। इन हालात में, उपनिवेशों में कहीं तेज रफ्तार से तो कहीं कुछ मद्धम गति से जो पूँजीवादी विकास हुआ, उसका उल्लेख लेनिन और स्तालिन ने भी किया था। उपनिवेशवादियों के न चाहते हुए भी, यह पूरी तरह से सम्भव नहीं था कि उद्योगों का विकास तो हो लेकिन कृषि के क्षेत्र में प्राक्पूँजीवादी सम्बन्ध ही अटल बने रहें। पूँजी की गति उनकी इच्छा से स्वतंत्र थी। भारत जैसे देशों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों के भ्रूण औपनिवेशिक काल में ही विकसित होने लगे थे।

लेनिन के समय में भी दुनिया उत्पीड़क और उत्पीड़ित राष्ट्रों के दो सर्वांगपूर्ण, परस्पर व्यावर्तक प्रवर्गों में विभाजित नहीं थी। ऐसे भी देश थे जो न तो पूरी तरह से साम्राज्यवादी थे, न ही उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश। ...यानी, लेनिन के समय में भी राष्ट्र-राज्यों के चरित्र और अन्तर्सम्बन्धों का वैश्विक परिदृश्य उतना सरलीकृत नहीं था, जैसाकि प्रायः समझ लिया जाता है। और फिर हद तो तब हो जाती है जब उस सरलीकृत समझ को आज के वैश्विक परिदृश्य पर लागू करने की कोशिश की जाती है, जो पूर्वापेक्षा और भी जटिल हो चुका है।

उपनिवेशों और अर्द्धउपनिवेशों की समाप्ति विश्व पूँजीवाद के विकास की गतिकी की तार्किक परिणति थी। इसकी मूल कारक शक्ति वर्गसंघर्षजनता का राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष था, यानी औपनिवेशिक-अर्द्धऔपनिवेशिक समाजों में पनपे वर्ग-अन्तरविरोधों का विकास एवं विस्फोट था। इस मूल गति को अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा के दूसरे विश्वयुद्ध के रूप में विस्फोट से विशेष बल मिला। सर्वोच्च साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में ब्रिटेन का स्थान जर्मनी लेगा या अमेरिकाइसका फैसला दो-दो विश्वयुद्धों के बाद ही हो सका। जर्मन साम्राज्यवाद एक औपनिवेशिक शक्ति के रूप में पूरी दुनिया का निर्विवाद स्वामी बनना चाहता था, जबकि अमेरिका का जोर शुरू से ही ''अनौपचारिक साम्राज्य'' कायम करने परयानी कमजोर देशों को उपनिवेश बनाने के बजाय उन पर अपना प्रभुत्व कायम करने पर था। एक अधिवासी उपनिवेश से स्वतंत्र पूँजीवादी देश बने अमेरिका उपनिवेशवाद के दौर में ही दक्षिण अमेरिका को अपना ''अनौपचारिक साम्राज्य'' बना चुका था। दूसरे विश्वयुद्ध में सक्रिय होते ही उसने उपनिवेशों के मालिक यूरोपीय देशों पर इस बात के लिए दबाव बनाना शुरू कर दिया था कि वे ''उपनिवेशों के बोझ'' से

मुक्ति पा लें और युद्धोत्तर काल में अमेरिकी नेतृत्व में ऐसी ही विश्व-व्यवस्था अस्तित्व में आई। लेकिन ऐसा केवल अमेरिकी साम्राज्यवाद की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के चलते ही नहीं हुआ। यह अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की अपनी आन्तरिक गति की तार्किक परिणति थी। अभी तक साम्राज्यवादी देश अपने वित्तीय पूँजी अपने घरेलू बाजारों के अतिरिक्त मुख्यतः दूसरे साम्राज्यवादी देशों के घरेलू बाजारों में और फिर अपने-अपने उपनिवेशों में लगाते थे। अब विश्व स्तर पर पूँजी संचय की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए यह जरूरी था कि संरक्षणवादी बाड़ेबंदियों को हटाकर क्रमशः पूरी दुनिया को एक खुले बाजार में तब्दील कर दिया जाये जिसमें साम्राज्यवादी पूँजी की विभिन्न इकाइयाँ प्रतिस्पर्धा करते हुए अपनी-अपनी ताकत के हिसाब से विश्व-स्तर पर विनियोजित अधिशेष की बंदरबांट कर सकें। लेकिन यह प्रतिस्पर्धा इतनी मुक्त भी नहीं थी। अमेरिकी चौधराहट को स्वीकारना यूरोप की भूतपूर्व औपनिवेशिक ताकतों की विवशता थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में वे तबाह हो चुके थे, जबकि अमेरिका की आर्थिक शक्ति अक्षुण्ण बची रही थी और अब पुनर्निर्माण के नाम पर वह उनके घरेलू बाजार में भी अपनी प्रभावी घुसपैठ बना रहा था। समाजवादी शिविर के विरुद्ध शीतयुद्ध का नेतृत्व भी वही कर सकता था और वही कर रहा था। कोरिया और हिन्दचीन में सर्वहारा नेतृत्व में जनवादी क्रान्ति की धारा को रोकने, चीन की नाकेबंदी करने तथा तीसरी दुनिया के विभिन्न देशों में सापेक्षतः अधिक रैडिकल राष्ट्रीय बुर्जुआ परियोजनाओं को ध्वस्त करके वहाँ अपनी कठपुतली नवऔपनिवेशिक सत्ताओं की बहाली का काम अमेरिका ही कर सकता था और वही कर रहा था। हालाँकि मुख्यतः वर्ग-संघर्ष के बढ़ते दबाव के चलते नवउपनिवेशवाद का यह दौर संक्रमणकालीन ही सिद्ध हुआ और रहे-सहे उपनिवेशों के साथ ही कालान्तर में नवउपनिवेशों का भी खात्मा हो गया और उन देशों में देशी बुर्जुआ वर्ग की सीमित बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ कायम हो गयीं। ये बुर्जुआ जनवादी सत्ताएँ पहले की अपेक्षा अधिक एकीकृत विश्व बाजार में स्वतंत्र-स्वायत्त रूप से कोई राष्ट्रीय बुर्जुआ प्रोजेक्ट लागू ही नहीं कर सकती थीं। औपनिवेशिक अतीत ने उनकी उत्पादक शक्तियों के विकास की स्वाभाविक गति को छीनकर एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के बुर्जुआ वर्ग को पीछे धकेल दिया था और साम्राज्यवाद की शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, राज्यसत्ता पर काबिज होने के बाद वे न तो स्वतंत्र विकास का मार्ग चुन सकते थे, न ही विश्व बाजार में पश्चिमी शक्तियों के प्रतिस्पर्द्धी बन सकते थे (हालाँकि आज भी इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि इनमें से सापेक्षतः अधिक विकसित उत्पादक शक्तियों वाले कुछ देश आगे बढ़कर साम्राज्यवादी देशों की पीछे की कतारों में शामिल हो जायें और इनमें से कुछ की भूमिका तो क्षेत्रीय स्तर पर उपसाम्राज्यवादी शक्तियों की बन भी रही है)। तीसरी दुनिया के इन देशों के बुर्जुआ वर्ग ने पहले समाजवादी शिविर की मौजूदगी और फिर सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद और अमेरिकी नेतृत्व वाले पश्चिमी साम्राज्यवादी शिविर के बीच प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाकर अलग-अलग हदों तक अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण किया और अलग-अलग हदों तक, क्रमशः प्राक्पूँजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों को तोड़ते हुए, विश्व बाजार से सम्बद्ध एकीकृत राष्ट्रीय बाजारों को विकास किया। इन देशों में एक ऐसे विशिष्ट पूँजीवाद का अलग-अलग रूपों में विकास हुआ जो साम्राज्यवाद पर निर्भर था। साम्राज्यवादी देशों के लिए आदिम पूँजी-संचय में (जो कि एक सतत् जारी प्रक्रिया है) इन देशों की अभी भी वही भूमिका थी जो तब हुआ करती थी जबकि ये देश उपनिवेश थे। दूसरी ओर, साम्राज्यवादी देश अपने आर्थिक संकट का ज्यादा से ज्यादा बोझ अपने वर्चस्व का लाभ उठाकर इनके ऊपर थोप सकते थे। इसके चलते, क्रमशः घनीभूत आन्तरिक संकट तीसरी दुनिया के देशों में वर्ग-संघर्ष को ज्यादा से ज्यादा उग्र बना रहा था और यह दबाव शासक वर्गों को ज्यादा से ज्यादा साम्राज्यवादी ताकतों के साथ समझौते के लिए विवश कर रहा था। राजकीय पूँजीवाद के मार्ग से पूँजीवादी विकास की संभावनाओं के संतृप्त होते जाने के साथ ही, इन देशों का बुर्जुआ वर्ग पूँजी और तकनोलॉजी की अपनी जरूरतों के लिए विश्व बाजार पर पहले से ही कब्जा जमाये साम्राज्यवादियों की शर्तों के आगे झुकते जाने के लिए विवश था। तीसरी दुनिया के देशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ परियोजना के विभिन्न संस्करणों का विघटन और पतन इसी प्रक्रिया का तार्किक परिणाम था। सोवियत संघ और उसके शिविर के विघटन के बाद यह प्रक्रिया अपने निर्णायक मुकाम तक जा पहुंची। असाध्य दीर्घकालिक मंदी और पूँजी की प्रचुरता के संकट से ग्रस्त साम्राज्यवादी देशों का दबाव था कि तीसरी दुनिया के शासक वर्ग सभी संरक्षणवादी दीवारों को गिराकर अपने राष्ट्रीय बाजारों को साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी के लिए एकदम खोल दें और ऐसा ही करने के अतिरिक्त उनके सामने और कोई चारा भी नहीं था। भूमण्डलीकरण के दौर में, अमेरिकी नेतृत्व में, विश्व बैंक-मुद्रा कोष-गैट/विश्व-व्यापार संगठन के माध्यम से उदारीकरण-निजीकरण की जो नीतियां सार्वभौमिक तौर पर लागू की गयीं वे साम्राज्यवादी देशों की आवश्यकता होने के साथ ही तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ वर्ग की भी विवशता थी। उनके सामने भी दूसरा कोई विकल्प नहीं था।

क्रान्तिकारी वाम के अधिकांश घटकों में प्रायः साम्राज्यवाद के इस नये दौर को ''उपनिवेशवाद की वापसी''

के रूप में देखने की प्रवृत्ति मौजूद है। दरअसल, ऐसा करते हुए वे नवजनवादी क्रान्ति की अपनी थीसिस को सिद्ध करने के लिए इतिहास-विकास के बुनियादी तर्कों का अतिक्रमण करने लगते हैं और कुछ बुनियादी परिवर्तनों को दृष्टिओझल कर देते हैं। पहली बात, साम्राज्यवादी शक्तियों के जूनियर पार्टनर के रूप में विश्व स्तर पर विनियोजित अधिशेष में हिस्सा बाँटने वाले तीसरी दुनिया के बुर्जुआ वर्ग को वे दलाल पूँजीपति समझने की भूल करते हैं, जब कि दलाल पूँजीपति के अस्तित्व की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अभिलाक्षणिकताएँ सर्वथा भिन्न थीं। दूसरी बात, वे इस तथ्य की भी अनदेखी करते हैं कि साम्राज्यवादी पूँजी और देशी पूँजी, तथा देश के स्तर पर, छोटी पूँजी और बड़ी पूँजी के बीच के स्वाभाविक अन्तरविरोधों के बावजूद आज देशी पूँजी के किसी भी धड़े का इस रूप में साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र नहीं है कि वह जनता के विभिन्न वर्गों को साथ लेकर कोई राष्ट्रीय बुर्जुआ प्रोजेक्ट प्रस्तुत करे। यानी इन देशों में सम्भावित सर्वहारा क्रान्ति का रणनीतिक वर्ग-संश्रय ही बुनियादी तौर पर बदल चुका है। तीसरी बात, तीसरी दुनिया के देशों के पिछड़े और कृषिप्रधान समाजों की चर्चा करते हुए वे भूल जाते हैं कि इनमें से अधिकांश देशों में, पिछड़े से पिछड़े इलाके की खेती भी माल-उत्पादन की प्रणाली और एक राष्ट्रीय बाजार के मातहत आ चुकी है, राज्य और किसानी के बीच के लगानजीवी मध्यवर्ती संस्तर का खात्मा हो चुका है, मालिकाने का सवाल हल हो चुका है, श्रम सामन्ती बंधनों से मुक्त हो चुका है, खुशहाल मालिक किसान पूँजीवादी उत्पादन के संकटों और विनियोजित अधिशेष के बड़े साझीदारों (औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपतियों और साम्राज्यवादियों) के दबावों को झेलते हुए भी, उन्हीं के साथ निर्णायक रूप से जुड़ चुके हैं, तथा, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की पैठ सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों तक को अपने दायरे में समेट चुकी है।

दरअसल क्रान्तिकारी वाम धारा पर हावी इस कूपमण्डूकतापूर्ण कठमुल्लेपन की जड़ में यह भ्रान्त धारणा है कि जब तक साम्राज्यवाद रहेगा, तब तक बाह्य स्वरूप में परिवर्तन के बावजूद, साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित राष्ट्र किसी न किसी रूप में, सारतः, उपनिवेश-अर्द्धउपनिवेश-नवउपनिवेश ही बने रहेंगे तथा इनमें प्राक्पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों की ही प्रधानता बनी रहेगी। ऊपर हम यह दर्शा चुके हैं कि उन्नत पूँजीवादी देशों द्वारा प्राक्पूँजीवादी भूमि सम्बन्धों वाले पिछड़े देशों के शोषण और उत्पीड़न को साम्राज्यवाद की बुनियादी अभिलाक्षणिकता मानने की सोच की निकटता साम्राज्यवाद-विषयक लेनिन की अवधारणा से नहीं, बल्कि या तो कार्ल काउत्स्की या फिर रोजा लक्जेमबर्ग की अवधारणा से बनती है। जो लोग किसी भी प्रक्रिया या परिघटना की बुनियादी गति के नियमों का अध्ययन करने के बजाय उसके लक्षणों के आधार पर नतीजे निकालने के आदी होते हैं, वे इसी तरह से संभ्रम-दिग्भ्रम-मतिभ्रम के शिकार होते रहते हैं।

'उपनिवेशों या सारतः वैसे ही चरित्र वाले देशों के बिना साम्राज्यवाद सम्भव ही नहीं है' और 'उपनिवेश साम्राज्यवाद की राह की बाधा थे और अब जाकर साम्राज्यवाद अपने वास्तविक रूप में सामने आया है'ये दोनों ही दृष्टिकोण दो छोर की अनैतिहासिक अतियाँ हैं। उपनिवेशों ने पश्चिम में औद्योगिक पूँजीवाद के विकास में और फिर साम्राज्यवाद के प्रारम्भिक दौर में आदिम पूँजी-संचय में बुनियादी रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। फिर वित्तीय पूँजी के विकास का एक ऐसा दौर आया जब आदिम पूँजी संचय की प्रक्रिया के जारी रहने के लिए क्रमशः ज्यादा से ज्यादा खुला और एकीकृत विश्व बाजार साम्राज्यवाद की ज्यादा से ज्यादा प्रबल आवश्यकता बन गया। साथ ही, इस तथ्य की अनदेखी भी एक किस्म का अर्थवाद ही होगा कि उपनिवेशवाद के दौर की समाप्ति में वर्ग-संघर्ष के विश्वव्यापी अग्रवर्ती विकास की अहम भूमिका थी और भूमण्डलीकरण की वर्तमान प्रक्रिया के पीछे, विश्व स्तर पर वर्ग-संघर्ष के पीछे हटने की प्रक्रिया की भी एक अहम भूमिका है।

राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर इस चर्चा का उद्देश्य कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में व्याप्त उस रूढ़-मूढ़ धारणा पर चोट करना है जो राष्ट्रीय उत्पीड़न को ही साम्राज्यवाद की मूलभूत गति का नियम समझती है और यह मानकर चलती है कि जब तक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक कमजोर देश किसी न किसी रूप में अर्द्धऔपनिवेशिक/नवऔपनिवेशिक ही बने रहेंगे और उनका पूँजीवादी चरित्र विकसित ही नहीं हो सकेगा। ऐसे लोग ऐसे किसी समाज की कल्पना ही नहीं कर पाते जो आबादी के बहुलांश की कृषि व कृषि-सम्बद्ध उत्पादन पर निर्भरता के बावजूद, और साम्राज्यवाद पर अपनी निर्भरता के बावजूद पूँजीवादी समाज हो। ऐसे लोग मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बजाय अटकलपच्चू अनुभववाद के हकीम लुकमानी नुस्खों पर अमल करते हैं।

राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर इस चर्चा का उद्देश्य कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन में व्याप्त उस रूढ़-मूढ़ धारणा पर चोट करना है जो राष्ट्रीय उत्पीड़न को ही साम्राज्यवाद की मूलभूत गति का नियम समझती है और यह मानकर चलती है कि जब तक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक कमजोर देश किसी न किसी रूप में अर्द्धऔपनिवेशिक/नवऔपनिवेशिक ही बने रहेंगे और उनका पूँजीवादी चरित्र विकसित ही नहीं हो सकेगा। ऐसे लोग ऐसे किसी समाज की कल्पना ही नहीं कर पाते जो आबादी के बहुलांश की कृषि व कृषि-सम्बद्ध उत्पादन पर निर्भरता के बावजूद, और साम्राज्यवाद पर अपनी निर्भरता के बावजूद पूँजीवादी समाज हो। ऐसे लोग मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बजाय अटकलपच्चू अनुभववाद के हकीम लुकमानी नुस्खों पर अमल करते हैं।

ऐसे कठमुल्लेपन की जकड़बंदी तोड़ने के लिए यहाँ यह इंगित कर देना अप्रासंगिक

नहीं होगा कि लेनिन के समय में भी दुनिया उत्पीड़क और उत्पीड़ित राष्ट्रों के दो सर्वांगपूर्ण, परस्पर व्यावर्तक प्रवर्गों में विभाजित नहीं थी। ऐसे भी देश थे जो न तो पूरी तरह से साम्राज्यवादी थे, न ही उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश। कुछ ऐसी मध्यवर्ती औपनिवेशिक शक्तियाँ थीं, जिनके उपनिवेशों पर साम्राज्यवादी शक्तियों की गिद्धदृष्टि थी। जैसे ब्रिटेन जैसे औपनिवेशिक साम्राज्यवादी देश और भारत जैसे उपनिवेश और चीन जैसे अर्द्धउपनिवेश के अतिरिक्त पुर्तगाल जैसा देश भी था जो एक औपनिवेशिक शक्ति था और ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में होने के कारण उसके उपनिवेशों तक ब्रिटेन की प्रभावी पहुँच थीं ''राष्ट्रों का जेलखाना'' रूस जैसा देश था जहाँ पूँजीवाद के पर्याप्त विकास के बावजूद, जारशाही ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद से बँधी हुई थी। रूस की स्थिति इन देशों को खिराज देने वाले एक तरह के अर्द्धउपनिवेश जैसी भी थी और रूसी पूँजीपति वर्ग की प्रबल साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ भी थीं। आसपास के कमजोर देशों के लिए रूस की स्थिति एक साम्राज्यवादी देश की भी थी। जारशाही ने तुर्की के बंटवारे और कुस्तुन्तुनिया, काले सागर से भूमध्यसागर की ओर जाने वाले जलडमरूमध्य और गैलीशिया (आस्ट्रो-हंगारी साम्राज्य का एक हिस्सा) पर कब्जा करके नये बाजार हासिल करने के लिए पहले विश्वयुद्ध में हिस्सा लिया था। नाम मात्र की आजादी वाला अर्जेण्टीना भी था जो ब्रिटेन के साथ एक उपग्रह-अर्थव्यवस्था के रूप में नत्थी था। यानी, लेनिन के समय में भी राष्ट्र-राज्यों के चरित्र और अन्तर्सम्बन्धों का वैश्विक परिदृश्य उतना सरलीकृत नहीं था, जैसाकि प्रायः समझ लिया जाता है। और फिर हद तो तब हो जाती है जब उस सरलीकृत समझ को आज के वैश्विक परिदृश्य पर लागू करने की कोशिश की जाती है, जो पूर्वापेक्षा और भी जटिल हो चुका है।

इस बात को स्पष्ट कर देने के लिए यहाँ यह भी उल्लेख उचित ही होगा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले न सिर्फ सभी उत्पीड़ित देश उपनिवेश या अर्द्धउपनिवेश नहीं थे (सीमित आजादी वाले कुछ पिछड़े पूँजीवादी देश भी थे), बल्कि सभी उपनिवेश भी एक प्रकार के नहीं थे। एशिया-अफ्रीका के अधिकांश देशों के सम्पूर्ण भूभाग को जीतकर औपनिवेशिक व्यवस्था कायम करने वाला बुर्जुआ वर्ग इन देशों में हमेशा बाहरी बना रहा। दूसरी ओर, अधिवासी उपनिवेश थे, जो कई प्रकार के थे। समूचे अमेरिकी उपमहाद्वीप में, उपग्रह अर्थव्यवस्था व नाममात्र आजादी वाले कुछ देशों के अतिरिक्त अधिवासी उपनिवेश ही थे और आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड में भी कुछ ऐसा ही था। उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड के अधिवासी उपनिवेशों में पूँजीवाद का उच्च स्तर तक विकास हुआ, जबकि दक्षिण अमेरिका में ऐसा न हो सका। दक्षिण अफ्रीका, और जिम्बाब्वे-रोडेशिया में भी एक किस्म का अधिवासी उपनिवेश ही विकसित हुआ। उत्तर अमेरिकी क्षेत्र व आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड के अधिवासी उपनिवेशों में बहुत अधिक पूँजी और तकनोलॉजी हस्तान्तरित की गयी, लेकिन भारत जैसे उपनिवेशों और दक्षिण अमेरिका के अधिकांश अधिवासी उपनिवेशों के साथ ऐसा नहीं हुआ। अधिवासी उपनिवेशों से इतर जो उपनिवेश थे, उनमें से कई (जैसे भारत) में प्राकृतिक सम्पदा के अतिरिक्त उन्नत श्रम शक्ति भी मौजूद थी जबकि कुछ में (जैसे अधिकांश अश्वेत अफ्रीकी देश) केवल प्राकृतिक सम्पदा के अतिरिक्त अकुशल श्रम-शक्ति मौजूद थी। इसके चलते, इन उपनिवेशों में जो पूँजीवाद पला-बढ़ा, उसकी ताकत और प्रकृति में अलग-अलग देशों में काफी भिन्नता थी। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि 'औपचारिक साम्राज्य' (उपनिवेशों) के दौर में ही दक्षिण अमेरिका में अमेरिका का 'अनौपचारिक साम्राज्य' कायम हो चुका था। स्वयं एक उपनिवेश से स्वतंत्र होकर उन्नत पूँजीवादी देश और फिर सर्वोच्च साम्राज्यवादी शक्ति बनने के अमेरिका के विशिष्ट इतिहास का भी यदि अध्ययन किया जाये तो उपनिवेशवाद के दौर और उत्तर-औपनिवेशिक दौर के बारे में यांत्रिक सरलीकरणों से मुक्त होने में काफी मदद मिल सकती है, लेकिन यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है।

औपनिवेशिक प्रश्न पर इस पूरी चर्चा के समाहार के तौर पर, यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशवाद के दौर की विश्व-व्यवस्था की सरलीकृत समझ और फिर उसी समझ के आधार पर उत्तर-औपनिवेशिक विश्व को देखना सिरे से गलत है। उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का एक दौर था, न कि उसका समानार्थी। साम्राज्यवाद की लेनिनवादी समझ बताती है कि साम्राज्यवाद उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों के बिना भी सम्भव है। आज के साम्राज्यवाद की यह विशिष्टता है कि औपनिवेशिक-राष्ट्रीय प्रश्न पर लेनिन ने जो कुछ भी लिखा था उसे आज की दुनिया पर लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रश्न आज उस रूप में मौजूद ही नहीं रह गया है।

समाजवाद पर पुनर्विचार: समाजवादी संक्रमण क्या है?

देङ-युआन सू और पाओ-यू चिङ
(चिङकाङ शान इंस्टीट्यूट, हाँगकांग)

I. समाजवाद पर पुनर्विचार: समाजवादी संक्रमण क्या है?

समाजवादी संक्रमण का काल वह अवधि है कि जो गैर-कम्युनिस्ट समाज को कम्युनिस्ट समाज में रूपान्तरित करती है। हमारे पास ऐसा कोई पूर्वनिश्चित तथा पूर्वनिर्धारित नक्शा नहीं है जिससे हम यह तय कर सकें कि समाजवादी संक्रमण की अवधि में जो नीतियाँ एवं कार्यक्रम अपनाये जा रहे हैं वे संक्रमण के सही रास्ते पर हैं अथवा नहीं। इसके बजाय, समाजवादी संक्रमण का विश्लेषण इस बात पर निर्भर करता है कि संक्रमण की सामान्य दिशा क्या है। इसलिए किसी एक पृथक घटनाओं से यह कतई निर्धारित नहीं हो सकता कि संक्रमण की प्रकृति क्या है। पूँजीवादी अथवा समाजवादी। इस प्रकार अपने मनोगत मूल्यांकनों को सही ठहराने का हमारे पास कोई विशिष्ट पूर्वनिर्धारित मापक नहीं है। जैसा कि लेनिन ने कहा है, "हम यह दावा नहीं करते कि मार्क्स और मार्क्सवादी लोग समाजवाद की राह को पूरी तरह जानते हैं। इसका कोई अर्थ नहीं है। हम इस राह की दिशा जानते हैं। हम जानते हैं कि कौन सी वर्ग शक्तियाँ इस राह पर आगे बढ़ेंगी, लेकिन ठोस और व्यावहारिक सीखें उन करोड़ों लोगों के अनुभवों से ही प्राप्त की जा सकती हैं जो इसका बीड़ा उठाएँगे।"[1]

हालाँकि, कम्युनिज्म की ओर संक्रमण की दिशा के बारे में कुछ सामान्य और मोटी-मोटी बातें हैं। यह एक सामान्य मान्यता है कि समाजवाद जिसे मार्क्स कम्युनिज्म की प्रारंभिक अवस्था मानते हैं, विकास का वह चरण है जहाँ उत्पादन के साधनों पर सीधा नियंत्रण वास्तविक उत्पादकों का होता है तथा सबको अपने श्रम के अनुपात में उत्पादन में हिस्सेदारी मिलती है। इसके उलट पूँजीवादी निजाम में उत्पादन के साधनों का मालिकाना हक पूँजीपतियों के पास होता है। फलतः वास्तविक उत्पादक या श्रमिक सिर्फ शोषण की चक्की में पिसते हैं। चूँकि, पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य वस्तुओं के विनियम मूल्य में वृद्धि करना होता है इसलिए पूँजीपतियों का पूरा जोर इस बात पर होता है कि किस प्रकार इस अतिरिक्त मूल्य का सृजन श्रमिकों के श्रम का अधिकाधिक शोषण करके किया जाये। इसकी अपेक्षा समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन का उद्देश्य यह होता है कि उपयोग मूल्य वाली वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन किया जाये जिससे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवाद पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में आधारभूत बदलावों का प्रतिनिधित्व करता है : यह पूँजीवाद का प्रतिपक्ष है। ये आम दिशानिर्देश एक दिशा देते हैं जो कि उत्पादन सम्बन्धों के माल उत्पादन से गैर-माल उत्पादन में रूपान्तरण की एक विकास प्रक्रिया है। इसी प्रकार समाज के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक हलकों में भी आधारभूत परिवर्तन होते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि समाजवादी संक्रमण किसी भी मायने में सरल और तुरत-फुरत नहीं होता, इसे अनेकानेक बाधाओं और संकटों से गुजरना होता है। अपेक्षित धक्के और पीछे हटना भी होता है परन्तु सामान्य दिशा हमेशा स्पष्ट होती है। कुछ विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी रणनीतिक दृष्टिकोण से आगे बढ़ने से पहले पीछे हटना भी आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में पीछे हटने की वजहें स्पष्ट की जानी चाहिये।

1. राजकीय स्वामित्व और आर्थिक नियोजन विषयक अवधारणाओं की फिर से पड़ताल

अ. उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व और समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध दोनों समान नहीं हैं

जिन देशों में समाजवाद कायम करने का प्रयास किया गया, राज्य ने सबसे पहले उद्योगों को राष्ट्रीकृत करने का कदम उठाया। इसलिए, राज्य को उत्पादन के साधनों का वैध हस्तान्तरण अकसर समाजवाद की दिशा में आरंभिक कदम मान लिया जाता है। दूसरे शब्दों में, परम्परागत ढंग के विश्लेषणों में उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व और समाजवाद को अक्सर एक ही समझा जाता है। हम ऐसे किसी विश्लेषण को नहीं मानते क्योंकि जब वैध हस्तान्तरण हुआ तो हमारे पास कोई पैमाना नहीं था जिससे हम संक्रमण की पूँजीवादी अथवा समाजवादी प्रकृति के बारे में तय कर सकते। इसलिए उत्पादन के साधनों के स्वामित्व को राज्य को वैध हस्तान्तरण को हम समाजवाद की राह पर प्रस्थान बिन्दु नहीं मानते। स्वामित्व में वैधिक परिवर्तन मात्र एक सन्दर्भ-बिन्दु था; यह केवल एक सूचक था जिसने उस समय तक के ऐतिहासिक विकास को दर्शाया। स्वामित्व में वैधिक परिवर्तन भावी परिवर्तनों की संभावना प्रदान करता है। संक्रमण पूँजीवादी था या समाजवादी, यह तय होना था वैधिक हस्तान्तरण के बाद की ठोस घटनाओं से।

सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारे सामने राज्य के स्वामित्व का मतलब साफ हो। राज्य का स्वामित्व तो पूँजीवादी व्यवस्था में भी और कम्युनिज्म की ओर संक्रमण के काल में भी रहता है। राज्य के स्वामित्व का साधारण अर्थ तो यह है कि उत्पादन के साधनों पर राज्य

लेखकद्वय हांगकांग स्थित चिङकाङ शान इंस्टीट्यूट के अध्येता हैं। चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना पर उन्होंने काफी काम किया है।

का प्रभावी नियंत्रण हो। संक्रमण काल में महज राज्य के स्वामित्व का अर्थ उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन कतई नहीं होता। पूँजीवाद के तहत राज्यतंत्र कुछ उद्योगों के उत्पादन के साधनों पर प्रभावी नियंत्रण कायम कर उन्हें राज्यीकृत कर सकता है। एक पूँजीवादी देश में इस प्रकार कुछ उद्योगों के उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व कायम करने के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। संभवतः एक सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि राज्य का स्वामित्व राज्य को सीमित रूप में विकास की दिशा तय करने के मौके प्रदान करता है और इस प्रकार उसे राजकीय और निजी दोनों ही क्षेत्रों में पूँजी संचय बढ़ाने और पूरा कर सकने की संभावना भी प्रदान करता है। उदाहरण के तौर पर, राज्य उपयोगी सेवाएँ, यातायात, संचार, बैंकिंग आदि क्षेत्रों में बड़े उपक्रमों का स्वामित्व प्राप्त कर सकता है। पूँजीवाद के तहत राजकीय स्वामित्व का एक और कारण यह है कि तीसरी दुनिया के देशों को अपने कुछ खास उपक्रमों को विदेशी नियंत्रण से बचाना होता है। जब एक पिछड़ा देश स्वतंत्र रूप से अपनी अर्थव्यवस्था को विकसित करने के प्रयास कर रहा होता है और वहाँ निजी पूँजी कमजोर पड़ रही हो तो ऐसे में राजकीय स्वमित्व ही एक ऐसा रास्ता है जिसके द्वारा विदेशी पूँजी के नियंत्रण से बचा जा सके।

पूँजीवाद और कम्युनिज्म के बीच के संक्रमण काल के विश्लेषण के लिए उत्पादन के साधनों के राज्य को वैधिक हस्तान्तरण और समाजवादी संक्रमण के प्रांरभ के बीच विभेद करना हमारे लिए अति महत्वपूर्ण है ताकि हम संशोधनवाद के सवाल पर स्पष्ट हो सकें। बहुत से देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने, जिसमें चीन की पार्टी भी शामिल है, पहले दावा किया और अब भी करते हैं कि उन्होंने समाजवाद को लागू किया/करते हैं क्योंकि उनके यहाँ उद्योग बहुतायत में राजकीय स्वामित्व में हैं अथवा थे। जबकि सच्चाई यह है कि संक्रमण की दिशा पहले ही उलटी होकर समाजवाद से पूँजीवाद की ओर मुड़ चुकी है। फिलहाल, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी राजकीय स्वामित्व का प्रयोग सिर्फ समाजवाद के सूचक के तौर पर अपने शासन को वैध साबित करने के लिए कर रही है। जैसा कि हमने पहले कहा कि राजकीय स्वामित्व पूँजीवाद और समाजवादी संक्रमण के काल दोनों में होता है; अतएव यह कहा जा सकता है कि राजकीय स्वामित्व किसी भी प्रकार से उत्पादन सम्बन्धों का परिचायक नहीं होता।

मार्क्स ने उत्पादन सम्बन्धों में वैधिक परिवर्तन तथा वास्तविक परिवर्तन में विभेद किया है। मार्क्स ने प्रूदों की आलोचना की क्योंकि प्रूदों वास्तविक स्वरूप की बजाय वैधिक पक्ष को उत्पादन सम्बन्ध का परिचायक मानते थे।[2] यही वजह है कि हम इस शब्द के परम्परागत चीनी उपयोग से सहमत नहीं है। 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा राष्ट्रवादियों को उखाड़ फेंकने और जनवादी सरकार की स्थापना के बाद नयी सरकार ने सारी नौकरशाही पूँजी और विदेशी पूँजी को जब्त कर लिया। इसने यातायात, संचार और मैन्युफैक्चरिंग क्षेत्र की सभी बड़ी सम्पत्तियों का राष्ट्रीकरण कर दिया। तत्पश्चात, 1952 में इसने भूमि सुधार किये। 1952 के बाद सरकार ने बची हुई निजी पूँजी के राष्ट्रीकरण के लिए अनेक कदम उठाये। साथ ही कृषि के क्षेत्र में सहकारी आन्दोलनों में कई कदम बढ़ाये। 1956 तक इसने अपने दोनों कार्यउद्योगों का राष्ट्रीकरण और कृषि का सामूहिकीकरणपूरे कर लिये। सरकार ने इस प्रकार उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का वैधिक हस्तान्तरण राज्य और सामूहिक इकाइयों को कर दिया। चीन ने 1952 से 1956 तक की अवधि को समाजवाद में संक्रमण तथा 1956 के बाद से समाजवाद का काल माना (अब भी वे यही मानते हैं)। हमारे विश्लेषण के अनुसार, 1949 से 1978 के दरम्यान राज्य ने जो नीतियाँ लागू कीं वह इस बात का परिचायक थीं कि संक्रमण निश्चित रूप से कम्युनिज्म की ही दिशा में है, अतएव यह समाजवादी संक्रमण था। इसके विपरीत देङ के सुधारों की नीति इस बात की सूचक है कि संक्रमण की दिशा उलटी होकर पूँजीवाद की ओर मुड़ गयी, इसलिए 1979 के बाद का संक्रमण पूँजीवादी संक्रमण है।

उपर्युक्त विश्लेषण को इस रूप में नहीं लिया जाना चाहिये कि समाजवादी संक्रमण के दौरान उत्पादन के साधनों पर राजकीय स्वामित्व आवश्यक तौर पर अनावश्यक है तथा बड़े पैमाने पर निजीकरण किया जाये जैसा कि देङ के सुधारों के तहत चीन में हुआ। इस मुद्दे पर विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे, तथा वैधिक स्वामित्व और आर्थिक स्वामित्व के अन्तर को भी व्याख्यायित करेंगे।

ब. नियोजन में राज्य की भागीदारी होने मात्र से समाजवादी अर्थव्यवस्था सुनिश्चित नहीं होती

नियोजन बनाम बाजार अक्सर परम्परागत विश्लेषणों में समाजवादी तथा पूँजीवादी संक्रमणों में विभेद करने का मापक रहा है। इस प्रकार के विश्लेषण अक्सर नियोजन को समाजवाद और बाजार से पूँजीवाद को जोड़ते हैं। परन्तु यदि हम पूँजीवादी व्यवस्था में ही राजकीय स्वामित्व को लें तो हम देखते हैं कि वहाँ भी नियोजन को एक औजार की तरह अर्थव्यस्था की दिशा तय करने में इस्तेमाल किया जाता है। बहुत से पूँजीवादी देशों में राजकीय स्वामित्व वाली व्यवस्थाओं की भाँति ही, राज्य, स्वामित्व के वैध हस्तान्तरण नहीं होने पर भी नियोजन में हिस्सा लेता है। यद्यपि यह हर पूँजीवादी देश में अलग-अलग तरीके से हुआ है, फिर भी पूँजीवादी देशों के राज्यतंत्र ने सीधे उत्पादन (स्वामित्व के अन्तर्गत) और नियोजन दोनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इन क्रियाकलापों में राजकीय हिस्सेदारी के सवाल पर पूँजीवादी देशों के बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों में कई दशकों से वाद-विवाद होते आ रहे हैं (जैसे अमेरिका में रूढ़िवादियों और उदारवादियों के बीच)। पूँजीवाद का आधारभूत अन्तरविरोध हैउत्पादन का समाजीकरण परन्तु उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व। जब तक पूँजीवादी व्यवस्था चलती रहेगी तब तक यह प्रमुख अन्तरविरोध अपने आपको लम्बे और गहराते चले जाने वाले संकटों के रूप में व्यक्त करता रहेगा। महामन्दी के बाद से पूँजीवादी देशों में राज्यसत्ता ने इसी अन्तरविरोध से पैदा हुई समस्याओं से निबटने का प्रयास किया। राज्य ने अपनी निहित शक्तियों का प्रयोग व्यावसायिक चक्रों को कीन्सवादी वित्तीय और मौद्रिक नीतियों द्वारा नियंत्रित करने में किया। आर्थिक उतार-चढ़ाव और अर्थव्यवस्था में दीर्घकालिक ठहराव से निबटने के लिए राज्य ने सार्वजनिक आधारभूत ढाँचे और श्रम प्रबन्धन में रोजगार, शिक्षा और प्रशिक्षण तथा रोजगार एवं कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम से सक्रिय भागीदारी की है। उदाहरणतया, नीची ब्याज दरों वाली ऋण नीतियों के माध्यम से अमरीकी संघीय सरकार गृह निर्माण उद्योगों के विस्तार में सहायता दे रही है। सैन्य ढाँचे के संवर्द्धन से रक्षा उद्योग को बल मिलता है। राज्य वित्त पूँजी और उत्पादक पूँजी के मध्य लेन-देन को सुगम बनाने के लिए वित्त बाजार को विनियमित करने का

कार्य भी करता है। अपने प्रसार क्षेत्र में राज्य घरेलू तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को विनियमित करने और प्रोत्साहन देने का कार्य भी करता है। अमरीकी सरकार अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अमरीकी व्यवसाय को होड़ में बनाये रखने के लिए निगमों को निर्यात ऋण और निर्यात सब्सिडी प्रदान करती है। स्थानीय सरकारें भी इस मुहिम के तहत निगमों को "सर्वाधिक अनुकूल निवेश वातावरण" उपलब्ध कराने में जुट गयी हैं, जिसमें भवनों हेतु भूखंड, बिजली, सड़कें और करों में छूट आदि शामिल हैं। इस तरह की गतिविधियों में सरकारी जुड़ाव का उद्देश्य पूँजी का संचय है, जबकि यह संचय कर चुकाने वाले साधारण श्रमिकों की खून-पसीने की कमाई की कीमत पर होना होता है।

दूसरे, अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों में नियोजन में राजकीय भागीदारी का स्वरूप और भी अधिक विस्तृत है। उदाहरण के लिए, जापान में राज्य की कई दीर्घकालिक एवं अल्पकालिक योजनाएँ हैं जो अर्थव्यवस्था में विकास के लक्ष्य, ऊर्जा खपत, श्रम शक्ति की आवश्यकता आदि की सूचक होती हैं। विकासशील देशों में भी राजकीय नियोजन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। जैसे, ताइवान में राज्य ने सचेत तौर पर निर्यात आधारित विकास अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाया। राज्य वहाँ भविष्य में सार्वजनिक आधारभूत संरचना की आवश्यकता को रेखांकित कर रहा है ताकि निर्यात हेतु मालों का आवागमन सुगम हो सके। राज्य प्रत्यक्ष रूप से ऊर्जा के उपयोग, निर्यात, उत्पादन के लिए कच्चे माल के उत्पादन आदि के नियोजन में भागीदारी करता रहा है। इसलिए यह केवल एक मिथक है कि पूँजीवादी देशों में "स्वतंत्र उद्यम व्यवस्था" कायम है जो केवल बाजार तंत्र पर निर्भर होती है। संक्षेप में यह कि नियोजन और बाजार एक दूसरे के विपरीत ध्रुव नहीं हैं और पूँजीवादी व्यवस्था में तो ये एक दूसरे के पूरक हैं। राजकीय हस्तक्षेप चाहे वह स्वामित्व के माध्यम से हो या नियोजन के, पूँजीवाद की मूल प्रकृत्ति को नहीं बदल सकता। पूँजीवादी देशों के अनेक उदारवादी अर्थशास्त्रियों की आशावादी सोच है कि राज्य उत्पादन के उद्देश्य को पूँजी संचय से बदलकर जनता की आवश्यकता की पूर्ति तक लाने में बड़ी भूमिका का निर्वाह कर सकता है। लेकिन यहाँ वे यह स्वीकार करने में विफल रहते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था का आधार ही पूँजी संचय है इसलिए उत्पादन का उद्देश्य इच्छा मात्र से ही नहीं बदला जा सकता। इसके उलट, राज्य हमेशा पूँजी संचय को सुगम बनाने का काम करता है। राज्य अधिक से अधिक यह कर सकता है कि समाज में स्थायित्व बरकरार रखने के लिए वह एक सीमित रूप में उत्पादन का समुचित बँटवारा पूँजी और श्रम के बीच करता रहे, परन्तु यह तभी हुआ है जब श्रम दबाव बनाने में सक्षम था। अन्त में यह कि उत्पादन के साधनों पर राजकीय स्वामित्व और राजकीय आर्थिक नियोजन जैसी पुरानी मान्यताएँ हमें समाजवाद की कोई स्पष्ट समझ प्रदान नहीं करतीं, बल्कि और उलझाती ही हैं। इसलिए अब यह आवश्यक है कि हम अपने विश्लेषणों के लिए नये विचारों व मान्यताओं की तलाश करें।

2. संक्रमण की दिशा और संशोधनवाद का सवाल

हम यह मानते हैं कि संशोधनवाद का सवाल संक्रमण की दिशा से तय किया जाना चाहिये न कि उत्पादन के साधनों पर राजकीय स्वामित्व और राजकीय नियोजन जैसे मसलों पर। पूँजीवादी संक्रमण जो कि संशोधनवाद है, तब शुरू होता है जब राज्यतंत्र संक्रमण की दिशा को कम्युनिज्म से पूँजीवाद की ओर मोड़ देता है। इसका यह मतलब नहीं होता कि इसी बिन्दु पर संशोधनवादी समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को पूरे तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में बदलने में सक्षम हो जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन में भी समय लगता है जैसा कि हमने भूतपूर्व सोवियत संघ, पूर्वी यूरोपीय देशों और चीन में भी देखा है। इसके अतिरिक्त हम किसी एक नीति या पृथक घटनाक्रम के आधार पर संक्रमण की दिशा तय नहीं कर कर सकते। इसके बजाय, नीतियों को उनकी समग्रता में देखा जाना चाहिये, उनके सन्दर्भो से पृथक कर कतई नहीं। हम अब कुछ नयी अवधारणाओं को आपके सामने रख रहे हैंपूँजीवादी परियोजना एवं समाजवादी परियोजनाजो हमारे विश्लेषण के उपकरण होंगे।

पूँजीवादी परियोजनाओं का लक्ष्य पूँजीवाद की स्थापना है। पूँजीवादी परियोजनाएं वे ठोस तरीके हैं जिनकी मदद से पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना, पोषण और विस्तारीकरण किया जाता है; दूसरे शब्दों में इन्हीं तरीकों की मदद से उत्पादन के साधनों के स्वामी और प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच प्रभुत्वशाली और अधीन का सम्बन्ध स्थापित, पोषित और विस्तारित होता है। पूँजीवादी परियोजना में उत्पादन का उद्देश्य मूल्य संवर्द्धन (value valorizing) होता है। यदि राज्य संक्रमण के दौरान पूँजीवादी परियोजना को कार्यरूप देने में निरन्तर सक्षम है तो शनैः-शनैः प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर से स्वामित्व अथवा अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं पर अधिकार समाप्त होता चला जायेगा। अपनी पूँजीवादी परियोजनाओं को विस्तार देते हुए राज्य या निजी पूँजी अब इस स्थिति में आ जाते हैं कि वह पूँजी संचय की गति बढ़ायें और इसके लिए मजदूरों के श्रम के अधिकाधिक शोषण से अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करें। पूँजीवादी परियोजनाओं में वितरण पूँजी के आकार पर निर्भर करता है श्रम के योगदान पर नहीं।

समाजवादी परियोजना सीधे-सीधे पूँजीवादी परियोजना के उलट है। यह कम्युनिज्म की ओर अग्रसर कदम होता है जिसमें प्रत्यक्ष उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है तथा वे अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं के अधिकारी होते हैं। समाजवादी परियोजनाओं में वितरण प्रधानतः श्रम के मात्रात्मक योगदान के अनुसार जनता की मूलभूत आवश्यकताओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करके किया जायेगा। कालान्तर में जब उत्पादक शक्तियाँ पूरे तौर पर विकसित हो जाएँगी तब वितरण आवश्यकतानुसार होगा। इस प्रकार समाजवादी परियोजनाएँ सर्वहारा के दीर्घकालिक वर्ग हितों में अभिवृद्धि के लिए हैं और ये उन्नत पूँजीवादी देशों के तथाकथित समाज कल्याण कार्यक्रमों से सर्वथा भिन्न हैं। समाजवादी परियोजनाएँ वे आर्थिक नीति या कार्यक्रम हैं जो राजनीतिक निर्णयों से निःसृत होते हैं; जिसके बारे में माओ ने कहा था "राजनीति को कमान में रखो"। समाजवादी परियोजनाएँ राजकीय और/या निजी पूँजी को नियंत्रित, सीमित और बाधित करने के लिए बनी होती हैं।

यहाँ इस बात पर जोर देने की जरूरत है कि समाजवादी परियोजना सिर्फ एक आर्थिक कार्यक्रम नहीं है, यह सामाजिक, आर्थिक और विचारधारात्मक पहलुओं का भी समावेश करता है। दरअसल, इन सब पहलुओं को एक-दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता। पूँजीवादी परियोजनाओं के साथ भी यही बात है। इसके अतिरिक्त, समाजवादी परियोजना किन्हीं खास स्थिर, अपरिवर्तनीय अभिलक्षणों वाली कोई चीज नहीं है, बल्कि इसे स्वयं समाजवाद/साम्यवाद की ओर संक्रमण

के दौरान आधारभूत परिवर्तनों से गुजरना होता है। हम इस मुद्दे की व्याख्या के लिए ठोस उदाहरण बाद में देंगे।

संक्रमण के दौरान, समाजवादी और पूँजीवादी दोनों ही प्रकार की परियोजनाओं की आवश्यकता होती है, इसलिए हम संक्रमण की दिशा का निर्णय किसी एक नीति या किसी पृथक घटना के आधार पर नहीं कर सकते। इसके बजाय, संक्रमण की दिशा तय करने के लिए हमें समग्र विकास पर विचार करने की जरूरत होती है। चीनी संक्रमण के निम्नलिखित विश्लेषण में, हम ठोस उदाहरणों द्वारा दर्शाएंगे कि समाजवादी संक्रमण में समाजवादी परियोजनाओं और पूँजीवादी परियोजनाओं का सहअस्तित्व क्यों आवश्यक था। और किस तरह इसी समय समाज को आगे बढ़ाने के लिए समाजवादी परियोजनाओं ने पूँजीवादी परियोजनाओं के साथ प्रतिस्पर्धा की और उन्हें पछाड़कर उनका स्थान ले लिया। इसके अतिरिक्त, हम ठोस उदाहरणों के जरिये यह भी दर्शाएंगे कि किस तरह सुगठित पूँजीवादी परियोजनाओं के क्रियान्वयन से संशोधनवादियों के लिए संक्रमण की दिशा को उलट देना संभव हो पाया।

II. समाजवादी संक्रमण के दौरान चीन के ठोस अनुभव

जैसा कि हमने पहले चर्चा की है, समाजवादी संक्रमण की दिशा के बारे में कुछ सामान्य और मोटा-मोटी दिशानिर्देश हैं। उस चरण में, जिसे कम्युनिज्म का आरंभिक चरण कहते हैं, विकास ऐसी अवस्था तक होता है जिसमें उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष उत्पादक का नियंत्रण होता है और वितरण “सबको उसके श्रम के अनुसार” किया जाता है। इस सामान्य दिशा-निर्देश को ध्यान में रखते हुए, विगत चालीस वर्षों में विभिन्न ठोस ऐतिहासिक परिघटनाओं का अध्ययन करते हुये चीन के अनुभवों से हम बहुत कुछ सीख ले सकते हैं। समग्रता में देखने पर, 1949 से 1978 तक की अवधि में चीन की ठोस ऐतिहासिक परिघटनाओं और नीतियों का विश्लेषण यह बताता है कि संक्रमण की दिशा कम्युनिज्म की ओर थी, इसलिए यह समाजवादी संक्रमण काल था। 1978 में देङ के सुधारों ने एक झटके से समाजवादी संक्रमण को खत्म कर दिया और संक्रमण की दिशा पूँजीवाद की ओर उलट दी। विगत 16 वर्षों में देङ के सुधारों के तहत ठोस नीतियों ने स्पष्ट कर दिया है कि उनकी दिशा पूँजीवादी की ओर है। इस प्रकार 1979 से अब तक की अवधि पूँजीवादी संक्रमण की है।

अपने विश्लेषण में हम यह बताने के लिए ठोस उदाहरण देंगे कि क्यों 1949 से 1978 के बाद संक्रमण समाजवादी था और किस तरह 1979 के बाद देङ के सुधारों द्वारा इसकी दिशा उलट गयी। यहाँ विभिन्न अवधियों की नीतियों की जाँच यह देखने के लिए की गयी है कि वे पूँजीवादी परियोजनाओं की स्थापना के लिए थीं या समाजवादी परियोजनाओं के लिए।

1. समाजवादी और/या पूँजीवादी परियोजनाओं का क्रियान्वयन

अ. भूमि-सुधार से सामूहिक क्षेत्र में जन कम्यूनों तक[3]

समाजवाद की ओर संक्रमण के काल में, समाजवादी तथा पूँजीवादी दोनों ही प्रकार की परियोजनाएँ एक साथ होती हैं। उदाहरण के लिए, चीन में समाजवादी संक्रमण काल (1949-78) में भूमि-सुधार, अपने आप में देखें, तो पूँजीवादी परियोजना था। हालाँकि, यह दीर्घकालिक समाजवादी रणनीति का आवश्यक अंग था। 1949 और 1952 के बीच, चीन के ग्राम्यांचलों के नये मुक्त क्षेत्रों में भूमि सुधार पूरा किया गया। अपने जीवन में पहली बार करोड़ों किसानों ने जमीन के टुकड़ों का मालिकाना पाया, जो कि औसतन केवल 0.2 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति थी। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपनी जमीन पर काम किया। 1949 से 1952 तक की तीन वर्ष की अवधि के दौरान, अनाज और कपास दोनों का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ा हालाँकि, 1953 और 1954 के दोनों वर्षों में अनाज का उत्पादन स्थिर रहा और कपास का उत्पादन तो दरअसल, तेजी से घटा।[4]

सौ वर्षों से भी अधिक समय से युद्ध की विभीषिका झेलने और इससे भी अधिक समय से जमीदारों की सम्पूर्ण उपेक्षा की वजह से चीन में कृषि के लिए स्वाभाविक वातावरण जर्जर हो गया था और यहाँ की अतिदुर्लभ कृषियोग्य जमीन बंजर थी, बहुसंख्यक किसान आबादी के पास जमीन के बंजर टुकड़ों के मालिकाने के अलावा और कोई उत्पादन का उपकरण नहीं था। गरीब और निम्न मध्य वर्ग किसान परिवारों, जो चीन की कुल किसान आबादी के 60%-70% थे, के पास, खेती के औजार और खेती में काम आने वाले पशुओं की तो बात छोड़िये, बहुतों के पास हल भी नहीं थे। कृषि उपकरणों के बगैर, केवल उत्साह के दम पर उत्पादन में वृद्धि को लगातार जारी नहीं रखा जा सकता था। इसके अलावा, 1953 और 1954 में बाढ़ और सूखे से भी बहुत से कृषि क्षेत्र प्रभावित हुए थे। कुछ किसान जो निजी साधनों के बल पर डटे हुए थे, वे भी इन प्राकृतिक आपदाओं के सामने अवश हो गये। फिर, कोई निजी दुर्घटना, जैसे बीमारी या परिवार में किसी सदस्य की मौत आदि भी किसी किसान परिवार को कर्ज में डुबा देती थी। जब सूदखोरी की वजह से कर्ज का बोझ बढ़ता था, बहुत से किसानों को अपनी जमीन बेचनी पड़ती थी। सहकारी आन्दोलन शुरू होने के पहले, जमीन की खरीद-फरोख्त और साहूकारी प्रवृत्ति उभर रही थी और स्वयं को खेत-मजदूर के रूप में किराये पर लगाने वाले किसानों की संख्या भी बढ़ रही थी।[5] अगर सहकारी आन्दोलन नहीं हुआ होता, तो यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़े हुए भू-स्वामित्व के पुनर्केंद्रण तक जा पहुँचती।

1954 के आसपास, जब किसानों ने स्वयं को परस्पर सहायता दलों में संगठित किया तो वे इस कठिन परिस्थिति से उबरने की राह ढूँढ़ रहे थे। परस्पर सहायता दलों में, वे अपने उत्पादक उपकरणों (खेती में काम आने वाले जानवर, कुदाल, गाड़ियाँ) और अपनी श्रमशक्ति की परस्पर साझेदारी करते थे, ताकि उत्पादन बढ़ाया जा सके। उन्होंने मानव श्रम शक्ति की जगह कृषि उपयोगी पशुओं का उपयोग किया। 1955 में, उन्होंने एक और कदम आगे बढ़ाया और प्रारंभिक सहकारी संस्थाओं का गठन किया। इन सहकारी संस्थाओं में सदस्य अपने उत्पादक उपकरण संगठन को उधार देते थे और इसके बदले उत्पादन का एक हिस्सा प्राप्त करते थे। परस्पर सहायता दल और प्रारंभिक सहकारी संस्थाएँ दोनों ही पूँजीवादी परियोजनाएँ थीं। लेकिन ये दोनों अधिक उन्नत सहकारी संस्थाओं और जन कम्यूनों के गठन की ओर आवश्यक कदम थे और इस तरह समग्र समाजवादी रणनीति के अंग थे। उन्नत सहकारी संस्थाओं का गठन 1958 में महान अग्रवर्ती छलाँग

आन्दोलन के साथ हुआ। उन्नत सहकारी संस्थाओं के चरण में जिन किसानों के पास अपने उत्पादक उपकरण थे, उन्होंने उन उपकरणों को सहकारी संस्थाओं को बेच दिया। इस स्तर पर वितरण केवल किये गये श्रम के अनुसार होता था; सदस्यों को अब उनकी पूँजी (मृत श्रम) के हिस्से के अनुसार उत्पादन में हिस्सा नहीं मिलता था। वितरण से पहले, सभी कर चुका दिये जाते थे और फिर सकल आय का एक भाग निवेश के उद्देश्यों के लिए संचय निधि में अलग से रख दिया जाता था। इसके बाद, शेष में से, प्रत्येक सदस्य को साल भर में उसके द्वारा किये गये श्रम के आधार पर वितरित किया जाता था। इसलिए जहाँ तक वितरण का सवाल है, उन्नत सहकारी संस्थाएं एक समाजवादी परियोजना थीं। चूँकि भूमि सुधार, परस्पर सहायता दल और आरंभिक सहकारी संस्थाएँ, ये सब पूँजीवादी परियोजनाएँ थीं, इसीलिए माओ की यह मान्यता थी कि आरंभिक सहकारी संस्थाओं और जन कम्यूनों के गठन के लिए नेतृत्व चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को प्रदान करना चाहिये। अन्यथा, समाजवादी विकास की जगह पर पूँजीवादी विकास होगा। यही वह समय था जब चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में माओ के विरोधियों ने उनके इस कदम का भीषण विरोध किया। यहाँ इस बात पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि भूमि सुधार केवल काश्तकारी भू-स्वामित्व व्यवस्था को ही समाप्त करता है, जब भूमि पुराने जमीन्दार वर्ग से छीनकर किसानों में वितरित कर दी जाती है। कई मामलों में, जिसमें चीन भी शामिल है, भूमि-सुधार के बाद स्थिति स्थिर नहीं रही, क्योंकि किसान परिवार, जिनके पास जमीन के छोटे टुकड़ों के अलावा कोई भी उत्पादक उपकरण नहीं था ठीक तरह से अपना भरण-पोषण भी नहीं कर पा रहे थे। चीन में भूमि सुधारों के तुरन्त बाद, कुछ किसानों ने व्यक्तिगत दुर्घटनाओं या प्राकृतिक आपदाओं की वजह से अपनी जमीनें बेचनी शुरू कर दीं। तीसरी दुनिया के कई देशों में ऐसी ही स्थिति थीः भूमि सुधार के बाद किसान अपना भरण-पोषण भी नहीं कर सके और परिणामस्वरूप उन्हें अपनी जमीनें बड़े व्यावसायिक फार्मों के मालिकों को बेचनी पड़ीं। इन मामलों में भूमि सुधारों ने भू-स्वामित्व पुराने भू-स्वामी वर्ग से छीनकर नये पूँजीपति वर्ग के हाथों में सौंप दिया और इस तरह पूँजीवादी विकास में मदद दी।

1958 में शुरू हुई कम्यून प्रणाली एक राजनीतिक और प्रशासकीय इकाई थी, जिसने उन्नत सहकारी संस्थाओं के आर्थिक संगठन को अपनाया। कम्यून व्यवस्था के अन्तर्गत, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के तीन स्तर थेकम्यून, ब्रिगेड और टीम। कम्यून, बड़े उत्पादक उपकरणों, जिनमें सिंचाई और निकासी व्यवस्था तथा विद्युत स्टेशन आदि शामिल थे, के स्वामी थे। ये साधन कम्यूनों के सभी सदस्यों के लिए उपलब्ध थे। अगले स्तर पर उत्पादन ब्रिगेड था। इनके स्वामित्व वाले उपकरण, जिनमें चक्की और सिलाई केन्द्र आदि शामिल थे, सभी टीमों के सदस्यों द्वारा इस्तेमाल किये जा सकते थे। इसके अलावा, कम्यूनों व ब्रिगेडों ने, पहले-पहल 1960 के दशक के मध्य से विभिन्न प्रकार की उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करने वाली औद्योगिक इकाइयों को खड़ा करना भी शुरू किया। टीमें वे आधारभूत आर्थिक गणना इकाई थीं जहाँ सदस्यों को काम सौंपे जाते थे। और उनके काम के आधार पर वर्क प्वाइंट (गोंग फेन) दर्ज किये जाते थे तथा टैक्स, संचय निधि, कल्याण निधि, अनाज कोटा आदि मद घटाकर कार्य के अनुसार वितरण किया जाता था। संचय निधि कृषि यंत्रों, मशीनरी और उपकरणों में निवेश हेतु एकत्र की जाती थी। कल्याण निधि उन परिवारों की सहायता के लिए थी जिनके पास उत्पादक श्रम नहीं था। और अनाज का कोटा अनाज की वह निश्चित मात्रा थी जो समूह के हर सदस्य (चाहे वह युवा हो वृद्ध, उत्पादक हो या अनुत्पादक) को मिलती थी। 1976 में माओ-त्से-तुङ की मृत्यु तक, 1958 से 1978 की अवधि में उनके नेतृत्व में जिन वर्ग शक्तियों ने कम्यून (समाजवादी परियोजना के रूप में) का समर्थन किया, उन्होंने प्रत्यक्ष उत्पादकों के अधिक नियंत्रण का अनुमोदन करने वाली तथा मजदूरों और किसानों के गँठजोड़ को और मजबूत बनाने वाली नीतियों को बढ़ावा दिया।

कम्यून प्रणाली के तहत, समूह का एक युवा एवं समर्थ सदस्य, जो सर्वाधिक मेहनत वाला या कोई ऐसा काम जिसमें अनुभव या दक्षता की दरकार हो, करता था, प्रत्येक कार्यदिवस के लिए ज्यादा से ज्यादा दस वर्क प्वाइंट प्राप्त कर सकता था (समूह का एक सदस्य एक दिन में 10 अंक तभी पा सकता था, जब वह दूसरों के साथ सहयोगी हो और काम के प्रति उसका नजरिया ठीक हो।) यदि वह वर्ष में 300 दिन काम करता था, तो साल में 3,000 वर्क प्वाइंट पाता था। कोई दूसरा उम्रदराज या और कमजोर सदस्य जो कम मेहनतवाला काम करता हो, जिसमें कम अनुभव या/और दक्षता चाहिये, एक कार्य दिवस के लिए अधिक से अधिक 6 वर्क प्वाइंट प्राप्त कर सकता था। यदि वह साल में 200 दिन काम करता था, तो उसे 1200 अंक मिलते थे। हर सदस्य द्वारा प्रतिदिन प्राप्त किये गये वर्क प्वाइंट समूह के सदस्यों द्वारा बैठकों के दौरान बहसों और चर्चाओं के माध्यम से तय किये जाते थे। इन वर्क प्वाइंटों के आधार पर प्रत्येक सदस्य को टीम की शुद्ध आय में एक हिस्सा (संचय निधि, कल्याण निधि और अनाज कोटा घटाने के बाद) मिलता था। मौद्रिक रूप में एक वर्क प्वाइंट का मूल्य, समूह की शुद्ध आय (सभी मद घटाने के बाद) को सभी सदस्यों द्वारा प्राप्त किये वर्क प्वाइंट से विभाजित करने से प्राप्त मान के बराबर होता है। टीम के सदस्यों के वर्क प्वाइंट का कुछ भाग अनाज के रूप में तो कुछ नकदी के रूप में मिलता था। टीम के सबसे मेहनती और सबसे कमजोर सदस्य की आय में अधिकतम अन्तर का अनुपात तीन गुने से अधिक नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त टीम बच्चे, बूढ़े और कमजोर सदस्यों को उनके श्रम के अतिरिक्त अनाज कोटा प्रदान करके सहायता करती थी। इस समाजवादी परियोजना ने अनुत्पादक कार्यों से होने वाली आय को समाप्त किया और आय के अन्तर को सीमित किया। दूसरे शब्दों में, उत्पादन का वितरण अब मुख्यतः किये गये काम की मात्रा के साथ काम की सघनता और/या श्रमिक के अनुभव, दक्षता तथा काम के प्रति उसके नजरिये से निर्धारित होने लगा था।

कम्यून के सदस्यों की अपनी निजी जमीनें (एक पूँजीवादी अवयव) भी थीं जहाँ वे अपने खाने के लिए या बेचकर नकद प्राप्त करने के लिए थोड़ी सब्जियाँ उगाया करते या कुछ मुर्गियाँ या एकाध सूअर पाल लेते थे। इन निजी जमीनों का आकार सीमित था और परिवारों को इनसे प्राप्त आय उनके निजी श्रम का ही प्रतिफल हुआ करता था। किन्तु, यदि निजी खेतों की सीमा निर्धारित नहीं होती, (आगे देखें "तीन स्वतंत्रताएं और एक अनुबन्ध" के बारे में चर्चा) तो बड़े खेतों से प्राप्त अधिक आय से परिवारों को नये उत्पादक उपकरण खरीदने का मौका मिलता और इसके साथ पुनः अधिक उत्पादन से अधिक आय

प्राप्त करने के अवसर भी। दूसरी ओर, जब तक किसान अपनी निजी खेती में एक दिन के श्रम से, टीम की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त कर पा रहा था, उसे यह निजी सम्पत्ति छोड़ने के लिए राजी करना मुश्किल था। पर, 1970 से कुछ बहुत समृद्ध कम्यूनों में निजी जमीनें खत्म होने लगीं, क्योंकि ब्रिगेडों और कम्यूनों द्वारा 1960 के मध्य में बनायी गयी औद्योगिक दुकानों के समृद्ध होने के साथ वर्क प्वाइंट के मूल्य में परिणामी वृद्धि सामने आयी। अब समूह के सदस्यों को हासिल हो सकने वाले वर्क प्वाइंट का मूल्य निजी श्रम से प्राप्त आय से अधिक हो गया था। इसलिए निजी खेतियों में मेहनत करना लोगों के लिए अनाकर्षक हो गया।

कम्यून व्यवस्था, जो कि एक समाजवादी परियोजना थी, से अधिकांश किसानों को लाभ पहुँचा। हजारों वर्षों में पहली बार ऐसा हुआ कि चीनी किसान सुरक्षित जीवन जी रहे थे। गारंटीशुदा अनाज कोटे से प्राप्त अनाज उनके खाने को पर्याप्त था। वर्क प्वाइंट से मिली नकदी से वे कपड़े, जूते, तौलिए, साबुन, गर्म पानी की बोतलें और जीवन के लिए अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदते थे। उनके बच्चे पाठशाला जाते थे और शिक्षा प्राप्त करते थे। उनकी छोटी-मोटी चिकित्सकीय जरूरतों का ख्याल रखने के लिए गाँव-गाँव घूमकर इलाज करने वाले डाक्टर (Barefoot doctors) थे, तथा गंभीर बीमारियों के लिए कम्यून या काउंटी अस्पताल थे। बड़ी बीमारियों में कुछ चिकित्सा खर्च तो उन्हें देना पड़ता ही था, लेकिन यह बहुत कम होता था। बसन्त की रोपाई/बुवाई/खेती के दौरान उन्हें बीजों और उर्वरकों के लिए कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। संचय निधि से पुराने पड़ चुके औजारों को बदलकर नये औजार लाये जाते थे। फसल की कटाई के समय उन्हें अनाजों की बिक्री या घट-बढ़ रहे बाजार भावों की कोई फिक्र नहीं रहती थी। जिन परिवारों के पास उत्पादक श्रम नहीं था, उन्हें भोजन, आवास चिकित्सा, वृद्धों के लिए सहायता तथा मृतक के अन्तिम संस्कार के लिए व्ययये पाँच न्यूनतम गारंटियाँ प्राप्त थीं। जाड़े के महीनों में, जब खेती का काम कम होता था, कम्यून अपने सदस्यों को बुनियादी ढाँचा जैसे, सिंचाई और निकासी व्यवस्था तथा सड़कें, विद्युत स्टेशन आदि बनाने के लिए संगठित करते थे। वे खेतों में भी कड़ी मेहनत करते थे, जमीन को समतल करते थे, छोटी-छोटी खाड़ियों/दरारों को मिट्टी से पाटते थे, जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक साथ मिलाकर उसे कृषि आधारित मशीनरी के उपयोग के लिए तैयार करते थे। 1970 के दशक के दौरान, कम्यूनों ने "ताचाई मॉडल से सीखो" आह्वान का प्रत्युत्तर दिया। और हर वर्ष 8 करोड़ किसानों ने कृषि भूमि पूँजी निर्माण (Farmland Capital Construction) कार्य में सहभागिता की, जो कुल मिलाकर 80 करोड़ कार्य दिवसों के बराबर थी। यह अनुमानित था कि 1970 के दशक के पूर्वार्द्ध और मध्य में, कुल ग्रामीण श्रम शक्ति का 39% हिस्सा भूमि सम्बन्धी कार्यों और बुनियादी ढाँचा खड़ा करने के काम में लगाया गया।[6]

कम्यून वितरण प्रणाली के अन्तर्गत जो आय किसान प्राप्त करते थे वह मूलतः उनके रोजमर्रा के खर्चे के लिए थी; संचय निधि तो किसानों में वितरण के पूर्व ही कुछ आय में से निकाल ली जाती थी। संचय निधि दीर्घकालिक विकास में निवेश के लिए होती थी। जब किसानों के पास रोज की जरूरतों से अधिक आय होती थी तो वह इसे या तो आकस्मिक निधि में दे देते थे या फिर इससे वह सुविधा की वस्तुएँ जैसे साइकिल, सिलाई मशीन, घड़ियाँ, रेडियो आदि खरीद लेते थे। कम्यून प्रणाली के अन्तर्गत, किसानों के पास अपनी बचत को पूँजी में बदलने के अवसर या तो बिल्कुल नहीं या नाममात्र के थे।

वैसे तो अधिकांश कम्यून अच्छा प्रदर्शन कर रहे थे, परन्तु गरीब कम्यूनों की भी अच्छी खासी संख्या थी। गरीब कम्यूनों के पास बंजर जमीनें थीं और ये ऐसी जगहों में थे जहाँ बाढ़ और सूखे अपेक्षाकृत अधिक होते थे। वहाँ हर साल बहुत कम बेशी बच पाती थी, इसलिए उत्पादन बढ़ाने के लिए ज्यादा निवेश नहीं किया जा सकता था। इन कम्यूनों को अक्सर राजकीय सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था, पर राजकीय सहायता भी सीमित थी। सामूहिक स्वामित्व के अन्तर्गत एक टीम या ब्रिगेड के अन्दर वितरण तो समान था, पर इसी समय समृद्ध ब्रिगेड/कम्यून और अधिक समृद्ध होते जा रहे थे तथा विपन्न ब्रिगेड/कम्यून और अधिक पिछड़ते जा रहे थे। 1960 के दशक के मध्य के बाद, आय का यह अन्तर और बढ़ता गया जब ब्रिगेडों और कम्यूनों ने खुद के उद्योग खड़े करने शुरू किये। जिन ब्रिग्रेडों/कम्यूनों की बेशी अधिक होती थी, वे इन उद्योगों में निवेश करने में सक्षम थे और बदले में और अधिक पूँजी संचय कर रहे थे। जहाँ बड़े राजपथ और रेल लाइनें थीं, वहाँ इन ब्रिगेडों/कम्यूनों को बढ़िया स्थान का फायदा भी था। इनका फायदा उठाकर वे दूर-दराज के क्षेत्रों में भी अपना उत्पादित माल आसानी से बेच पाते थे। गरीब कम्यून उन इलाकों में थे जहाँ जमीनें अनुपजाऊ थीं और यातायात व्यवस्था ढंग की नहीं थी। यह सामूहिक स्वामित्व की सीमा थी। जब एक ब्रिगेड अपने उद्योगों के विकसित होने से समृद्ध होता था, तो यह समृद्धि ब्रिगेड के सभी सदस्यों तक ही सीमित रहती थी। ब्रिगेडों के बीच वस्तुओं का आदान-प्रदान समान मूल्य विनिमय पर आधारित था। इसलिए, कम्यून के भीतर भी, गरीब और अमीर ब्रिगेड थे। समान मूल्य विनिमय का नियम कम्यूनों के बीच विनिमय पर भी लागू होता था। 1970 के अन्त तक, सम्पन्न और विपन्न कम्यूनों के बीच आय का अनुपात संभवतः 10:1 का हो चुका था। सामूहिक स्वामित्व ग्रामीण क्षेत्रों में आय के बढ़ते अन्तर की समस्या का समाधान नहीं कर सका था। राज्य ने गरीब क्षेत्रों को राजकीय सहायता देकर आय के बढ़ते अन्तरों का पाटने का प्रयास किया, लेकिन राजकीय सहायता की मात्रा सीमित थी। जब तक आधारभूत आर्थिक गणना इकाइयों का विस्तार नहीं किया जाता तब तक असमान विकास को और भी बढ़ते जाना था। माओ दो प्रकार के स्वामित्वोंराजकीय स्वामित्व और सामूहिक स्वामित्वके सहअस्तित्व से चिन्तित थे, और वह परिस्थिति बिगड़ने से पहले इस अन्तरविरोध के समाधान की जरूरत के प्रति गंभीर रूप से सजग थे।

ब. राजकीय क्षेत्र में समाजवादी परियोजना[7]

जैसा कि हमने पहले चर्चा की है, 1956 में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का राज्य को वैध हस्तान्तरण समाजवाद के प्रस्थान बिन्दु का द्योतक नहीं है। वैध हस्तान्तरण के बाद लागू नीतियाँ ही तय करती हैं कि संक्रमण पूँजीवादी है अथवा समाजवादी। 1956 और 1978 के बीच ठोस नीतियों पर आधारित राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रम समाजवादी परियोजना थे। इस अवधि में इन उपक्रमों पर राज्य का प्रभावी नियंत्रण था। व्यक्तिगत उपक्रमों के पास उत्पादन के

साधनों का स्वामित्व तो था, लेकिन यह राज्य द्वारा राजनीतिक नियंत्रण के जरिये प्रभावी ढंग से सीमित कर दिया गया था। राज्य ही, आर्थिक नियोजन करके यह तय करता था कि कौन सा उपक्रम किस तरह के उत्पाद का उत्पादन करेगा और उत्पादन की श्रेणियाँ और उनकी मात्रा क्या होंगी। आर्थिक योजना में, राज्य ही उपक्रमों द्वारा राज्य को "बेचे जाने वाले" उत्पाद का "दाम" निर्धारित करता था और यह भी वही तय करता था कि उपक्रमों द्वारा राज्य से "खरीदे जाने वाले" कच्चे माल और मशीनरी की कीमत क्या हो। उपक्रमों को राज्य से वेतन निधि भी प्राप्त होती थी जो मजदूरों के वेतन तथा अन्य लाभों के लिए होती थी। प्रत्येक वित्त वर्ष के अन्त में, उपक्रम अपने "लाभ" ("प्राप्तियों" में से "मूल्यह्रास छोड़कर लागत" घटाकर) राज्य को सौंप देते थे। जिन उपक्रमों को "हानि" होती थी उन्हें राज्य सब्सिडी देता था। तत्पश्चात, आर्थिक योजना के अनुरूप राज्य, उपक्रमों को उत्पादन बढ़ाने हेतु नये उपकरण, मशीनरी खरीदने तथा भवन निर्माण आदि के लिए धन भी मुहैया कराता था। चीन में व्यक्तिगत उपक्रमों के ऊपर ये सभी वैध नियंत्रण स्थापित करने में, राज्य समर्थ था; दरअसल इन उपक्रमों के स्वामित्व के प्रयोग पर राज्य का अधिनायकत्व था। दूसरे शब्दों में, उत्पादन के साधनों पर राज्य का वैध स्वामित्व और आर्थिक नियंत्रण दोनों था। (वैध स्वामित्व और आर्थिक स्वामित्व का अन्तर महत्वपूर्ण है।) पर अभी भी, राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रमों में निजी पूँजी के अवयव विद्यमान थे। सांस्कृतिक क्रान्ति से पहले तक, पूँजीपति राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धन में संलग्न थे और उन्हें एक निश्चित लाभांश प्राप्त होता था। परन्तु उन पर कठोर राजकीय नियंत्रण था और राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रमों के विस्तार के साथ उनमें लगी निजी पूँजी का अंश भी अपेक्षाकृत कम होता चला गया।

राजकीय उपक्रम समाजवादी परियोजना है और राजकीय उपक्रमों की दिशा माल उत्पादन तथा उजरती श्रम को समाप्त करने की ओर होती है। 1956 से 1978 के बीच की अवधि के दौरान, आर्थिक परिस्थितियाँ, उपक्रमों पर स्थापित वैध नियंत्रण के अनुरूप ही थीं। राज्य ने उपक्रमों (उत्पादन इकाइयों) के सिर से "लाभ" या "हानि" की जिम्मेदारी का बोझ हटा लिया था। उपक्रम अपना सारा उत्पादन राज्य को पूर्वनिर्धारित दामों पर बेचते थे, इस तरह अलग-अलग राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धकों को मूल्य वर्धन की प्रक्रिया में लगने के मौके नहीं के बराबर मिलते थे। जब समाजवादी परियोजनाएँ आर्थिक नियोजन में शामिल हुई तो उत्पादन का उद्देश्य बदलकर मूल्य वर्द्धन की बजाय लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना हो गया। इसी समय, नियोजन ने ऐसी आर्थिक नीतियों को लागू करना संभव बनाया जो दीर्घकालिक आर्थिक विकास पर केन्द्रित थीं। प्रत्येक उपक्रम में मजदूरों के लिए निश्चित वेतन और लाभ तय कर दिये गये। इन उपक्रमों के प्रबन्धकों को, राज्य की ओर से मजदूरों को दिये जाने वाले वेतन और अन्य लाभ जोड़कर वेतन निधि का भुगतान किया जाता था। वेतन निधि के सीधे सरकार से मजदूरों को हस्तान्तरण (उपक्रमों के माध्यम से) होने के कारण प्रबन्धकों की जिम्मेदारी कम हुई। अब उनके ऊपर यह दबाव नहीं था कि वे उत्पादन या राजस्व (कुल प्राप्तियों) में से मजदूरों का वेतन निकालें और न ही उनके पास मजदूरों के अतिरिक्त श्रम का शोषण करने की शक्ति थी। उत्पादों और/या कच्चे मालों की "कीमत" उनके मूल्य के अनुसार तय नहीं होती थी और लाभ या हानि किसी उपक्रम की सफलता या असफलता का पैमाना नहीं था। इसके बजाय, उनके प्रदर्शन के पैमाने भिन्न थे : ये मापक थे "मात्रा, उत्पादन की गति, गुणवत्ता और कच्चे मालों एवं श्रम की बचत।" अधिकांश राजकीय उपक्रम न केवल इन लक्ष्यों को पूरा करते थे, बल्कि लक्ष्यों को बढ़ाने और लक्ष्य प्राप्ति के अपने ही पिछले कीर्तिमानों को तोड़ने का हरसंभव प्रयास भी करते थे।

राजकीय स्वामित्व और राजनीतिक हस्तक्षेप की वजह से ही राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धक पूँजी के दलाल बन जाने से बच पाये, और इस तरह ये दो कदम उजरती श्रम के खात्मे की दिशा में उठाये गये कदम थे। राजकीय उपक्रमों के मजदूरों को स्थायी रोजगार, आठ घंटे के कार्य दिवस और आठ-ग्रेड वाली वेतन प्रणाली प्राप्त थी। उन्हें चिकित्सा लाभ, सस्ता भोजन, आवास और शिशु-देखभाल जैसी सुविधायें मिलती थीं। मजदूर मातृत्व और अस्वस्थता अवकाश तथा सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन और अन्य लाभ प्राप्त करने के भी अधिकारी थे। पूँजीवादी देशों में औद्योगिक मजदूरों को यही सब अधिकार प्राप्त करने के लिए वर्षों तक रक्तरंजित संघर्ष करने पड़े। लेकिन, चीन के मजदूरों को ये अधिकार राज्य की राजनीतिक सत्ता द्वारा रातोंरात मिल गये।

हालाँकि, राज्य के मजदूरों और पार्टी पदाधिकारियों के बीच एक अन्तरविरोध अब भी था। राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धक, जिनके पास उपक्रमों को चलाने की शक्ति और जिम्मेदारी थी, अपनी शक्तियों को भौतिक सुख-समृद्धि में नहीं बदल पा रहे थे। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह था कि, राज्य और पार्टी के वे उच्चतर पदाधिकारी, जो राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धकों पर नियंत्रण लागू करते थे, इस स्थिति में थे कि अपनी शक्तियों का इस्तेमाल खुद को फायदा पहुँचाने में कर सकें। चीन में समाजवादी संक्रमण के दौरान, इस अन्तरविरोध का समाधान जनान्दोलनों के द्वारा समय-समय पर होता रहा। 1979 से सुधारों के प्रारंभ से पहले, शक्तिशाली पदों पर बैठे लोगों को पता था कि वे और उनके कार्य जनता की चौकस निगरानी में हैं।

जैसा कि हमने पहले कहा, समाजवादी परियोजना स्थिर और अपरिवर्तनशील अभिलक्षणों वाली नहीं होती, बल्कि इसे तो समाजवाद/कम्युनिज्म की दिशा में स्वयं ही आधारभूत परिवर्तनों से दो-चार होना पड़ता है। 1956 में चीन में स्थापित राजकीय उपक्रमों जैसी एक समाजवादी परियोजना के जड़ संस्था बनने के सभी खतरे मौजूद थे, यदि राजकीय उपक्रमों में उत्पादन प्रक्रिया के दौरान सतत परिवर्तन (जिनमें कई कार्य नियम भी शामिल थे) नहीं किये गये होते। या यों कहें कि, राजकीय उपक्रमों में प्रबन्धकों और प्रत्यक्ष उत्पादकों/मजदूरों के बीच शासक और शासितों के सम्बन्ध को बदलने के लिए ये सतत परिवर्तन आवश्यक थे। यही कारण था कि माओ त्से-तुङ ने राजकीय उपक्रमों में आनशान संविधान को अंगीकार करने के विचार को खासतौर से महत्वपूर्ण माना। (चर्चा देखें, आगे)

2. समाजवादी संक्रमण के दौरान समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं की दोहरी विशिष्टताएँ

समाजवादी संक्रमण के दौरान, कुछ परिस्थितियों में और भी पूँजीवादी परियोजनाएँ संस्थापित करना आवश्यक हो सकता था। सोवियत संघ की नयी आर्थिक नीति (नेप) इसका एक अच्छा उदाहरण थी। नेप, एक आवश्यक, पीछे हटाया गया कदम था और इसे इसी रूप में

देखा जाना चाहिये। इसलिए, किसी एक घटना या नीति के आधार पर संक्रमण की सामान्य दिशा नहीं तय की जा सकती। वास्तव में, समाजवादी संक्रमण की अवधि में समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाएँ दोनों साथ-साथ होती हैं, तथा इसी समय, ये दोनों परस्पर प्रतियोगिता भी करती हैं।

समाजवादी संक्रमण की अवधि में, कुछ पूँजीवादी परियोजनाएँ स्थापित करना आवश्यक हो सकता है। भूमिसुधार इसका एक उदाहरण है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। कृषि के सामूहिकीकरण के पूर्व भूमि सुधार आवश्यक थे। इसलिए, भूमि सुधार दोहरी चारित्रिक विशिष्टताओं वाली पूँजीवादी परियोजना थी। दोहरे लक्षणों वाली पूँजीवादी परियोजनाएँ इसके अलावा और भी थीं। जुलाई, 1953 में, माओ ने राजकीय पूँजीवाद पर टिप्पणी की। उन्होंने कहा, "वर्तमान समय में चीन की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, ऐसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है, जिसका अधिकांश राजकीय स्वामित्व वाली सामाजिक अर्थव्यवस्था से विविध रूपों में जुड़ा, जनता की सरकार के नियत्रंण में और मजदूरों की देख-रेख में है। यह साधारण नहीं बल्कि एक विशिष्ट प्रकार की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है, जिसे हम एक नये तरह की राजकीय-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का नाम दे सकते हैं। यह पूँजीपतियों के मुनाफे के लिए नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य जनता और राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करना है। यह सच है कि मजदूरों द्वारा पैदा किये गये मुनाफे का एक हिस्सा पूँजीपतियों को मिलता है, लेकिन वह केवल एक छोटा हिस्सा है, कुल का लगभग एक चौथाई। शेष तीन चौथाई उत्पादन मजदूरों के लिए (कल्याण निधि के रूप में), राज्य के लिए (आयकर के रूप में) और उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए (जिसका एक भाग पूँजीपतियों के लिए मुनाफा पैदा करता है) होता है। इसलिए, एक नये प्रकार की इस राजकीय-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का चरित्र काफी हद तक समाजवादी है और यह मजदूरों तथा राज्य को फायदा पहुँचाती है।"[8]

लोकगणराज्य के आरंभिक वर्षों और 1978 के बीच की अवधि, समाजवादी संक्रमण की अवधि थी, जिसमें समाजवादी परियोजनाएँ पूँजीवादी परियोजनाओं के साथ होड़ में थी। पूँजीवादी परियोजनाओं की भान्ति ही, समाजवादी परियोजनाएँ भी दोहरे लक्षणों वाली थीं। समाजवादी परियोजना में पूँजीवादी अवयव भी होते हैं और कम्युनिस्ट भी। किसी परियोजना को समाजवादी परियोजना कहना केवल उसके प्रधान पहलू को इंगित करता है। उदाहरण के लिए राजकीय उपक्रम समाजवादी परियोजना थे, लेकिन अभी तक उनमें प्रत्यक्ष उत्पादकों और प्रबन्धकों का सम्बन्ध शासितों और शासक का था, जो कि एक पूँजीवादी तत्व था। समाजवादी संक्रमण के दौरान इन पूँजीवादी अवयवों से पीछा छुड़ाने के लिए परिवर्तन आवश्यक थे। इसके अतिरिक्त समाजवादी संक्रमण की इस अवधि की समाप्ति तक चीन में दो प्रकार के स्वामित्व थेराजकीय और सामूहिक, तथा अभी तक श्रम के अनुसार वितरण का कोई राष्ट्रीय पैमाना नहीं था। स्वाभाविक था कि राजकीय क्षेत्र का एक मजदूर अपने श्रम के लिए, एक किसान के उतने ही श्रम से प्राप्त आय से, कहीं अधिक पाता था। राजकीय मजदूरों को अन्य अनेक लाभ/सुविधाएँ भी मिलती थीं, (चिकित्सा, शिक्षा, अवकाश पेंशन, बच्चों की देखभाल और अधिक भी) जो किसानों को प्राप्त नहीं थीं। अलग-अलग कम्यूनों के किसानों में भी अन्तर थे। एक समृद्ध कम्यून (टीम, ब्रिगेड) के वर्कप्वाइंट का मूल्य अपेक्षाकृत पिछड़े कम्यून (ब्रिगेड, टीम) के वर्कप्वाइंट के मूल्य से कहीं ज्यादा था। राजकीय मजदूरों के लिए आठ श्रेणियों वाली वेतन-प्रणाली भी थी। यदि समाजवादी संक्रमण आगे जारी रहता, तो दो प्रकार का स्वामित्व समाप्त होकर एक प्रकार का स्वामित्व शेष रह जाता। राष्ट्रीय स्तर पर श्रम के अनुसार वितरण करने में तो कई और वर्ष लगते। और जब अन्ततोगत्वा वितरण पूर्णतः श्रम के अनुरूप होने लगता तब भी वह एक बुर्जुआ अधिकारएक गैर कम्युनिस्ट तत्व होता।

हालाँकि, 1958 में ही चीन की मेहनतकश जनता श्रम के अनुरूप वितरण के समान विनिमय सिद्धान्त की उपेक्षा कर रही थी। महान अग्रवर्ती छलांग के समय, चीनी जनता समाजवादी चीन बनाने के प्रयास में इतनी उत्साही थी कि लोग अपनी मेहनत के लिए बगैर समान वितरण माँगे देर रात तक काम करते रहते थे। इसलिए, समाजवादी संक्रमण के प्रारंभिक चरण में भी कम्युनिस्ट तत्वों का होना संभव है। ताचाई के किसानों और ताचिङ के मजदूरों के शौर्यपूर्ण उदाहरणों से राष्ट्र सीख लेता था। चेन युङ-की के नेतृत्व में ताचाई के किसानों ने विकट परिस्थितियों को जीत लिया। वे कड़ाके की ठंड में बिना आराम किये देर तक काम करते थे, जमीन को समतल करते थे, बाढ़ और सूखा रोकने के लिए सिंचाई व्यवस्था का निर्माण करते थे। उन लोगों के दिमाग में कभी ध्यान से यह हिसाब लगाने का ख्याल भी नहीं आया कि उन्हें अपने एक घंटे के श्रम के लिए कितना मिलेगा। उनकी दिलचस्पी सिर्फ यह जानने में थी कि जो वे कर रहे हैं वह दीर्घकाल में ताचाई के सभी लोगों के लिए फायदेमन्द होगा। इसी तरह, ताचिङ तेल शोधक कारखाने के मजदूरों ने कड़ी मेहनत से अपनी परियोजनाओं को पूरा किया और कहा जाये कि अपनी मेहनत से उन्होंने औद्योगिक चमत्कार कर दिखाया। वे समान कार्य के लिए समान वितरण की अपेक्षा कहीं अधिक महती लक्ष्य से अनुप्राणित थे। माओ ने माना कि इस तरह के कम्युनिस्ट अवयव पूरे समाजवादी संक्रमण के दौरान संभव हो सकते हैं। माओ ने काम के लिए भौतिक प्रोत्साहन के विचार को हतोत्साहित किया। दूसरी ओर, ल्यू और देङ का मानना था कि संक्रमण के दोनों चरण (प्रारंभिक और उन्नत) स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। ल्यू और देङ ने समाजवादी संक्रमण के दौरान हुई वास्तविक परिघटनाओं को समाजवाद के प्राथमिक चरण के लिए समय-पूर्व बताया। माओ के उलट, उन्होंने काम के लिए भौतिक प्रोत्साहन पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया और कहा कि मजदूर मेहनत से काम तभी करेंगे जब उन्हें इसके लिए बोनस दिया जायेगा। वे समाजवादी संक्रमण के दौरान किसी भी कम्युनिस्ट तत्व की संभावना को नहीं मानते थे।

मार्क्स ने भी कहा था कि पूँजीवाद से कम्युनिज्म की ओर संक्रमण में एक आरंभिक चरण होगा और एक उच्चतर चरण। दोनों चरणों की अपनी अलग-अलग विशिष्टताएँ हैं। लेकिन हमारे विचार से उनके कहने का मतलब यह नहीं था कि दोनों चरणों के बीच ऐसा विभाजन है मानो दोनों ही नितान्त भिन्न हों। इस वजह से, समाजवादी संक्रमण में दोनों प्रकार के तत्वपूँजीवादी भी और कम्युनिस्ट भीहो सकते हैं। माओ मानते थे कि पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार की परियोजनाएँ दोहरे चरित्र वाली होती हैं। दूसरी ओर, ल्यू व देङ तर्क रखते थे कि प्रारंभिक चरण में कोई भी कम्युनिस्ट तत्व एक अपरिपक्व कदम होगा। आज यह हमारे सामने बिल्कुल स्पष्ट है कि "समाजवाद

के प्रारंभिक चरण" के प्रयोग, और काम के लिए भौतिक प्रोत्साहन पर जोर देने के पीछे इनका असली मकसद क्या था। वे इनको माल उत्पादन में बढ़ोत्तरी और संक्रमण की दिशा उलटने के लिए अपनी पूँजीवादी परियोजनाएँ स्थापित करने के लिए आड़ के तौर पर इस्तेमाल करते थे।

3. समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं में प्रतिस्पर्धा

अ. सामूहिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा

समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं में प्रतिस्पर्धा का प्रयोग हम क्रान्ति के बाद ग्रामीण क्षेत्रों की परिस्थिति का विश्लेषण करने में कर सकते हैं। भूमि सुधार, जैसा कि चर्चा की गयी है, पूँजीवादी परियोजना थी, लेकिन माओ और कम्युनिज्म की ओर संक्रमण के समर्थकों के नजरिए से यह समग्र समाजवादी रणनीति का ही एक अंग था। जबकि, ल्यू और देङ के लिए भूमि-सुधार उनकी समग्र पूँजीवादी रणनीति का एक हिस्सा था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ सदस्य क्यों शुरू से ही कृषि के सामूहिकीकरण के खिलाफ थे, और उनका यह विरोध जन कम्यूनों के गठन तक जारी रहा। तर्क की इस धारा से यह बताना आसान है कि क्यों चीन की वर्तमान व्यवस्था क्रान्तिकारी युद्धों के दौरान माओ को नायक के रूप में चित्रित करती है, और महान अग्रवर्त्ती छलांग के बाद से एक खलनायक के रूप में।

यद्यपि, भूमि सुधार एक पूँजीवादी परियोजना थी, लेकिन जिस तरीके से इसे लागू किया गया उससे बाद के विकास पर भिन्न प्रभाव पड़ा। चीन में भूमिसुधार भूमि के पुनर्वितरणभूमि के अधिकार जमीन्दारों से छीनकर किसानों को सौंपनेकी महज एक आर्थिक नीति नहीं थी, बल्कि यह आर्थिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक परिवर्तनों के लिए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रायोजित एक व्यापक जानान्दोलन था। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने गरीब और निम्न मध्य वर्ग के किसानों को एकत्र किया और उन्हें जमीन्दारों से जमीन छीनने और उनके जुर्मों का पर्दाफाश करने के लिए संगठित किया। किसानों के उत्साह की लहर समूचे देश में फैल गयीवे ही भूमि सुधार के नायक थे। भूमि सुधार ने सोये हुए किसानों को सक्रिय रूप से भागीदार बनाया, और उनके कार्य भूमि सुधार के परे बाद के सहकारी आन्दोलन तक पहुँचे। किसी भी अन्य जनान्दोलन की तरह, भूमि सुधार आन्दोलन में भी, जनता को अपने विपक्ष के बारे में स्पष्ट होने की जरूरत थी। भूमि सुधार आन्दोलन में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा निर्धारित विपक्ष जमीन्दार और कुछ धनी किसान थे। समूचे भूमि सुधारों के दौरान किसानों ने एक सर्वथा नयी विचारधारा को आत्मसात किया। चूँकि किसान अभी भी शोषण और उत्पीड़न का जीवन जी रहे थे, इसलिए सामन्तवाद की विचारधारा अन्य किसी भी शोषण पर टिके समाज की विचारधारा की भाँतिऐसे शोषण को न्यायोचित ठहराती थी। जनान्दोलन ने इस विचारधारा को उलटकर सिर के बल खड़ा कर दिया, और इसी समय एक नयी विचारधारा को अभिव्यक्ति देकर आत्मसात किया। इस नयी विचारधारा ने डंके की चोट पर कहा कि गरीबों और निम्न मध्यवर्ग के किसानों की मेहनत का फल जमीन्दारों और धनी किसानों द्वारा हड़पा जाना सरासर गलत है और मुट्ठी भर शक्तिशाली लोगों द्वारा सत्ता के नशे में वंचित और कमजोर अवाम से चाकरी कराना भी बिल्कुल गलत है। भूमि सुधारों ने ऐसी लहर और ऐसा वातावरण बनाया कि गरीब और निम्न मध्यवर्गीय किसानों को जिन्दगी में पहली बार अपनी आवाज उठाने के लिए प्रोत्साहन मिला। इन किसानों ने जब अपनी आवाज उठाने की हिम्मत की, तो मुट्ठी भर जमीन्दारों के गंभीर अपराधों का भंडाफोड़ हुआ। भूमि के पुनर्वितरण ने जमीन्दारों और किसानों के बीच के शासक और शासित वाले आर्थिक सम्बन्धों को परिवर्तित किया, इस नयी विचारधारा ने जमीन्दारों और किसानों के बीच के स्वामी-दास सम्बन्धों का उलट कर रख दिया। भूमि सुधारों में व्यापक जनता की भागीदारी ने भूमिहीन किसानों को पिछले अन्यायों को दुरुस्त करने का दृढ़ संकल्प दिया, इसने उनमें नये सिरे से जोश भर दिया और इतना सक्षम बना दिया कि वे भूमि सुधारों को पूर्णता तक और उससे भी आगे ले जा सकें। यही वजह है कि हम यह कहते हैं कि यद्यपि चीन में भूमि सुधार (1949-52) एक पूँजीवादी परियोजना था, लेकिन इस ऐतिहासिक बिन्दु पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की वर्ग अवस्थिति और चीन में संक्रमण की दिशा बिल्कुल स्पष्ट थी।

कृषि के सामूहिकीकरणआरंभिक सहकारी से जन कम्यूनों तकने मजदूरों और किसानों के बीच संश्रय के कायम होने और इसकी मजबूती को संभव बनाया। चीन की मेहतनकश आबादी में चूँकि किसान ही ज्यादा थे इसलिए मजदूरों और किसानों का संश्रय बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ संघर्ष जीतने में निर्णायक कारक था। भूमि सुधारों के बाद अमीर, उच्च मध्यवर्ग, मध्यवर्ग, निम्न मध्यवर्ग और गरीब वर्ग के किसान अस्तित्व में आये थे। सामूहिकीकरण आन्दोलन के बगैर, सर्वहारा भला किसके साथ संश्रय करता? भूमि सुधार के बाद कृषक वर्ग का ध्रुवीकरण, अगर और समय तक चलता तो इसने बुर्जुआ वर्ग को धनी किसानों, जिनके पास बेचने के लिए अतिरिक्त अनाज और अन्यान्य वस्तुएँ थीं, से गठबन्धन कायम करने के बेहतरीन मौके दिये होते। जब राज्य ने 1953 में एकीकृत खरीद प्रणाली लागू करके अनाज और अन्य कच्चे मालों की खरीद-बिक्री पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया, तो यह शहरों के गल्ला व्यापारी और देहात के धनी किसानों के बीच सम्बन्ध समाप्त करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। 1953 के बाद, देहात के धनी किसानों के पास अपना अतिरिक्त अनाज और कच्चा माल राज्य द्वारा तय की गयी कीमतों पर राज्य को बेचने के अलावा और कोई विकल्प रह ही नहीं गया था। इस नीति ने व्यापार और सट्टेबाजी के जरिये समृद्ध होना नामुमकिन बना दिया।

भूमि सुधार दसियों करोड़ लोगों की भागीदारी वाला एक बहुत बड़ा आन्दोलन था। भूमि सुधार ने चूँकि पिछले तीन हजार सालों से भी अधिक समय से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था को बदल डाला था, इसलिए इसे इस सारी उथल-पुथल के दौरान अपनी आर्थिक और राजनीतिक सुविधा खोने वालों का कड़ा प्रतिरोध भी झेलना पड़ा।[9] यह आरंभ से ही एक राजनीतिक संघर्ष था, जो कि आन्दोलन की प्रगति के साथ सघनतर होता गया। जब किसानों ने परस्पर सहायता टीमों और फिर सहकारी खेती का गठन शुरू किया, तो यह जाहिर था कि धनी और उच्च मध्यवर्गीय किसानों, जिनके पास तुलनात्मक रूप से अधिक पूँजी और जमीनें थीं, को इन टीमों या सहकारी संस्थाओं में जाने का कोई लाभ नहीं मिलने वाला था। दूसरी तरफ चीनी कृषक जनता का अधिकांश गरीब और निम्नमध्य वर्ग के किसान थे, जिनके पास नाममात्र के या कोई भी उत्पादक उपकरण नहीं थे और जमीन

के बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़े थे। उन्हें उत्पादन में ही काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, बड़े पैमाने के उत्पादन की तो बात ही क्या थी। कई मामलों में किसान निजी दुर्घटनाओं या प्राकृतिक आपदाओं की वजह से या तो अपनी जमीनें खो चुके थे या फिर खो सकते थे। पारस्परिक सहायता टीमों और सहकारी खेती दोनों ने ही यह साबित किया कि जब वे अपने संसाधनों को इकट्ठा करते थे, उत्पादन बढ़ता था। बीच के किसान जो दोनों में से किसी भी राह जा सकते थे, सहकारी खेती के गठन के लिए महत्वपूर्ण थे। इनके पास कुछ जमीन थी, कुछ उत्पादक यंत्र थे और घर में ही दो-तीन मजबूत मजदूर थे, इसलिए वे खुद ही अपनी गाड़ी ठीक-ठाक चला लेते थे। वे धनी किसान बनने की आशाओं से उत्प्रेरित थे। यद्यपि गरीब और निम्न मध्यवर्गीय किसान सामूहिक फार्म बनाने के लिए उत्साहित थे, उनके अत्यल्प संसाधनों के बल पर यह मुश्किल था और वे इसे अकेले नहीं कर सकते थे। धीरे-धीरे मध्यवर्गीय किसान सहकारी खेती के अच्छे परिणाम से आकर्षित हुए। मध्यवर्गीय किसान के सहकारी खेती में आने के बाद धनी और उच्च मध्यवर्ग अलग-थलग पड़ गया। अधिक जमीन और उपकरण होने के बावजूद उन्हें काम करने वाला कोई मिलता ही नहीं था क्योंकि अब सबके सब सहकारी खेती में थे। उन्हें "जबरदस्ती" सहकारी खेती में शामिल होना पड़ता था। सम्पन्न और उच्च मध्यवर्गीय किसानों द्वारा दूसरों के श्रम के शोषण और इससे उनके उत्तरोत्तर और सम्पन्न होने की राह रोकने के लिए सहकारी खेती का गठन ही एकमात्र रास्ता था।

सहकारी आन्दोलन के दौरान, सहकारी खेती का गठन करने वाले काडरों को माओ ने बार-बार याद दिलाया कि सहकारी खेती का नेतृत्व इस आन्दोलन के मजबूत समर्थकों गरीब और निम्न मध्यवर्गीय किसानों के हाथ में रहे।[10] धनी किसान जो इस आन्दोलन को धराशायी करना चाहते थे, मौका मिलने पर गुप्त तोड़-फोड़ की कार्रवाईयाँ करने में हिचकते नहीं थे। वास्तव में यह बड़ी उल्लेखनीय बात थी कि इस प्रकृति और इतने बड़े पैमाने का यह सहकारी आन्दोलन बहुत थोड़ी उथल-पुथल और नाम मात्र के रक्तपात के साथ सम्पन्न हो गया। इस आन्दोलन से आम जनता इतनी लाभान्वित हुई कि आन्दोलन को आम जनता का व्यापक समर्थन मिला। इस तथ्य के अलावा इसकी सफलता का श्रेय चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व और जमीनी स्तर के लाखों पार्टी सदस्यों को भी दिया जाना चाहिये। ये जमीनी स्तर के काडर जिन्होंने अभी-अभी क्रान्तिकारी लड़ाइयाँ लड़नी खत्म की थीं, सहकारी खेती के गठन के मामले में कुछ भी नहीं जानते थे (पहले से मुक्त क्षेत्रों में प्राप्त अनुभवों के अलावा), लेकिन वे अपने साथी किसानों की जरूरतों से अच्छी तरह अवगत थे। हालाँकि, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का सर्वोच्च नेतृत्व न केवल चीन की कृषि के विकास की दिशा के मसले पर बल्कि समग्र विकास की दिशा के सवाल पर भी स्पष्ट रूप से बँटा हुआ था।

प्रारंभिक सहकारी संस्थाओं में, धनी और उच्चमध्यवर्गीय किसान अब भी अपने उत्पादक उपकरणों से हुए उत्पादन के एक हिस्से का दावा प्रस्तुत कर रहे थे। जब सहकारी संस्थाएं उन्नत चरण तक विकसित हुई तो उन्होंने धनी और उच्चमध्यवर्गीय किसानों से उनके उत्पादक यंत्र खरीद लिए। जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है, इस समाजवादी परियोजना ने पूँजीपति परिवारों को उत्पादन में हिस्सा देने की प्रणाली का खात्मा कर दिया। उन्नत सहकारी समूहों में वितरण केवल किये गये श्रम के आधार पर ही होता था। सामूहिकीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से उन वर्ग शक्तियों की विजय हुई जिन्होंने माओ द्वारा शुरू की गयी इस समाजवादी परियोजना का समर्थन किया। माओ की रणनीति गरीब और निम्न मध्यवर्गीय किसानों पर भरोसा करने और मध्यवर्गीय किसानों को एकजुट करने की थी। माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की वर्ग दिशा स्पष्टतः उद्घाटित थी।

जब उन्नत सहकारी समूहों या कम्यूनों जैसी समाजवादी परियोजनाएँ स्थापित की गयीं, तो यह जाहिरा तौर पर समाज के कुछ खास तबकों के हितों के विरुद्ध थीं। सहकारी आन्दोलन के उन्नत चरण में पहुँचने के बाद, स्पष्टतः नुकसान उनका था जिन्हें अपनी सम्पत्तियाँ सहकारी संस्थाओं को बेचनी पड़ रही थीं। उन समृद्ध किसानों के लिए फायदे का सौदा यही था कि उन्हें हमेशा उनकी सम्पत्ति के लिए लाभांश मिलता रहता, बनिस्पत इसके कि उन्हें उस सम्पति के लिए एकमुश्त राशि, जो "मोल-भाव" करके तय की गयी कीमत पर आधारित थी और जिसके लिए वे बड़े हिचकते हुए तैयार हुए, अदा कर दी गयी। सहकारी आन्दोलन के आगे बढ़ने से निश्चित रूप से वह बहुसंख्यक किसान आबादी फायदे में रही थी जिनके पास जमीन के छोटे टुकड़े और अपनी मेहनत के अलावा कभी कुछ भी नहीं था। इस बहुसंख्यक आबादी में वे परिवार भी शामिल थे जिनके पास उत्पादक श्रम भी नहीं था। ये बेटों को खो चुके, उनकी विधवाओं और बच्चों के साथ रहने वाले वृद्ध किसान थे। उनमें से कइयों ने अपने लाड़लों को क्रान्तिकारी युद्ध में खोया था। माओ ऐसे लोगों की जीविका के लिए बहुत चिन्तित थे क्योंकि राज्य अभी सहायता कर सकने की स्थिति में नहीं था। माओ ने कहा कि हर सहकारी समूह को ऐसे कुछ परिवारों का "भरण पोषण" करने में समर्थ होना चाहिये।[11] ये परिवार "हाँडी" में कुछ डाल तो नहीं सकते थे, पर उन्हें "हाँडी" में से ही खाना था। पूर्णतः स्वार्थी दृष्टिकोण से, कोई भी सहकारी संस्था ऐसा कोई बोझ "वहन" करने को इच्छुक नहीं होती। उन्हें इसके लिए वास्तव में सहयोग की भावना से ओतप्रोत होना था और उन्होंने इसी भावना के तहत इसे स्वीकार भी किया।

उपर्युक्त विश्लेषण से, हम देख सकते हैं कि सामूहिकीकरण की प्रक्रिया के दौरान कुछ वर्ग शक्तियाँ फायदे में रहीं तो अन्य को नुकसान उठाना पड़ा। जिन वर्ग शक्तियों के हितों को नुकसान पहुँचा वे इतनी आसानी से सिर झुकाने को तैयार नहीं थीं। उन्हें अपने प्रतिनिधि और प्रवक्ता या तो सत्ताधारियों में ही या फिर सत्ता से बाहर से ढूँढ़ने थे। कम्युनिस्ट पार्टी में माओ के विरोधियों ने इन वर्ग शक्तियों का बराबर प्रतिनिधित्व किया और उनकी पूँजीवादी परियोजनाओं को कम्यून की स्थापना के बाद भी आगे बढ़ाते रहे।

"तीन स्वतंत्रतायें और एक बन्धन" की योजना सामूहिक क्षेत्र में पूँजीवादी परियोजनाओं का एक उदाहरण थी। ल्यू और देङ ने उन्नत सहकारीकरण के चरण की शुरुआत से ही इस पूँजीवादी परियोजना का मजबूती से समर्थन किया और उन्होंने कम्यूनों के गठन के बाद भी बढ़ाना जारी रखा। ये तीन स्वतंत्रताएँ थीं; 1) निजी सम्पत्ति को बढ़ाना। 2) स्वतंत्र बाजार को बढ़ावा देना, और 3) हरेक परिवार का अपने हानि-लाभ के लिए जिम्मेदार होना। प्रत्येक परिवार के लिए बन्धन राज्य के एक अनुबन्ध पर दस्तखत करना था जिसके तहत प्रत्येक को

अनाज की एक पूर्व निर्धारित मात्रा उपजानी आवश्यक थी। इस पूर्व निर्धारित मात्रा से अधिक उत्पादन होने पर वे उसे खुले बाजार में बेचने को स्वतंत्र हो जाते। 1956 से ही, ल्यू और उसके समर्थक मजबूती से "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" का पक्ष लेने लगे थे और कुछेक मौकों पर उन्होंने इसे बलपूर्वक लागू भी किया। निजी सम्पत्ति को बढ़ावा देने से किसान अपने खेत में ज्यादा जान लगाकर मेहनत करने लगे। स्वतंत्र बाजारों के संवर्द्धन से किसानों की निजी जमीनों के उत्पादों की बिक्री में सहूलियत हुई। अगर हर परिवार को उसके लाभ-हानि के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता तो आधारभूत इकाई टीम से बदलकर प्रत्येक परिवार हो जाता। "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" के प्रवर्तक के अनुसार, यह भौतिक प्रलोभन किसानों को और अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित करता।

कम्यून प्रणाली के अन्दर, जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया, व्यक्तिगत बचतें पूँजी में नहीं बदल पाती थीं। पूँजी का संचय व्यक्तिगत रूप से नहीं सामूहिक रूप से होता था। संचय निधि टीम के पास नये उत्पादक उपकरणों की खरीद के लिए होती थी, जिससे समूह के सभी सदस्यों को लाभ था। अगर "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" जैसी पूँजीवादी परियोजना को लागू होने और इसका विस्तार होने दिया जाता, तो समूह की बजाय, हर परिवार नई आधारभूत इकाई हो गया होता। अगर कोई परिवार खुले बाजार में अपने उत्पादों की बिक्री में मुनाफा कमाता तो इससे वह और उत्पादक उपकरण खरीदता तथा इनके प्रयोग से वह और अधिक मुनाफा कमाता। "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" परियोजना निजी पूँजी को बढ़ावा देती है जो उत्पादन के वितरण में भाग लेती है। ठीक इसी समय, इसी परियोजना के अन्तर्गत, घाटे में आये परिवारों के सामने अपना सब कुछ एक साथ ही गँवा देने का खतरा भी होता था। जहाँ तक इस परियोजना के प्रवर्तकों का सवाल है, उनके लिए यह कुशलता से कर पाने में अक्षम लोगों से छुटकारा पाने का एक अच्छा तरीका हो सकता था। "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" के अन्तर्गत वितरण पुनः सहकारी के चरण में पहुँच गया, जहाँ पूँजीपतियों को उत्पादन में अधिकाधिक अंश मिलता था। ल्यू और देङ ने जब "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" को लागू करने के लिए जोर लगाया, तो उन्होंने इस परियोजना को ऐसे प्रस्तुत किया मानो यह हरेक किसान परिवार को भौतिक प्रलोभन देकर उत्पादन बढ़ाने के लिए हो। इस पूँजीवादी परियोजना का गुप्त एजेंडा संक्रमण की दिशा को कम्युनिज्म से पूँजीवाद की ओर पलटना था।

कृषि के सामूहिकीकरण की शुरुआत से ही, "तीन स्वतंत्रताएँ और एक बन्धन" जैसी पूँजीवादी परियोजनाएँ कम्यून व्यवस्था के अन्तर्गत सामूहिक स्वामित्व के साथ होड़ में थीं। यदि 1950 और 60 के दशक में पूँजीवादी परियोजनाएँ विकसित और विस्तृत होने का मौका पा जातीं तो कम्यून प्रणाली तभी ढह गयी होती। समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं की होड़ के माध्यम से, समाज के अलग-अलग वर्ग तत्वों के हित उद्घाटित और अभिव्यक्त हो रहे थे। माओ की अगुवाई में चल रहे जनान्दोलनों और समाजवादी विकास के पक्षधरों ने समाजवादी परियोजनाओं को बढ़ावा दिया। हर जनान्दोलन के दौरान, एक प्रतिपक्ष निर्धारित किया जाता था ताकि समाजवादी परियोजनाओं का विरोध करने वाली वर्गशक्तियाँ अपने हितों की रक्षा के लिए खुले तौर पर सामने आएँ। जब समाजवादी परियोजनाएँ जनान्दोलनों के जरिये लागू होने लगीं, तो विरोधी वर्ग शक्तियों के हित प्रकट होने लगे। समाजवादी या पूँजीवादी परियोजनाओं के लागू होने से, कुछ वर्ग शक्तियाँ मजबूत होती थीं तो अन्य कुछ वर्ग शक्तियाँ कमजोर होती थीं।

ल्यू पहले जिस काम को नहीं कर सका, उसे देङ ने अपने सुधारों के जरिये दो दशक बाद देहातों में कर दिखाया और उसने मूल परियोजना से आगे बढ़कर भी काम किया। 1979 से 1989 के बीच, देङ ने हरेक किसान परिवार को भूमि के पुनर्वितरण के लिए कई कदम उठाये। 1949-52 भूमि सुधार की भाँति ही, देङ का भूमि पुनर्वितरण भी एक पूँजीवादी परियोजना थी। कम्यूनों को भंग करने के लिए देङ और उसके समर्थक तर्क दे रहे थे कि "बड़ी हाँडी में खाने से आलस पैदा होता है"। यह कुछ मामलों में सच्चाई हो सकती थी, पर देङ ने, इसकी अनदेखी करते हुए कि अधिकांश कम्यून अच्छी हालत में थे, एक ही झटके में सभी कम्यूनों को भंग कर दिया। देहातों में कृषि के विसामूहिकीकरण ने मजदूर-किसान संश्रय को तोड़ डाला जो कि समाजवादी संक्रमण के दौरान सर्वाधिक महत्वपूर्ण राणनीति थी। देङ का भूमि पुनर्वितरण अन्य परियोजनाओं के साथ चलाया गया, जैसे कि केंन्द्रीकृत खरीद प्रणाली खत्म करना, ग्रामीण उद्योग का निजीकरण करना, कृषि मशीनरी और कृषि सम्बन्धी कच्चे माल के उत्पादन में राज्य द्वारा सहयोग में कमी और धीरे-धीरे राजकीय उपक्रमों का निजीकरण एवं स्थायी राजकीय मजदूरों के स्थान पर अस्थायी अनुबन्ध कर काम करने वाले मजदूरों को लाना, ये सब समग्र पूँजीवादी राणनीति में पूँजीवादी परियोजनाएँ हैं। इन पूँजीवादी परियोजनाओं ने यह असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट कर दिया कि सुधार की दिशा क्या है। देङ की पूँजीवादी रणनीति उसके सुधारों की वर्ग दिशा को स्पष्ट कर देती है। उसके सुधारों ने जान-बूझकर मजदूर-किसान संश्रय को तोड़ा और नौकरशाह पूँजीपतियों और नये "उद्यमियों", जो या तो स्वयं पार्टी पदाधिकारी थे या जिनके उच्चपदस्थ पार्टी पदाधिकारियों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे, के गठबन्धन को और मजबूत बनाया।

देङ के प्रारंभ किये गये सुधारों का समर्थन करने वाली वर्ग शक्तियों की पहचान करने के लिए हमें एक कदम और आगे जाने की जरूरत है। अधिकांश किसान हालाँकि कम्यून प्रणाली से लाभान्वित हो रहे थे, वे बेहतर और सुरक्षित जीवन जी रहे थे पर एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक तबका सन्तुष्ट नहीं था। पहला, बहुत गरीब कम्यूनों में किसानों को उत्पादन बढ़ाने के लिए कई कठिनाईयाँ झेलनी पड़ती थीं। उनका अनाज उत्पादन कभी-कभी तो मुश्किल से पूरा पड़ता था और कभी-कभी सबका पेट भर पाने के लिए भी अपर्याप्त होता था, इसलिए कोटे का अनाज बाँटने के बाद अनाज बहुत थोड़ा या नहीं भी बचता था। इन कम्यूनों में वितरण "सबको सबके काम के अनुसार" नहीं किया जा सकता था। (सबसे गरीब कम्यूनों को अक्सर राजकीय सहायता पर निर्भर रहना पड़ता था।) इन कम्यूनों में सक्षम सदस्य अधिक मेहनत से काम करते थे परन्तु उन्हें उसके अनुरूप प्राप्ति नहीं होती थी, इससे ब्रिगेड या टीम के अधिक सक्षम सदस्यों के सामने प्रेरणा की समस्या पैदा हुई।

दूसरा, जो कि अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह कि देङ का समर्थन अधिक समृद्ध कम्यूनों, जिनके पास अतिरिक्त उत्पाद थे और जहाँ भारी मात्रा में पुनरुत्पादन हो रहा था, ने किया। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में कई ब्रिगेडों और कम्यूनों ने कृषि उत्पादन से प्राप्त अधिशेष

को उत्पादक उद्योगों में लगाना शुरू कर दिया। 1970 के दशक के मध्य में ये ग्रामीण उद्योग समृद्ध हुए, और इस तरह ये ब्रिगेड और कम्यून अपनी तेजी से पूँजी संचय में सक्षम हुए। हालाँकि उस समय राजकीय नियंत्रण ने पूँजी संचय को सीमित रखा था राजकीय नियंत्रण के तहत, ब्रिगेडों/कम्यूनों को अपने लाभ का एक हिस्सा (लगभग एक तिहाई) कृषि के विकास के लिए रखना पड़ता था, इसके बाद ही वे अपने शेष लाभ का निवेश उद्योग में कर सकते थे। इसके अलावा ग्रामीण उद्योग कच्चा माल प्राप्त करने तथा अपने उत्पादों की बिक्री में प्रतिस्पर्धा करने के लिए भी स्वतंत्र नहीं थे। ये अन्तरविरोध उत्पादक शक्तियों के विस्तार से पैदा हुए थे, न कि उत्पादक शक्तियों की निष्क्रियता से, जैसा ये सुधारवादी कहते थे। माओ ने पहले ही चेतावनी दे दी थी कि यदि दो प्रकार के स्वामित्वोंराजकीय और सामूहिकका सहअस्तित्व लम्बे समय तक बना रहा तो अन्तरविरोध पैदा होंगे। जो कम्यून अपने उद्योगों का विकास करके समृद्ध हुए थे, ये वही कम्यून थे जो कृषि में भी सपन्न थे और जिनके पास अनाज और अन्य फसलों की बेशी थी। चीन को इस अतिरिक्त अनाज की आवश्यकता उन गरीब क्षेत्रों के लिए थी जो अपने लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं कर पाते थे। इस तरह समूचे देश के हित में, समृद्ध कम्यूनों को कृषि की उपेक्षा करने की अनुमति नहीं दी जा सकती थी। जबकि, इन समृद्ध कम्यूनों के लिए उद्योगों में निवेश करना कृषि में निवेश करने से कहीं अधिक फायदेमन्द था। इन कम्यूनों का स्वामित्व चूँकि सामूहिक था, इसलिए राष्ट्र के हित में अपने स्वार्थों के बलिदान के लिए उन्हें राजी करना हमेशा आसान नहीं होता था।

तीसरा, जब कृषि उत्पादन बढ़ा और ग्रामीण उद्योगों का विकास हुआ, तो समृद्ध कम्यूनों/ब्रिगेडों के सदस्य किसान परिवारों की आय भी बढ़ी। इनमें से कई परिवारों के पास काफी मात्रा में बचतें थीं, लेकिन, कम्यूनों में अपनी बचतों को पूँजी में बदलने के बहुत थोड़े या कोई अवसर नहीं थे। ये सम्पन्न परिवार और अधिक कमा पाते अगर वे अपनी बचतों को कहीं निवेश कर पाते और अपनी इस पूँजी से अतिरिक्त आय प्राप्त कर पाते। साथ ही, शारीरिक रूप से मजबूत और/या काम-काज में तेज-तर्रार किसान महसूस करते थे कि यह वर्क प्वॉइंट प्रणाली उन्हें उनकी पूरी क्षमता का उपयोग करने से प्रतिबन्धित करती है। इन सभी मामलों में, सभी सक्षम सदस्यों को लग सकता था कि किस तरह "तीन स्वतंत्रताये और एक बन्धन" जैसी पूँजीवादी परियोजना उनके लिए फायदेमन्द होती।

अन्तिम कारण यह कि पूँजीवादी परियोजनाएँ खास तौर से उनके लिए लाभकारी थीं जो सत्ता में थे और अपने फायदे के लिए इसका उपयोग करने की स्थिति में थे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान किसानों ने काडरों और स्थानीय सरकारी अधिकारियों पर गौर किया। अवाम ने सत्ताधारियों की जाँच की और उनके कार्यों को जवाबदेह ठहराया, इससे उनके लिए अपनी सत्ता का दुरुपयोग करना कठिन हो गया। देङ द्वारा चालू किये गये सुधारों के बाद हुई प्रगति दिखाती है कि वास्तव में सरकारी पदाधिकारी और पार्टी काडर अपनी सत्ता को अपने लिए भौतिक लाभ में बदल पाने में सक्षम हो गये थे।

देङ और उसके समर्थकों ने जब पूँजीवादी परियोजनाएँ शुरू कीं, तो इससे ये तबके आकर्षित हुए और उन्हें इस तरह समर्थन के लिए रिझाया गया। 1979 के बाद जब देङ ने अपने सुधारों को लागू किया, उसने उन पुरानी पूँजीवादी परियोजनाओं को पुनर्जीवित किया जो पहले के दशकों में नहीं चल पायी थीं। इस तरह देङ ने अपने समर्थकों को ढूँढ़ निकाला और उनकी मदद से उसने सम्पूर्ण रूप से अपनी पूँजीवादी परियोजनाएं लागू कीं और संक्रमण की दिशा ही बदल डाली।

ब) राजकीय क्षेत्र में प्रतियोगिता

राजकीय क्षेत्र में, राजकीय उपक्रम सबसे महत्वपूर्ण समाजवादी परियोजना है। इस समाजवादी परियोजना का लक्ष्य उस समय कम्युनिज्म की तरफ आगे बढ़ना होता है जब माल उत्पादन का अस्तित्व समाप्त हो रहा होता है और जब उत्पादन के साधनों पर प्रत्यक्ष उत्पादकों का नियंत्रण होता है। इसलिए, समाजवादी संक्रमण के दौरान, राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धन में श्रमिकों की अधिकाधिक भागीदारी और माल उत्पादन एवं उजरती श्रम को धीरे-धीरे खत्म करने को नीतियों द्वारा बढ़ावा दिया जाना चाहिये। राजकीय उपक्रमों में, मजदूरों और प्रबन्धन की भूमिका में कम से कम अन्तर होना चाहिये। राजकीय उपक्रमों में उजरत श्रम के अनुरूप होनी चाहिये न कि लगायी गयी पूँजी के अनुरूप। दूसरी ओर, राजकीय स्वामित्व का अर्थ यह कतई नहीं है कि उत्पादन सम्बन्ध समाजवादी हो ही गये हैं। राजकीय स्वामित्व में भी पूँजीवादी परियोजनाएँ पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को बढ़ावा देने के लिए स्थापित की जा सकती हैं। पूँजीवादी परियोजनाएँ माल उत्पादन का विस्तार करेंगी और इस तरह से उत्पादन में शासक-शासित सम्बन्ध को और मजबूत करेंगी। पूँजीवादी परियोजना के उत्पादन का उद्देश्य लोगों की जरूरतें पूरी करने के बजाय मूल्य वर्धन होगा। पूँजीवादी परियोजना के तहत माल उत्पादन फिर से उजरती श्रम और पूँजी के आकार (स्थिर और परिवर्तनशील पूँजी) के अनुरूप उत्पादन के वितरण को जन्म देगा।

चीन के ठोस अनुभवों ने दिखाया कि राजकीय उपक्रम में समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं में सतत संघर्ष जारी था। समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं में स्पर्धा उपक्रमों की स्वायत्तता, राजकीय श्रमिकों की रोजगार सम्बन्धी स्थिति, उजरत प्रणाली और श्रमिकों के नियंत्रण सम्बन्धी मुद्दों पर होती थी। ये मुद्दे राजकीय उपक्रम की पूँजीवादी या समाजवादी प्रकृति को दर्शाते थे।

अगर राजकीय उपक्रमों को अपने मामलों और अपने प्रदर्शन में स्वायत्तता मिल जाती और अगर प्रबन्धक का वेतन उपक्रमों के लाभ या हानि से तय होने लगता, तो ये उपक्रम धीरे-धीरे पूँजीवादी निगमों की ही तरह चलने लगते। स्थायी रोजगार के मामले में, हालाँकि, राजकीय उपक्रमों में स्थायी रोजगार से भी मजदूरों को उत्पादन के साधनों पर कुछ अधिक नियंत्रण नहीं मिल जाता था लेकिन इसके उलट, ठेके की मजदूरी प्रणाली में तो उत्पादन के साधनों पर उनका नियंत्रण बिल्कुल ही नहीं होता। ऐसी उजरत प्रणाली जो भौतिक लाभ और अतिरिक्त बोनस के लिए मजदूरों में प्रतिस्पर्धा पर जोर देती; निश्चित रूप से मजदूरों में दो फाड़ करती और प्रबन्धन को मजदूरों पर नियंत्रण के अधिक अधिकार दे देती।

1979 में सुधार प्रारंभ होने के पहले, आठ ग्रेड वाली उजरत प्रणाली, राजकीय श्रमिकों के किये गये श्रम में केवल उनके अनुभव, सेवा की अवधि और दक्षता के आधार पर अन्तर करती थी। श्रमिक, जो अपनी कड़ी मेहनत, समूह भावना, और नई खोजों के द्वारा उत्पादकता

बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान करते थे, उन्हें आदर्श श्रमिक चुना जाता था। उन्हें इसके लिए पुरस्कार और प्रशंसाएं मिलतीं, पर उन्हें इसके कारण अधिक मजदूरी, बोनस और पदोन्नति जैसे प्रत्यक्ष भौतिक लाभ नहीं मिलते थे। मजदूरी के इस पैमाने ने आय में अन्तर को कम किया। पीस रेट और बोनस के खात्मे ने भौतिक लाभों का लालच देकर मजदूरों से कड़ी मेहनत कराने और इस तरह उनमें प्रतिस्पर्धा कराने की प्रबन्धक की ताकत छीन ली। जब राज्य ने भोजन, आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात और जीवन की अन्यान्य मूलभूत आवश्यकताओं पर सब्सिडी दे दी, तो सबसे कम मजदूरी पाने वाले मजदूर भी ठीक-ठाक जीवनस्तर का निर्वाह करने में सक्षम थे। वास्तव में, जब बड़ी मूलभूत आवश्यकताएँ राजकीय सहायता से सस्ती कर दी गयीं, तो इसने वितरण को एक कदम आगे "हरेक को उसके काम के अनुसार" बढ़ा दिया। 1958 से 1978 तक राजकीय क्षेत्र में वितरण ने दिखाया कि श्रमशक्ति को बनाये रखना और उसका पुनरुत्पादन ही उत्पादन और निवेश सम्बन्धी नीतियों में, नियोजन की सर्वोच्च प्राथमिकता थी।

संक्रमण काल के दौरान, पूँजीवादी परियोजनाएँ राजकीय क्षेत्र में समाजवादी परियोजनाओं के साथ स्पर्धा करतीं थीं। शुरू से ही, बुर्जुआ वर्ग की योजना राजकीय क्षेत्र में पूँजीवादी परियोजनाएँ स्थापित करने की थी। पूँजीवादी परियोजनाएँ, जिनमें ठेका श्रम प्रणाली भी थी, सुधारों के साथ ही शुरू हो गयीं, पर इसका उद्‌गम इन सुधारवादियों द्वारा नहीं हुआ था। 1950 में ही, ल्यू-शाओ ची ने ठेका श्रम प्रणाली के लाभों का समर्थन करना शुरू कर दिया था। अभी हाल में प्रकाशित 'लेबर कान्ट्रेक्ट सिस्टम हैंडबुक' के एक लेख ने राजकीय स्वामित्व वाले कारखानों में अस्थायी अनुबन्ध श्रमिकों की नियुक्ति के ल्यू-शाओ ची के प्रयासों के इतिहास का रहस्योद्‌घाटन किया है। लेख के अनुसार, ल्यू ने 1956 में एक दल सोवियत संघ की श्रम व्यवस्था के अध्ययन के लिए वहाँ भेजा था। वहाँ से लौटने के बाद, दल ने ठेका श्रम प्रणाली अपनाने का प्रस्ताव रखा, जैसा कि सोवियत संघ ने किया था। खैर, जब ये परिवर्तन होने थे, महान अग्रवर्ती छलांग शुरू हो गयी और इस तरह उनको अमली जामा पहनाने का काम रुक गया। लेख आगे बताता है कि 1960 के आरंभ में ल्यू ने "दोहरी ट्रैक प्रणाली" अपनाकर फिर से स्थायी रोजगार की व्यवस्था को बदलने का प्रयास किया। "दोहरी ट्रैक प्रणाली" के तहत उपक्रमों को स्थायी मजदूर कम करने और अस्थायी मजदूर रखने थे, खानों में किसानों को बतौर अस्थायी मजदूर रखा जाता था। फिर 1965 में, स्टेट काउंसिल ने अस्थायी मजदूरों के रोजगार सम्बन्धी एक नया कानून घोषित किया, इसके अनुसार स्थायी मजदूरों की जगह, ज्यादा से ज्यादा अस्थायी मजदूर रखे जाने चाहिये। इस कानून ने व्यक्तिगत उपक्रमों को स्थायी मजदूरों की जगह अस्थायी मजदूर रखने के लिए आवंटित मजदूरी निधि का उपयोग करने तक की स्वतंत्रता दे दी। इस लेख के लेखक के अनुसार, एक बार फिर महान सांस्कृतिक क्रान्ति ने ल्यू के सुधारवादी प्रयासों को बाधित किया, और, 1971 में बड़ी संख्या में अस्थायी श्रमिकों को स्थायी कर दिया गया।[12] हालाँकि ल्यू, अपने श्रम सुधारों को पूरी तरह कार्यान्वित नहीं कर पाया, लेकिन उसकी "प्रायोगिक परियोजनाएँ" जहाँ-तहाँ चल रही थीं और सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने से पहले, राजकीय उपक्रमों में बड़ी संख्या में अस्थायी श्रमिकों को रखा जा चुका था।

ठेका श्रम प्रणाली स्थापित करने के ल्यू के प्रयासों के विपरीत, आनशान संविधान काम के संगठन और कार्यस्थल में श्रम प्रक्रिया के परिवर्तन का सर्वाधिक गंभीर प्रयास था। आनशान मेटलर्जिकल कम्बाइन के मजदूरों ने अपने कारखाने की मौजूदा कार्यप्रणाली को बदलने में पहल की और नये नियम बनाये।

22 मार्च 1960 को माओ ने इन नियमों को आनशान संविधान का नाम देते हुए आधिकारिक तौर पर घोषणा की कि सभी राजकीय उपक्रमों के संचालन में इनको मार्गदर्शक के तौर पर लिया जाना चाहिये। आनशान संविधान में राजकीय उपक्रमों के श्रम संगठन व श्रम प्रक्रिया में क्रान्तिकारी परिवर्तन के सर्वाधिक ठोस तथा मूलभूत तत्व सन्निहित हैं। आनशान संविधान में पाँच सिद्धान्त हैं: 1. राजनीति को कमान में रखो; 2. पार्टी नेतृत्व को मजबूत करो; 3. ऊर्जस्वी जनान्दोलन चलाओ; 4. योजनाबद्ध तरीके से कैडरों की उत्पादक श्रम में और श्रमिकों की प्रबन्धन में भागीदारी को बढ़ावा दो; और 5. हर अनुचित नियम में सुधार करो, श्रमिकों, काडरों, और तकनीशियनों में निकट सहयोग सुनिश्चित करो, तथा तकनीकी क्रान्ति को जोरदार प्रोत्साहन दो।[13] आनशान संविधान के पाँच सिद्धान्त धीरे-धीरे उजरती श्रम के खात्मे की ओर बढ़ने की भावना प्रकट करते हैं।

हालाँकि, सांस्कृतिक क्रान्ति के आरम्भ से पहले तक कारखानों में आनशान संविधान का पालन कहने भर को होता था। जब तक कारखानों को चलाने में प्रबन्धन निर्णायक भूमिका में था, इसे परिवर्तन की कोई जरूरत महसूस नहीं होती थी। दूसरी ओर, मजदूर, जो राज्य प्रदत्त सुविधाओं और लाभों से सन्तुष्ट थे, मान बैठे थे कि यह स्थिति हमेशा बनी रहेगी। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में संक्रमण की दिशा के सवाल पर हो रहा संघर्ष कारखानों में मजदूरी और रोजगार सम्बन्धी नीतियों के परिवर्तन में स्पष्ट दिखता था। कभी, ऊपर से जारी नीतियाँ पीस रेट मजदूरी और अस्थायी रोजगार को बढ़ावा देती थीं, तो कभी, अक्सर जनान्दोलनों के दौरान, इन नीतियों की आलोचना करके, इन्हें उलट दिया जाता था। सांस्कृतिक क्रान्ति से पहले, यद्यपि, मजदूर नीतियों की इस अदला-बदली के पीछे छिपे कारणों को नहीं समझे थे। वे इस बात से अनजान थे कि ल्यू ने स्थायी रोजगार व्यवस्था को खत्म करने के कई प्रयास किये। अगर महान अग्रवर्ती छलाँग और सांस्कृतिक क्रान्ति नहीं होती तो ल्यू और उसके चेले राजकीय श्रमिकों की रक्षा करने वाले कानूनों को खत्म करने के अपने प्रयासों में सफल हो गये होते। अगर ऐसा हो जाता, तो, स्थायी रोजगार और राज्य द्वारा मजदूरों को मिले अन्य लाभ दशकों पहले के इतिहास की चीज हो जाती। जब मजदूरों ने 1950 और 60 के दशकों में जनान्दोलनों में भागीदारी की, उनकी वर्ग चेतना धीरे-धीरे बढ़ी; लेकिन मजदूरों को सांस्कृतिक क्रान्ति से पहले तक यह अहसास नहीं था कि उत्पादन के साधनों के राज्य को वैधिक हस्तान्तरण के बाद भी वर्ग संघर्ष जारी था। सांस्कृतिक क्रान्तिजो कारखानों और वृहत्तर रूप में समाज में सघन राजनीतिक संघर्ष का दौर थाके दौरान ही यह सम्भव हुआ कि अनेक नाजुक मुद्दे उठाये गये। कारखानों में मजदूर और काडर खुले तौर पर भौतिक लाभों, उत्पादक श्रम में काडरों की भागीदारी, प्रबन्धन में मजदूरों की सहभागिता और कारखाना नियम व निर्देशों आदि जैसे महत्वपूर्ण सवालों पर बहस और वाद-विवाद करते थे। पहली बार, चीन के राजकीय उपक्रमों के मजदूरों ने राजनीतिक को कमान में रखने और आनशान संविधान के अन्य सिद्धान्तों के मतलब को समझा।

पूँजीवादी परियोजनाओं का उद्देश्य समाजवादी परियोजनाओं के ठीक उलट होता है और इसी तरह दोनों परियोजनाओं को अमली जामा पहनाने की पद्धति में भी भारी फर्क है। देङ के सुधारों में पूँजीवादी परियोजना को अमल में लाने का तरीका पहले ऊपर से कानून बनाकर फिर नीचे व्यक्तिगत उत्पादन इकाईयों तक लागू करने का था। सुधार की हर अवधि के दौरान, कृषि के विसामूहिकीकरण से राजकीय क्षेत्र के सुधार और श्रम सुधारों तक यही हुआ कि सबसे पहले ऊपर से एक कानून बनाकर नीचे की उत्पादन इकाइयों तक इन पूँजीवादी परियोजनाओं को अमल में लाने के लिए लागू कर दिया गया। दूसरी ओर, 1949 से 1978 तक समाजवादी परियोजनाओं पर अमल जनता की इच्छाशक्ति को परखने और तैयार करने वाले जनान्दोलनों के जरिये हुआ। अतीत के जनान्दोलनों ने जनता की नई विचारधारा को जन्म दिया। जैसा कि हमने पहले लिखा है, भूमि सुधारों का क्रियान्वयन इसका अच्छा उदाहरण है। यह सच है कि दोनों कालखण्डों में, दोनों ही परियोजनाओं के क्रियान्वयन ने उत्पादन सम्बन्धों को बदलने में विचारधारा की भूमिका को सशक्त किया, और, एक रणनीति के तौर पर मीडिया में प्रचार का इस्तेमाल किया; हालाँकि, दोनों में आधारभूत अन्तर जरूर थे। बाद की अवधि के दौरान (अन्त से ठीक पहले) जनता की अभिव्यक्ति को प्रोत्साहन दिया गया, जबकि देङ के सुधारों ने इसका दमन किया। 1978 से पहले, चार "दा"दा मिन, दा फांग, दा बियानलुन और दा झिबाओ, यानी ऊँची आवाज, अधिक खुलापन, बड़ी बहसें और बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर, जनता की अभिव्यक्ति के ठोस तरीके थे। जब देङ और उसके चेले राज्य तंत्र पर काबिज हुए और 1979 में संविधान में संशोधन किया, उन्होंने जनता से उसका चार 'दा' का संवैधानिक अधिकार और यहाँ तक कि मजदूरों से हड़ताल का अधिकार भी छीन लिया।

सुधारवादियों ने, कृषि के विसामूहिकीकरण की नीतियाँ स्थापित करने के बाद, राजकीय उपक्रमों में आधारभूत परिवर्तन के लिए अपने कदम बढ़ाये।

10 मई 1984 को स्टेट काउंसिल ने व्यक्तिगत राजकीय उपक्रमों को स्वायत्तता देने वाला एक अस्थायी विधेयक जारी किया। 20 अक्तूबर 1985 को, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की बारहवीं कांग्रेस ने आर्थिक संरचना सुधार नाम का एक विधेयक पारित किया। यह विधेयक पहले पारित उस अस्थायी विधेयक को और मजबूत करता है जो राजकीय उपक्रमों के प्रबन्धकों को अपने मामलों के प्रबन्ध में स्वायत्तता देता है तथा व्यक्तिगत उपक्रमों को अपना लाभ रखने और जहाँ उचित समझें वहाँ निवेश करने की छूट देता है। इस विधेयक के अनुसार, प्रबन्धक अप्रयुक्त उत्पादन सुविधाओं को किराये पर उठाकर, पट्टे पर देकर या बेचकर निपटान कर सकता है। अपने मजदूरों को अनुशासित व प्रोत्साहित करने (बर्खास्त करने के भी) के और अपने हिसाब से वेतन प्रणाली भी चुनने के सभी अधिकार प्रबन्धन के पास हैं। इसी विधेयक में आगे कहा गया है कि अब राज्य व्यक्तिगत उपक्रमों में प्रत्यक्षतः कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसके स्थान पर, राज्य (पश्चिम के पूँजीवादी राज्यों की तरह) अब परोक्ष नीतियों, जैसे कीमत, कर और ऋण सम्बन्धी नीतियों आदि के द्वारा उत्पादन को प्रभावित करेगा।[14] इस नई नीति का प्रभाव यह हुआ कि राज्य ने उत्पादन के साधनों पर अपना वैधिक और आर्थिक स्वामित्व छोड़ने की दिशा में पहला कदम बढ़ाया।

देङ के नेतृत्व में, आज के सुधारवादियों ने अपने श्रम सुधारों की शुरुआत वेतन प्रणाली में राजकीय मजदूरों को प्रत्यक्ष भौतिक लाभ देकर की। 1950 के दशक में, पीस रेट के आधार पर वेतन एक सामान्य बात थी, पर महान अग्रवर्ती छलाँग के दौरान इसका परित्याग कर दिया गया था। पीस रेट पर वेतन फिर 1960 के दशक की शुरुआत में कार्यान्वित हुआ और सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इसे पूरी तरह से प्रतिबन्धित कर दिया गया। जैसा कि हमने पहले कहा था, 1966 से 1979 तक, राजकीय उपक्रमों के मजदूरों को आठ ग्रेड वाली उजरत प्रणाली के तहत वेतन मिलता था। देङ के वेतन सुधारों का आरम्भ मजदूरों को उनके वेतन के साथ बोनस के रूप में प्रत्यक्ष भौतिक लाभ देने से हुआ, और 1979-80 में पीस रेट के हिसाब से वेतन देने की व्यवस्था फिर से चलन में आयी।[15] सुधारवादियों का विश्वास था कि इन लाभों से मजदूरों में आपसी स्पर्धा की भावना को बल मिलेगा, और इस तरह उनकी उत्पादकता बढ़ेगी। हालाँकि, इन सुधारों के पहले भी काडरों और मजदूरों को अलग-अलग वेतनमानों से वेतन मिलता था, पर वेतन सुधारों की विशिष्टता यह थी कि अब वेतन पद के आधार पर तय होता था। सुधारों के पहले, काडरों का वेतन तभी बढ़ता था जब वे निचले ग्रेड से उच्चतर ग्रेड में उन्नति करते थे। अब, हर उपक्रम के प्रबन्धन ने आधुनिक पूँजीवादी निगमों की तर्ज पर अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, वरिष्ठ अभियन्ता जैसे पद सृजित कर लिए हैं और हर पदाधिकारी को उसके नियमित वेतन के अलावा एक अतिरिक्त राशि का भुगतान किया जाता है। इस बदलाव ने आय में बड़ा आन्तरिक भेद पैदा कर दिया है। इसके अलावा 1985 का आर्थिक संरचना सुधार प्रबन्धन को अपने लिए एक ऐच्छिक कोष बनाने की स्वायत्तता भी देता है। पश्चिम में यह ऐच्छिक कोष काफी कुछ व्यय खाते के तौर पर होता है। मजदूर इस ऐच्छिक कोष पर नाराज होते हैं और इसे "प्रबन्धन की सोने की छोटी खान" कहते हैं। आर्थिक संरचना सुधार प्रबन्धन को उपक्रम द्वारा कमाये गये लाभ से स्वयं को और/या मजदूरों को अतिरिक्त वेतन देने का अधिकार भी देता है। इस नीतिगत परिवर्तन ने राजकीय उपक्रमों में आठ ग्रेड वाली वेतन प्रणाली, जिसके तहत समान ग्रेड वाले श्रमिकों को समान मजदूरी (बहुत थोड़े अन्तर के साथ जो अलग-अलग क्षेत्रों में जीवन व्यय की वजह से होता था) ही मिलती थी, को तहस-नहस कर दिया। इस तरह, इस प्रणाली में राष्ट्रीय स्तर पर किये गये श्रम के आधार पर वितरण को अमल में लाया जा सकता था। जबकि, नई नीति के तहत एक मुनाफा कमाने वाले उपक्रम का मजदूर अपने समान ग्रेड वाले दूसरे मजदूर से, जो किसी घाटे में चलने वाले उपक्रम में कार्यरत हो, कई गुना ज्यादा वेतन पा सकता है। वेतन सुधारों के पाँच-छह वर्षों में ही, सुधारवादियों को अहसास हो गया कि नई उजरत प्रणाली में भौतिक लाभ श्रम उत्पादकता बढ़ाने में कारगर नहीं हैं। उनकी योजना के ठीक विपरीत, शुरू में ज्यादा बढ़े हुए वेतन और श्रम उत्पादकता में कम बढ़ोतरी से जो असन्तुलन पैदा हुआ वह अस्सी के दशक में पैदा हुई तीव्र मुद्रास्फीति दर की एक हद तक वजह भी बना। अधिक बोनस पाने के लिए प्रतिस्पर्धा करने की बजाय, मजदूरों ने इसे बढ़ी हुई कीमतों की वजह से अतिरिक्त आय के रूप में खर्च किया।

1986 के उत्तरार्द्ध में ठेका श्रम कानून पारित हुआ। यह नया

नियम राजकीय उपक्रमों में प्रबन्धन के वैधानिक अधिकारों को और सुदृढ़ करता है। इस कानून के पारित होने के बाद से, नये भर्ती हुए मजदूरों के लिए जरूरी हो गया कि वे अपने को काम पर रखने वाले उपक्रमों के साथ करार पर दस्तख़त करें। अनुबन्धों की अवधि आम तौर पर एक साल तक सीमित होती है। करार की अवधि समाप्त होने पर, दोनों ही पक्षों/या दो में से एक पक्ष को अधिकार है कि वे अपनी ओर से अनुबन्ध खत्म कर दें (एक और साल के लिए नवीनीकरण का नहीं)। सुधारवादियों को उम्मीद है कि नये कानून के लागू होने से पहले तो राजकीय कर्मचारियों के स्थायी रोजगार कम होंगे फिर धीरे-धीरे यह व्यवस्था समाप्त हो जायेगी।

फिर, 13 अप्रैल 1988 को, समस्त जन-स्वामित्व वाले उद्योगों का उपक्रम कानून पारित हुआ। यह कानून वास्तविक रूप से इसी वर्ष अगस्त में लागू हुआ। ऊपर से तो यह कानून स्वामित्व और प्रबन्धन को अलग-अलग करने का दीखता है, पर अन्दर की बात यह है कि इसका मकसद स्वामित्व का राज्य से उपक्रम को हस्तान्तरण था। इस कानून का पहला अनुच्छेद कहता हैः "उपक्रमों को राजकीय सम्पत्ति के प्रबन्धन अधिकार प्रदान किये जाते हैं, इन अधिकारों में स्वामित्व का अधिकार, उपयोग का अधिकार और सम्पत्ति के निपटारे के अधिकार शामिल है। उपक्रम एक स्वतंत्र वैध (व्यक्ति) अस्तित्व है।"[16] नये कानून के पारित होने से, कभी राज्य-स्वामित्व के तहत रहे उपक्रम कानूनी तौर पर अलग हो गये और उनका स्वतंत्र अस्तित्व हो गया। उपक्रम कानून हर उपक्रम के प्रबन्धन को उत्पादन सम्बन्धी सभी बड़े-से-बड़े निर्णय लेने के अधिकार, जिनमें मजदूरों को अनुशासित और बर्खास्त करने का अधिकार भी शामिल है, प्रदान करता है। इस विधेयक में उपयोग के अधिकार के अनुसार, प्रबन्धन को मजदूरों के वेतन में कटौती करके भी विनियोग करने का अधिकार प्राप्त है।[17] राज्य जब व्यक्तिगत उपक्रमों के स्वामित्व का अधिकार छोड़ देता है, तो इन उपक्रमों में वह मजदूरों को काम पर नहीं रखता। उपक्रम कानून के पारित होने के बाद, भूतपूर्व राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रमों के मजदूरों की वैधानिक सुरक्षा समाप्त हो गयीः अब पहले मिलने वाली सुविधाओं और लाभों पर उनका कोई हक नहीं रहा।

(4) माल उत्पादन और समाजवादी संक्रमण के दौरान मूल्य का नियम

समाजवादी संक्रमण वह कालावधि है जब उजरती श्रम और पूँजी के खात्मे के साथ माल उत्पादन का अस्तित्व भी धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा। इसका मतलब यह है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान, मालों का उत्पादन होता है और मूल्य का नियम भी काम करता होता है। चीन जैसे देश में, जहाँ विकास बहुत ही कम हुआ है, खास तौर से ग्रामीण इलाकों मे माल उत्पादन से गैर-माल उत्पादन तक के संक्रमण में तमाम समस्याएँ और चुनौतियाँ पेश आयीं। 1960 और '70 के दशकों में उत्पादक शक्तियों के विकास के बाद नये अन्तरविरोध उभरे। हम इन अन्तरविरोधों की व्याख्या आगे करेंगे। राजकीय क्षेत्र में, माल उत्पादन पर पाबन्दी लगाना और मूल्य के नियम के खिलाफ जाने वाली नीतियों पर अमल करना अपेक्षाकृत ज्यादा आसान था। पहले ही हमने चर्चा की है कि राजकीय क्षेत्र में समाजवादी परियोजनाओं के क्रियान्वयन ने हर उत्पादक इकाई (उपक्रम) के उत्पादन के उद्देश्य को मूल्य वर्धन से जनता की जरूरतों के लिए उत्पादन में बदलने को सम्भव बना दिया। समाजवादी परियोजना के तहत, उत्पादन के साधनों पर राज्य (उत्पादन इकाई नहीं) का स्वामित्व था, और इसका मतलब यह था कि अलग-अलग उत्पादक इकाइयों में विनिमय का आधार अब समान मूल्य विनिमय नहीं रहा था। उदाहरण के लिए, जब राज्य ने पश्चिमी प्रान्त को औद्योगीकृत करने का फैसला किया, तो इसने शंघाई के उन्नत तकनीक वाले कारखानों से इंजीनियर, मजदूर और यहाँ तक कि मशीनरी और उपकरण भी पश्चिम के नये बने कारखानों में भेजे। राज्य को शंघाई के कारखानों को हुए संसाधनों की इस क्षति के लिए कोई मुआवजा नहीं देना पड़ा था। जब राज्य तकनीक और उत्पादन के अन्य संसाधन एक राजकीय उपक्रम से दूसरे उपक्रम को स्थानान्तरित करता था, यह शंघाई जैसे विकसित इलाके से चीन भर के तकनीक में पिछड़े इलाकों को तकनीक स्थानान्तरित करने में सक्षम था। वास्तव में जनता इसे "ऐसी बूढ़ी मुर्गी का होना जो सारे इलाके में घूम-घूम अंडा देती हो" कहती थी।

संसाधनों के अधिक विकसित इलाकों से कम विकसित इलाकों में स्थानान्तरण ने सारे देश को लाभान्वित किया और यह मूल्य नियम के खिलाफ भी था। संसाधनों का यह स्थानान्तरण पूँजीवादी विकास में नहीं किया जा सकता था, क्योंकि मूल्य के नियम के तहत, संसाधनों को केवल उन्हीं क्षेत्रों में लगाया जाता है जहाँ से उन्हें अधिकाधिक मुनाफा मिले। बहरहाल, मजदूरों और इंजीनियरों को जब शंघाई जैसे उच्च रहन-सहन वाले इलाके से जियान जैसे निम्न जीवन स्तर वाले क्षेत्रों में जाना पड़ा, तो इसमें उनकी आत्मत्याग की भावना भी थी। उच्च क्रान्तिकारी ज्वार के समय, नये समाजवादी चीन का निर्माण करने की भावना को जनता ने जोरदार समर्थन दिया। यह इस बात का उदाहरण है कि संक्रमण काल में भी कम्युनिस्ट तत्व होते हैं, जैसा कि हमने पहले कहा था। दूसरी तरफ, पूँजीवादी विकास ने इन अन्तरों को और बढ़ाया ही है, जैसा कि पिछले सोलह वर्षों के विकासक्रम ने दर्शाया है।

समाजवादी संक्रमण के दौरान, राजकीय क्षेत्र में अन्यान्य अन्तरविरोध भी थे। हमने पहले ही स्पष्ट किया कि अन्तरविरोध प्रबन्धक और प्रबन्धित के बीच था, अन्तरविरोध तकनीकी विशेषज्ञों जैसे इंजीनियरों और साधारण मजदूरों के बीच था। राजकीय उपक्रमों में श्रम विभाजन से पैदा हुए इन अन्तरविरोधों को हल करने का आनशान संविधान एक ठोस तरीका था। बहरहाल, इन उपक्रमों में श्रम विभाजन, बड़े पैमाने पर समाज में विभाजनों को प्रकट करता था। हम आगे स्पष्ट करेंगे कि किस तरह सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान हुए शैक्षिक सुधारों का अभीष्ट इन अन्तरविरोधों को हल करना था।

समाजवादी संक्रमण के दौरान, राज्य के लिए सामूहिक क्षेत्र के विकास को मूल्य निर्धारण, निवेश और कराधान नीतियों के माध्यम से एक हद तक प्रभावित करना मुमकिन था। चीन के अनुभवों ने स्पष्ट किया कि राजकीय क्षेत्र और सामूहिक क्षेत्र के बीच विनिमय में मूल्य के नियम का सख्ती से पालन नहीं होता था। दरअसल, मूल्य-निर्धारण, निवेश और कराधान सम्बन्धी नीतियों का प्रयोग जान-बूझकर कृषि की उत्पादक शक्तियों के विकास में मदद पहुँचाने के लिए होता था, ताकि मजदूर-किसान गठबन्धन मजबूत हो। अप्रैल 1956 में, जब माओ ने "**दस मुख्य सम्बन्धों के बारे में**" लिखा तो उन्होंने भारी उद्योगों तथा

हल्के उद्योगों और कृषि के सम्बन्ध को दस में से पहले स्थान पर रखा। बहस के दौरान माओ ने हल्के उद्योगों और कृषि के महत्व पर जोर दिया, और सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप के देशों में हल्के उद्योगों और कृषि की उपेक्षा करके भारी उद्योगों के विकास पर अधिक जोर देने से पैदा हुई गंभीर समस्याओं का हवाल दिया था।

माओ अपने लेख "दस मुख्य सम्बन्ध" में हल्के उद्योगों और कृषि के वृहत्तर विकास के प्रति बिल्कुल स्पष्ट थे कि कृषि और हल्के उद्योगों में कुल निवेश का प्रतिशत अधिक होना चाहिये।[18] दूसरी पंचवर्षीय योजना (जो 1957 में शुरू हुई) से 1978 तक, निवेश को इस प्रकार समायोजित किया गया कि कुल राजकीय निवेश में कृषि निवेश का हिस्सा बढ़ा। राज्य ने कृषि में सहायक उत्पादों के उत्पादन को भी बढ़ाया, इसके लिए उसने ऐसे उद्योगों में अधिक निवेश किया जो उवर्रक, कीटनाशक तथा कृषि संयंत्रों आदि का उत्पादन करते थे। इसके अलावा राज्य ने कृषि पर अपनी बजटीय निर्भरता, कुल राजकीय राजस्व में कृषि करों का प्रतिशत घटा कर कम कर दी। इसी अवधि के दौरान, राज्य ने कृषि पर अपना व्यय दोनों ही तरह सेमात्रा में भी और सम्पूर्ण व्यय के सापेक्ष भीबढ़ाया। यही नहीं, राज्य ने कृषि उत्पादों के व्यापार सम्बन्धी शर्तों में भी सुधार किया। कम्यूनों को बेचे जाने वाले, औद्योगिक उत्पाद कम दाम पर बेचे जाते थे, और उनसे कृषि उत्पाद अधिक दामों पर खरीदे जाते थे। कृषि के सहायक उत्पादों के साथ-साथ, उपभोक्ता वस्तुओं के दाम भी (जो वे गेहूँ के रूप में देते थे) किसानों के लिए 1958 से 1978 के दो दशकों के बीच धीरे-धीरे घटाये गये। इन नीतियों के परिणामस्वरूप, कृषि क्षेत्र अपना मशीनीकरण और तीव्र विस्तार करने में सक्षम हो गया था।

बहरहाल, अभी भी माल उत्पादन अस्तित्व में था और मूल्य का नियम भी कारगर था, इस वजह से राज्य अपने प्रभाव का असीमित उपयोग नहीं कर सकता। दो क्षेत्रों के बीच विनिमय में, मूल्य के नियम के अस्तित्व को स्वीकार करना और उपरिवर्णित नीतियों के माध्यम से मूल्य के नियम का उपयोग करना राज्य की जरूरत थी, लेकिन राज्य मूल्य के नियम की उपेक्षा करके नहीं चल सकता था। माओ ने कहा था कि पूँजीवादी व्यवस्था की तरह मूल्य के नियम का अन्धानुकरण करने की बजाय राज्य को इस नियम का उपयोग अपने फायदे के लिए करना चाहिये।[19] अपनी इस बात को सोदाहरण स्पष्ट करने के लिए माओ ने सूअर के माँस के उत्पादन का हवाला दिया। उन्होंने कहा कि चीन में सूअर के माँस का उत्पादन बाजार भाव के उतार-चढ़ाव (या माँग और पूर्ति) से विनियमित नहीं होता था, बल्कि इसका निर्णय आर्थिक योजना के तहत होता था। दूसरे शब्दों में, सूअर-माँस का उत्पादन मूल्य के नियम के बजाय आर्थिक योजना के तहत होता था। बहरहाल, शहरों में लोग माँस खा सकें, इसके लिए किसानों को एक निश्चित संख्या में हर साल सूअर पालन करना था। अब राज्य ने जब सूअरों के लिए किसानों को चुकाया जाने वाला मूल्य और चारे के लिए उनसे लिया जाने वाला मूल्य तय कर दिया तो उसे इन दोनों मूल्यों के बीच इस तरह समायोजन अवश्य करना चाहिये कि किसानों के लिए सूअर पालन लाभकर हो। अगर सूअरों की कीमत ज्यादा नीची रखी जाती और/या चारे की कीमत अधिक ऊँची रखी जाती तो किसानों ने सूअर पालने से साफ तौर पर इन्कार कर दिया होता।

कम्यूनों के शुरुआती दौर में, उत्पादन का अधिकांश (राज्य को कर चुकाने के बाद) कम्यून के सदस्यों द्वारा उपभोग कर लिया जाता था और अधिशेष राज्य को बेच दिया जाता था। टीम/ब्रिगेड/कम्यून इस बिक्री से प्राप्त आय का उपयोग राजकीय उपक्रमों से औद्योगिक वस्तुएँ खरीदने में करते थे, जिनकी जरूरत उन्हें उत्पादन और उपभोग के लिए होती थी। चूँकि, उनके उत्पादन का बहुत थोड़ा हिस्सा ही बिक्री के लिए था, सामूहिक क्षेत्र में माल उत्पादन बहुत सीमित था। बहरहाल, जैसे-जैसे उत्पादक शक्तियाँ विकसित हुईं, सामूहिक क्षेत्र में माल उत्पादन बढ़ानिरपेक्ष रूप से भी और कुल कृषि उत्पादन के सापेक्ष भी। सामूहिक क्षेत्र में माल उत्पादन के विस्तार से नयी समस्याएँ और चुनौतियाँ सामने आयीं। जैसा कि हमारे पहले के विश्लेषण ने दिखाया है, ऐसे ब्रिगेड और कम्यून जो उद्योग खड़ा कर पाने में सक्षम थे, अपने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने और इसे लाभदायी मूल्य पर बेचने के लिए काफी उत्सुक थे। ये ब्रिगेड और कम्यून माल उत्पादन कर रहे थे, और इस तरह उनका उत्पादन मूल्य में नियम से नियंत्रित होता था। इसका मतलब यह था कि वे सर्वाधिक लाभदायी उद्यमों में निवेश करके अपनी पूँजी संचय की गति को तेज करना चाहते थे। वे अपने निवेश पर राज्य द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों से खुश नहीं थे।

ऊपर किये गये विश्लेषण से, यह समझा जा सकता है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान चीनी समाज में अनेक अन्तरविरोध थे। अन्तरविरोध सामूहिक और राजकीय क्षेत्रों के भीतर भी थे, और दोनों क्षेत्रों के बीच भी थे। बहरहाल, माओ के कथनानुसार, किसी को इन अन्तरविरोधों के केवल नकारात्मक पक्षों को ही नहीं देखना चाहिये, क्योंकि अन्तरविरोध ही वे शक्तियाँ भी हैं जो समाज को आगे बढ़ाती हैं।[20] यदि हम चीनी समाज के विकास का अध्ययन करें तो हम माओ के अभिप्राय को पूरी तरह समझ सकते हैं। अन्तरविरोध विकास के हर चरण में थे, और जब अन्तरविरोधों को सफलतापूर्वक हल कर लिया गया, विकास अगले चरण में पहुँचा। हालाँकि, ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादक शक्तियों के तीव्र विकास और सामूहिक क्षेत्र में माल उत्पादन के विस्तार की वजह से, 1970 के दशक के मध्य से, नये अन्तरविरोध पैदा हुए। ये अन्तरविरोध शत्रुतापूर्ण नहीं थे और इनको सफलतापूर्वक हल किया जा सकता था, यदि समाजवादी समर्थक और पूँजीवादी समर्थक वर्ग शक्तियों के बीच भीषण संघर्ष नहीं होता।

खैर, 1970 के दशक के मध्य में जब माओ का स्वास्थ्य और खराब हो गया, तो समाजवाद समर्थक वर्गशक्तियाँ, पूँजीवाद समर्थक शक्तियों के खिलाफ संघर्ष में तथा उपर्युक्त अन्तरविरोधों को हल करने के लिए उचित नीतियाँ लागू करने में, नेतृत्वविहीन हो गयीं। ये अन्तरविरोध बाद में गैर शत्रुतापूर्ण से शत्रुतापूर्ण हो गये। इस रूपान्तरण ने देंग को अपनी पूँजीवादी परियोजनाओं के क्रियान्वयन में सहायता दी।

जब हम राजकीय और सामूहिक क्षेत्र के अन्दरूनी और दोनों के बीच के अन्तरविरोधों का परीक्षण करते हैं, तो हम यह देख सकते हैं कि ये अन्तरविरोध दोनों क्षेत्रों के भीतर और दोनों के बीच के विकास के अन्तरों को उजागर करते हैं। समाजवादी संक्रमण की अवधि में, इन अन्तरविरोधों को हल करने के लिए कई महत्वपूर्ण नीतियाँ बनायी गयी थीं। हम उन सभी नीतियों की लम्बी चर्चा में नहीं पड़ेंगे, लेकिन उनमें से कुछ का उल्लेख हम यहाँ करना चाहते हैं। उदाहरण के लिए, उपर्युक्त मूल्य निर्धारण, निवेश और कराधान सम्बन्धी नीतियाँ ऐसी

नीतियाँ थीं, जिनका मकसद राजकीय क्षेत्र और सामूहिक क्षेत्र के अन्तरविरोधों को हल करना था। यदि समाजवादी संक्रमण जारी रहा होता, तो इन नीतियों ने कृषि के और उच्च स्तरीय मशीनीकरण में सहायता दी होती। अगर ऐसा हुआ होता, तो टीम से ब्रिगेड, फिर ब्रिगेड से कम्यून को आधारभूत इकाई बनाना सम्भव हो गया होता। चूँकि ब्रिगेड के पास अपने अन्तर्गत सभी टीमों के इस्तेमाल के लिए पर्याप्त कृषि संयंत्र होता, इसलिए ब्रिगेड की सभी टीमें अपनी आधरभूत इकाई को छोड़ने के लिए अधिक इच्छुक होतीं। और जब मशीनीकरण के जरिये सामूहिक श्रम की उत्पादकता पर्याप्त रूप से अधिक (हरेक वर्क प्वाइंट के लिए अधिक मूल्य) हो जाती, तो "तीन स्वतंत्रताएँ और एक अनुबन्ध" जैसी पूँजीवादी परियोजनाएँ किसान गृहस्थियों के लिए कम आकर्षक विकल्प साबित हुई होतीं।

इस सबका मतलब यह नहीं है कि समाजवादी संक्रमण के दौरान केवल पूँजीवादी तत्व ही मुख्य रूप से प्रभावकारी रहे थे। इसके विपरीत, ताचाई और अन्यान्य स्थानों की घटनाओं, जैसे कम्युनिस्ट तत्वों ने चीन के विकास पर विस्मयकारी प्रभाव डाला। चेन युंग-की के नेतृत्व में, ताचाई में लोगों ने अपने स्वार्थ छोड़कर, शुरुआत में आदिम औजारों के जरिये सर्वाधिक प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों से उच्च उत्पादकता प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया। 1970 के दशक में, "ताचाई से सीखो" आन्दोलन के दौरान, कई और ब्रिगेडों और कम्यूनों ने परस्पर सहयोग की भावना और कड़ी मेहनत के बूते बड़े पैमाने के जमीनी काम और ढाँचागत निर्माण कार्य किये। इस कड़ी मेहनत ने ग्रामीण चीन के भूदृश्य को व्यावहारिक तौर पर बदल दिया और उच्चतर मशीनीकरण के लिए रास्ता तैयार किया। जैसा कि हमने पहले कहा था, समाजवादी संक्रमण के दौरान, कम्युनिस्ट (ताचाई, ताचिंग और अन्य दसियों हजार उदाहरणों की तरह) और पूँजीवादी (माल उत्पादन तथा मूल्य का नियम) दोनों ही तत्व एक साथ विद्यमान थे।

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान किये गये शैक्षिक सुधार, चीनी समाज के अन्तरविरोधों को हल करने की दृष्टि से बनायी गयी नीतियों का एक और उदाहरण था। चीनी शिक्षा व्यवस्था में बुद्धिजीवी आभिजात्यों के एक छोटे समूह, जो शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखते थे, को शिक्षित करने की लम्बी परम्परा थी। क्रान्ति के बाद, यद्यपि यह सही था कि मजदूर और किसान परिवारों के अधिक बच्चे अब शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ थे, कइयों को तो कॉलेज जाने के अवसर भी मिल रहे थे, लेकिन आधारभूत शैक्षणिक संरचना अब भी जस की तस ही बनी रही। सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले, विश्वविद्यालयों में प्रवेश परीक्षा के आधार पर दाखिला दिया जाना जारी था, और अभिजातों के छोटे समूह का कॉलेज स्नातक होना भी जारी था, उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे मजदूरों और किसानों के लिए सोचने का काम करें। कारखानों के भीतर का श्रम विभाजन इसी पुरानी शिक्षा व्यवस्था के परिणाम को प्रतिबिम्बित करता था। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, शैक्षिक सुधारों ने, एक ओर तो प्रवेश योग्यता को इस तरह बदला कि अब उन्हीं नौजवानों को दाखिला मिल सकता था जिन्होंने कारखानों और/या खेतों में काम किया हो; तो दूसरी ओर इसने ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर बढ़ाया जब कम्यूनों के द्वारा जूनियर हाई स्कूलों और काउंटियों द्वारा हाई स्कूलों की स्थापना की गयी। इतना ही नहीं, शहरी नौजवानों को किसानों के साथ काम करने के लिए गाँवों में भी भेजा गया, ताकि वे चीनी जनता के 80 प्रतिशत भाग के कठिन जीवन का स्वयं अनुभव कर सकें। शैक्षिक सुधारों ने चीनी युवा वर्ग के बीच शैक्षणिक अन्तरों को पाटने में मदद की। शैक्षणिक सुधारों के और कई पहलू भी थे जिनकी अभी विस्तार में चर्चा नहीं की जा सकती। चीन के समाजवादी संक्रमण काल की अन्य प्रमुख नीतियों में वह नीति शामिल है जिसके तहत आत्मनिर्भरता और दीर्घकालिक विकास के लक्ष्य पर जोर दिया गया। इन लक्ष्यों को पाने की कोशिश समाजवादी परियोजनाओं के क्रियान्वयन के साथ ही की जा सकती थी।

इन लक्ष्यों के उलट, देङ के सुधार कार्यक्रम विदेशी पूँजी पर आश्रित रहे हैं जिसके फलस्वरूप चीन का विकास अपनी स्वायत्तता खो चुका है और अधिकाधिक रूप से अन्तरराष्ट्रीय एकाधिकारी पूँजी के नियंत्रण में है। देङ के सुधार कार्यक्रम अल्पकालिक लाभवर्द्धन पर केन्द्रित हैं तथा पूँजीवादी विकास और विदेशी पूँजी के प्रभुत्व के दीर्घकालिक नकारात्मक प्रभावों को पूरी तरह अनदेखा करते हैं।

5. चीनी कम्युनिस्ट पार्टी

समाजवादी संक्रमण के दौरान, 1978 से पहले, पूँजीवादी संक्रमण की समर्थक वर्ग शक्तियों ने पूँजीवादी परियोजनाओं को आगे बढ़ाने का अपना प्रयास कभी नहीं छोड़ा। इन वर्ग शक्तियों ने अक्सर अपने प्रतिनिधियों को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर शक्तिशाली पदों पर पाया। जैसा कि चीन में हुआ, कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर के पूँजीवादी तत्व धीरे-धीरे पार्टी के भीतर और राज्यतंत्र पर काबिज हो गये। वर्ग संघर्ष, जो चीन में जन गणतंत्र की स्थापना से आज तक जारी है, पूँजीवादी और समाजवादी परियोजनाओं के बीच प्रतियोगिता में व्यक्त हुआ है। यह चीन कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर के पूँजीवाद-समर्थक तत्व थे, जिन्होंने पूँजीवादी परियोजनाओं को आगे बढ़ाया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के समय से इसके वर्गीय तत्वों के गहन अध्ययन के लिए यह उचित स्थान नहीं है। हम यहाँ केवल अपने कुछ अवलोकनों को रखने का प्रयास कर रहे हैं; इसलिए, यह चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का कोई विशद अध्ययन नहीं है।

अ) चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और नवजनवादी क्रान्ति

पहली बात तो यह कि कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीन में हुई क्रान्ति जनवादी और समाजवादी दोनों ही थी। जब माओ ने 1940 में 'नवजनवादी क्रान्ति' लेख लिखा, तो उन्होंने नव और पुरानी जनवादी क्रान्ति के अन्तर को स्पष्ट किया। यद्यपि ऊपरी तौर पर दोनों का लक्ष्य एक ही था, लम्बे समय से सिर पर लदे सामन्तवाद और उसकी काश्तकारी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना; दोनों के बीच अन्तर यह था कि नवजनवादी क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य साम्यवाद की मंजिल था। इसलिए, सर्वहारा के हरावल के तौर पर केवल चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ही क्रान्ति को सफलतापूर्वक अंजाम दे सकती थी।

राष्ट्रवादी पार्टी (केएमटी-कुओमिन्ताङ) के सुनयात सेन के नेतृत्व में हुई 1911 की जनवादी क्रान्ति का एक प्रमुख कार्यक्रम भूमि-सुधार था। इस (पुरानी) जनवादी क्रान्ति का लक्ष्य केवल सामन्तवाद को खत्म करना था, लेकिन अन्ततोगत्वा यह असफल हो गयी। इस असफलता का एक प्रमुख कारण यह था कि चीन में एक बहुत ही कमजोर बुर्जुआ वर्ग था जो जनवादी क्रान्ति को आवश्यक नेतृत्व नहीं

दे सकता था। राष्ट्रवादी पार्टी, जिसकी बागडोर बाद में च्याङ काइ-शेक के हाथ में आयी, ने भूस्वामी वर्ग और विदेशी पूँजी के साथ हाथ मिलाकर क्रान्ति के साथ विश्वासघात किया। भूस्वामी वर्ग और विदेशी पूँजी के समक्ष च्याङ के समर्पण और स्वयं कुओमिन्ताङ के भीतर घूसखोरी और भ्रष्टाचार ने अनेकों युवा बुद्धिजीवियों को नाउम्मीद कर दिया जो गंभीरता से चीन की स्थिति में सुधार लाना चाहते थे। अब इन देशभक्त नौजवानों के पास एक ही विकल्प थाकम्युनिस्ट पार्टी। उनमें से कई चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये। जापान के विरुद्ध युद्ध के दौरान, बड़ी संख्या में देशभक्त जवान चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति समर्थन व्यक्त करने के लिए येनान गये।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक नेतृत्वकारी सदस्य नवजनवादी क्रान्ति के माओ के विश्लेषण को पूरी तरह से समझ नहीं पाये थे या इससे असहमत थे। उन्होंने देखा कि चीन की क्रान्ति दो चरणों में विभाजित थीः जनवादी चरण और समाजवादी चरण। चीन कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ सदस्य (ल्यू शाओ-ची और देङ श्याओ-पिङ के नेतृत्व में) क्रान्ति के पहले चरण का तो समर्थन करते थे और दूसरे चरण का विरोध। इसलिए, जब भूमि सुधारों का अन्त हुआ, तो कम्युनिस्ट पार्टी के इन सदस्यों ने पूँजीवाद की ओर आगे बढ़ने के स्पष्ट अवसर देखे। इसलिए, उन्होंने भूमि सुधारों का तो समर्थन किया लेकिन भूमि सुधारों से आगे बढ़कर कृषि के सामूहिकीकरण का जबरदस्त विरोध किया। इस समाजवादी परियोजना के प्रति अपने विरोध को ढँकने के लिए, उन्होंने दावा किया कि सामूहिकीकरण से उत्पादन सम्बन्धों में उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर से कहीं अधिक परिवर्तन हो रहा था। उन्होंने तर्क दिया कि पहले उत्पादक शक्तियों को विकसित होना चाहिये, इस लिए सामूहिकीकरण से पहले मशीनीकरण होना चाहिये। (हालाँकि, हमने पहले स्पष्ट कर दिया था कि भूमि सुधार के बाद, अधिकांश किसानों को साधारण उत्पादन तक में समस्या थी, विस्तारित उत्पादन की तो बात ही क्या) इन पार्टी सदस्यों ने सभी समाजवादी परियोजनाओं का, राजकीय और सामूहिक दोनों क्षेत्रों में, पूँजीवादी परियोजनाओं (जैसा कि हमने पहले चर्चा की) को आगे बढ़ाते हुए विरोध करना जारी रखा।

माओ के अनुसार, क्रान्ति के इन दोनों चरणों (जनवादी और समाजवादी) को स्पष्ट रूप में न तो अलग किया जा सकता था और न ही किया जाना चाहिये। यही वजह थी कि इसे नवजनवादी क्रान्ति का नाम दिया गया। नवजनवादी क्रान्ति का लक्ष्य साम्यवाद की मंजिल था, और इसका नेतृत्व सर्वहारा कर रहा था, जबकि पुरानी जनवादी क्रान्ति का लक्ष्य पूँजीवाद को स्थापित करना था। बकौल माओ, यद्यपि नवजनवादी क्रान्ति में दो चरण थे, इन दोनों चरणों को बिल्कुल अलग-अलग नहीं समझा जाना चाहिये। पहले चरण का विकास दूसरे चरण के विकास के लिए तैयार होना था। पहले चरण में संघर्ष का लक्ष्य सिर्फ जनवादी क्रान्ति के निष्पादन तक सीमित नहीं होता, बल्कि संघर्ष को समाजवादी क्रान्ति तक आगे बढ़ाना है। माओ ने इसकी स्पष्ट व्याख्या तब की जब वे सोवियत की **"राजनीतिक अर्थशास्त्रः एक पाठ्यपुस्तक"** की चीनी क्रान्ति की व्याख्या से असहमत हुए थे। पाठ्यपुस्तक के अनुसार जनगणतंत्र की स्थापना के बाद से चीन क्रान्ति की प्रकृति जनवादी थी। माओ ने तर्क दिया, "मुक्तियुद्ध के दौरान, चीन ने जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा कर लिया...भूमि सुधार सम्पन्न करने में और तीन साल (1949 के बाद) लगे, लेकिन गणतंत्र की स्थापना के समय ही, हमने तुरन्त नौकरशाही पूँजीवादी उपक्रमों का स्वामित्वहरण कर लियाहमारे उद्योग और परिवहन के 80 प्रतिशत स्थायी परिसम्पत्तियों का स्वामित्वहरण करके उन्हें सारी जनता के स्वामित्व के तहत ला दिया गया।" वे फिर कहते हैं, "लेकिन यह सोचना गलत होगा कि सारे देश की मुक्ति के बाद अपने सबसे प्रारम्भिक चरण में क्रान्ति का चरित्र मुख्यतः बुर्जुआ जनवादी है और बाद में जाकर ही यह धीरे-धीरे समाजवादी क्रान्ति में विकसित होगी।"[21] बहरहाल, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के कुछ नेता माओ से असहमत थे। ल्यू और देङ का तो काफी पहले से पूँजीवादी विकास का अपना एजेंडा था।

ब) क्रान्ति के बाद के समाज में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका

इतिहास बताता है कि विगत 80 वर्षों के दौरान मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों ने राज्यसत्ता कब्जाने में कई बड़ी जीतें हासिल की हैं। एक के बाद एक दूसरा उदाहरण कम्युनिस्ट पार्टी को असरदार तरीके से मजदूर वर्ग और जनता को सशस्त्र संघर्ष के लिए संगठित करते हुए और राज्यसत्ता हथियाने में सर्वहारा के हरावल के रूप में दिखाता है। क्रान्ति के समय इन कम्युनिस्ट पार्टियों का लक्ष्य पहले तो समाजवादी और फिर अन्ततोगत्वा एक कम्युनिस्ट समाज विकसित करना था। बहरहाल, इतिहास यह भी दिखाता है कि एक बाद एक मामलों में, कम्युनिस्ट पार्टी राज्य सत्ता पर काबिज होने के बाद, एक खास बिन्दु पर आकर सर्वहारा के वर्गीय हितों के खिलाफ हो गई और उसने संक्रमण की दिशा को कम्युनिज्म से पूँजीवाद की ओर मोड़ दिया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी भी कोई अपवाद नहीं है। हम यहाँ क्रान्ति के बाद चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के रूपान्तरण के सम्पूर्ण विश्लेषण का प्रयास नहीं कर रहे हैं, इसके बजाय हम कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को स्पष्ट करने की उम्मीद करते हैं।

विगत की हर क्रान्ति में, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सत्ता हथियाने के बाद, इसकी दो भूमिकाएँ थीं: 1. सत्ता में बने रहना और राज्यतंत्र का प्रबन्ध करना, और 2. सर्वहारा के हरावल के रूप में कार्य करना। ये अन्तरविरोध के दो पक्ष हैं। एक ओर, कम्युनिस्ट पार्टी को सर्वहारा के हरावल के रूप में कार्य करने के लिए सत्ता में बने रहना पड़ता है, तो दूसरी ओर, कम्युनिस्ट पार्टी को सर्वहारा के हरावल के रूप में कार्य करने के लिए अपनी सत्ता का त्याग भी करना पड़ता है। कई वजहों से, जिनको अभी भी ढूँढ़ा जाना है, एक के बाद दूसरे देशों में, क्रान्ति को सफलतापूर्वक अंजाम देने वाली पार्टियों का एकमात्र लक्ष्य सत्ता में बने रहना हो गया। जब कम्युनिस्ट पार्टी ने परिवर्तन के कारक के तौर पर काम करना बन्द कर दिया तो कम्युनिस्ट पार्टी और सर्वहारा के बीच का सम्बन्ध टूट गया। जब यह हुआ, तो कम्युनिस्ट पार्टी ने सर्वहारा के अधिनायकत्व का उपयोग कम्युनिस्ट पार्टी की तानाशाही को उचित ठहराने के लिए शुरू किया। बहरहाल, इस बिन्दु पर पहुँचने के लिए एक विकास प्रक्रिया होती है। चीन के ठोस अनुभव इस बहस पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं।

इस पूरे आलेख में हमने चीन में संशोधनवाद के कारणों की पहचान करने का प्रयास किया है। हम मानते हैं कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त और व्यवहार को आगे बढ़ाने में माओ त्से-तुङ के नेतृत्व की वजह से, चीन संशोधनवाद के खिलाफ अपने संघर्ष में कुछ कदम और आगे

बढ़ा। शुरुआत से ही क्रान्ति के बाद के चीनी समाज और इसमें चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को लेकर माओ का अपना विचार था, जो उनके मुख्य विरोधी ल्यू शाओ ची से काफी अलग था। उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीकरण के बाद, ल्यू ने प्रधान अन्तरविरोध के रूप में "उन्नत सामाजिक व्यवस्था" (इससे उसका अभिप्राय उत्पादन के साधनों का राजकीय स्वामित्व था) और "पिछड़ी सामाजिक उत्पादक शक्तियों" के संघर्ष को देखा।[22] ल्यू का मानना था कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के राज्य को वैधिक हस्तान्तरण के बाद, उत्पादन सम्बन्धों को बदलने का कार्यभार सम्पन्न हो गया और अब चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए प्रमुख कार्यभार उत्पादक शक्तियों को विकसित करने का था। दूसरी ओर, माओ का सोचना था कि यद्यपि उत्पाद के साधनों का हस्तान्तरण राज्य को हो गया है, लेकिन उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन लाने का काम अब भी अधूरा ही है। इसके अलावा, अधिरचना में भी समस्याएँ थीं। चीनी समाज के ये दो आधारभूत रूप से भिन्न विश्लेषण दर्शाते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बारे में ल्यू और माओ के विचारों में क्या फर्क था।

ल्यू के दृष्टिकोण से, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का प्रमुख कार्यभार उत्पादक शक्तियों को विकसित करने का था। उसका मानना था कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को आर्थिक विकास के लिए स्थायी अनुकूल वातावरण बनाना चाहिये, और इसे इस काम के लिए चीन के मुट्ठीभर टेक्नोक्रेटों की विशेषज्ञता का सहारा लेना चाहिये। कम्युनिज्म की भावना को सुनिश्चत करने के लिए, बहरहाल, कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों को आचरण की आचार संहिता के निर्देशों के आधार पर, जैसे कि ल्यू की किताब 'अच्छे कम्युनिस्ट कैसे बनें' में बताया गया है, अपना शुद्धीकरण करते रहने की जरूरत थी। दूसरी ओर माओ आम जनता के उत्साह को ही उत्पादन सम्बन्धों और अधिरचना में वास्तविक परिवर्तनों का मुख्य चालक शक्ति मानते थे। उत्पादन सम्बन्धों तथा अधिरचना में आगे के परिवर्तन जनता की सम्भावित शक्तियों को मुक्त कर देते। मुट्ठी भर अभिजात लोगों के समूह की तुलना में जनता का उत्साह ही उत्पादक शाक्तियों को आगे बढ़ाने की कुंजी था। माओ यह देख पा रहे थे कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की विश्वसनीयता तभी तक बनी रहेगी, जब तक यह जनता से अपने घनिष्ठ सम्बन्ध पर निर्भर रहेगी, और यह भी कि पार्टी के सदस्यों को स्वयं को जनता से ऊपर समझने वाला अभिजात समूह नहीं होना चाहिये। इसके बजाय, उन्हें अपने आपको जनता की आलोचना के अधीन रहना था।

इन दोनों दृष्टिकोणों के स्पष्ट अन्तरों से, हम समझ सकते हैं कि माओ ने चीनी समाज में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को आगे के आधारभूत परिवर्तनों के कारक के तौर पर देखा, जबकि ल्यू एक मजबूत चीन बनाने को चीनी पार्टी के प्रमुख कार्यभार के तौर पर देख रहा था।

निश्चित रूप से इसमें कोई दो मत नहीं कि चीन को साम्राज्यवादी ताकतों से अपनी रक्षा के लिए आर्थिक और सैनिक दोनों दृष्टियों से शक्तिशाली होना चाहिये था, पर बहस इस बात की थी कि यह काम किस तरह किया जाये और क्या मजबूत चीन बनाना ही एकमात्र लक्ष्य था। जैसा कि हमने अभी कहा, माओ ने अपनी ही सत्ता को स्थायी बनाने में लगे रहने के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका को कभी नहीं देखा; इसके बजाय चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को कम्युनिज्म की ओर संक्रमण का नेतृत्व जारी रखना चाहिये था और केवल इसी तरह से यह सर्वहारा का हरावल होने का दावा कर सकती थी।

स) नौकरशाही का भौतिक आधार

अब सवाल नौकरशाही का है। जो कोई भी क्रान्ति के बाद चीन के विकास से परिचित है, बखूबी समझता है कि नौकरशाही परिवर्तन की राह का रोड़ा साबित हुई है। कोई भी काम कराने के लिए, अनुमोदन लेने के लिए नौकरशाही की परत-दर-परत पार करनी पड़ती है। इसलिए, नौकरशाही और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से इसके सम्बन्ध के सवाल पर हमें ध्यान देने की जरूरत है। कईयों ने इस समस्या के लिए चीन के लम्बे सामन्ती इतिहास को जिम्मेदार ठहराया है। हम भी, निश्चित रूप से सामन्ती विचारधारा का प्रभाव अधिकारियों और आम जनता पर पाते हैं, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चीनी सत्ता हथियाने के बाद भी इस पिछड़ी विचारधारा को नये भौतिक आधारों से जीवनदान मिला। सामन्ती प्रवृत्ति और नेतृत्व में बैठे लोगों की कार्यशैली तथा सत्ता के नये भौतिक आधार पर निर्मित नौकरशाही तंत्र में एक अन्तर है। हम यह अन्तर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सत्ता हथियाने से पहले और बाद की स्थितियों की तुलना करके देख सकते हैं।

क्रान्तिकारी युद्ध के दौरान, जब चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने कुओमिन्ताङ और जापानियों से लड़ने में किसानों और मजदूरों का नेतृत्व किया, तभी से माओ ने काडरों की नेतृत्वशैली की आलोचना करते हुए कई लेख लिखे। माओ ने नौकरशाही की समस्या और काडरों पर पुरानी विचारधारा, पुराने संस्कारों और आदतों का प्रभाव देख लिया था। उन्होंने यह भी देखा कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नये नेतृत्व को जनता के साथ सम्बन्धों में कुछ मूलभूत और त्वरित परिवर्तनों की जरूरत थी। माओ ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि काडरों के लिए जनता को समझना, जनता से सीखना और जनता के कल्याण से सम्बद्ध होना महत्वपूर्ण है। क्रान्तिकारी युद्ध के दशकों में हमने नये तरह के काडरों को अस्तित्व में आते देखा जो कि पुराने भ्रष्ट कुओमिन्तांग अधिकारियों से काफी अलग थे। ये काडर सिद्धान्तों से पूरी तरह लैस और अनुशासित थे। उनमें से कई तो मजदूरों और किसानों की कतारों से आये थे, उन्होंने मेहनतकश जनता से अपने सम्बन्धों को बनाये रखा था और क्रान्ति को अंजाम देने में उनका नेतृत्व किया था। हालाँकि इन काडरों पर भी पुरानी सामन्ती विचारधारा, पुरानी आदतों और संस्कारों का प्रभाव था, पर वे आलोचना और आत्मालोचना के जरिये अपनी चिन्तनप्रणाली और विश्वदृष्टिकोण को बदलने में कामयाब हुए थे।

क्रान्तिकारी युद्ध के दौरान, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का जीवन और विस्तार करना जनता के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्धों पर निर्भर था। माओ ने कहा था कि क्रान्तिकारी योद्धा मछली हैं और जनता पानी; मछली को तैरने और जिन्दा रहने के लिए पानी की जरूरत थी। वास्तव में, किसानों ने कुओमिन्ताङ से आठवीं राह सेना की रक्षा की थी और सैनिकों को भोजन और अन्य जरूरत की चीजें उपलब्ध करायीं। किसान जानते थे कि सैनिक उन्हीं के लोग हैं और उन्हीं की मुक्ति के लिए लड़ रहे हैं। केवल जनता के सहयोग से ही कम्युनिस्टों के लिए गुरिल्ला संघर्ष छेड़ना और क्रान्ति में विजय पाना सम्भव था।

1949 में सत्ता पर काबिज होने के बाद चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने

लोक गणराज्य की स्थापना की, जिसने कुओमिन्ताङ की नौकरशाही पूँजी का स्वामित्वहरण किया और खान, यातायात और संचार उद्योगों में लगी उत्पादक परिसम्पत्तियों का राष्ट्रीकरण कर दिया। नयी सरकार को देश चलाने के लिए दिन-प्रतिदिन के कामों के लिए दसियों हजार नौकरशाहों पर निर्भर होना पड़ता था। प्रशासकीय तंत्र में राजकीय नौकरशाही के विभिन्न स्तर थे, मंत्रालय, ब्यूरो, विभाग आदि-आदि..। पार्टी काडरों के नेतृत्व में, प्रशासनिक इकाईयों को कई पुराने कुओमिन्तांग सरकार के अधिकारियों से भी काम लेना पड़ता था जो भ्रष्टाचार और सत्ता के दुरुपयोग के लिए कुख्यात थे। जनता को इन अधिकारियों के भ्रष्टाचार के बारे में पहले से ही पता था और उनमें इन अधिकारियों के प्रति सख्त नाराजगी थी। इसके अलावा, 1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में भ्रष्टाचार और उच्च पदस्थ पार्टी अधिकारियों द्वारा अपव्यय के कई मामले भी सामने आये। माओ इस बारे में काफी चिन्तित थे, क्योंकि वे स्पष्ट देख पा रहे थे कि यदि इसे चलते रहने दिया गया तो अभी-अभी सत्ता सुख का स्वाद चखने वाले पार्टी अधिकारी आसानी से नये नौकरशाही में तब्दील हो जाएँगे और सत्ता का दुरुपयोग करेंगे। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि सत्ता हथियाकर चीन के लम्बे सामन्ती इतिहास में एक नये राजवंश की स्थापना करने वालों की तरह, इसके सदस्य सुविधा भोग कर सकते थे। यह तब था जब माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने तीन-विरोधी और पाँच-विरोधी आन्दोलन शुरू कर दिया था। (हम और विस्तार में इन आन्दोलनों की व्याख्या खंड 'द' में करेंगे।) ये दोनों आन्दोलन सिर्फ इसलिए महत्वपूर्ण नहीं थे कि पार्टी में सम्पूर्ण सफाई आवश्यक थी, बल्कि इसलिए भी कि इस तरह के आन्दोलन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और जनता के बीच सम्बन्ध बहाल करने के प्रयास थे।

क्रान्ति के दौरान, आशातीत संख्या में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल लोग किसी स्वार्थ से प्रेरित नहीं थे। पार्टी में शामिल होने से कोई निजी लाभ नहीं था और किसी को जितना बड़ा पद मिलता था, उतना ही बड़ा त्याग और जिम्मेदारियाँ उसे निभानी होती थीं। 1949 के बाद स्थिति पूरी तरह बदल गयी। पार्टी में किसी व्यक्ति का पद ही राज्यतंत्र में उसकी वास्तविक शक्ति तय करता था। राज्यतंत्र के पास राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक शक्तियाँ थीं। एक नियोजित अर्थव्यवस्था में राज्य की आर्थिक शक्ति का मतलब आर्थिक संसाधनों पर राजकीय प्रशासकों का प्रायः पूर्ण नियंत्रण होता है। राजकीय योजना आयोग को भौतिक और मानवीय संसाधनों को अर्थव्यवस्था के किसी भी क्षेत्र या किसी एक क्षेत्र में लगाने का अधिकार था। संचय निधि, जो वास्तव में अतिरिक्त मूल्य होती थी, योजना आयोग के अधिकार में होती थी। अतिरिक्त मूल्य के विनियोजन के प्राधिकार का मतलब होता था निवेश और विस्तारित उत्पादन के निर्णय का अधिकार। उपक्रमों में संसाधनों के ऊपर प्रबन्धकों का नियंत्रण पहले की अपेक्षा कम लेकिन अब भी ज्यादा था। आर्थिक शक्ति के साथ राजनीतिक और सैनिक शक्तियाँ सम्बद्ध थीं।

इसके अलावा, शक्ति के केन्द्रीकरण को उस चयनप्रक्रिया से भी मजबूती मिलती थी जिसके तहत उच्च पदस्थ राजकीय नौकरशाह उसी समय उच्चपदस्थ पार्टी काडर या पदाधिकारी भी होते थे। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने काडर प्रणाली का उपयोग राज्यतंत्र में पदों को भरने के लिए काडर चुनने में किया। यह अन्तर्ग्रन्थित प्रणाली खुद को दुहराने में समर्थ थी। दरअसल, राज्यतंत्र, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और काडर व्यवस्था तीनों ने मिलकर यह परस्पर सहयोग और निर्भरता का सम्बन्ध बनाया था।

यद्यपि 1949 के पहले भी और बाद में भी काडरों पर पुरानी विचारधारा और सामन्ती अतीत के संस्कारों का प्रभाव था, पर 1949 के बाद फर्क यह था कि अब पार्टी काडरों और पदाधिकारियों के पास सत्ता थी। इस तरह उनके पास नया नौकरशाही तंत्र कायम करने का भौतिक आधार था। अन्तः हम नौकरशाही की समस्या के लिए केवल सामन्ती अतीत को ही जिम्मेदार नहीं ठहरा सकते। 1949 के बाद, चीन की कम्युनिस्ट पार्टी अब जनता के समर्थन पर निर्भर नहीं थी (कम से कम कुछ समय तक के लिए); इसके बजाय अब उनके पास जनता को नियंत्रित करने की शक्ति थी। हम यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारा मतलब यह नहीं है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने इस शक्ति का इस्तेमाल 1949 से 1978 तक समाजवादी संक्रमण के दौरान नहीं किया। इसके उलट चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने इस शक्ति का भरपूर इस्तेमाल करते हुए समाजवाद की ओर संक्रमण में चीन का नेतृत्व किया था। रिकॉर्ड बताते हैं कि पार्टी पदाधिकारियों (सरकार) के एक बहुत छोटे से हिस्से ने पद का दुरुपयोग किया। बहरहाल, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और सत्ता के आधार के बीच वस्तुगत सम्बन्ध था, फिर भी काडरों की बहुसंख्या सिद्धान्तों से अच्छी तरह लैस और अनुशासित थी। इसलिए, संभावित खतरा उपस्थित था अगर उस शक्ति को किसी भी तरह से सीमित नहीं किया जाता। यह दिखाता है कि क्यों माओ द्वारा समर्थित और शुरू किये गये आन्दोलन इतने महत्वपूर्ण थे।

द) जनान्दोलन परिवर्तन के लिए माओ की रणनीति

माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में, चीन ने समाजवादी संक्रमण के दौरान एक विशिष्ट अनुभव प्राप्त किया था। 1949 से 1978 के बीच की अवधि में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने एक के बाद एक कई जनान्दोलन संगठित किये। इस अवधि के दौरान सभी बड़े परिवर्तन जनान्दोलनों के साथ हुए। हर जनान्दोलन चीनी समाज के उस समय के प्रधान अन्तरविरोध को प्रकट करता था, और हर आन्दोलन किसी खास अन्तरविरोध को हल करने की प्रक्रिया था। जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरविरोधों को हल करने के लिए जनता को आन्दोलनों में उतारा, इसने समाज के रूपान्तरण में अनवरत परिवर्तन के कारक की भूमिका निभायी। इससे पहले हमने भूमिसुधारों के दौरान हुए जनान्दोलन की व्याख्या की थी और देखा कि किस तरह इस आन्दोलन ने चीन की किसान आबादी को बदल डाला। पिछले खंड में, हमने 'तीन चीजों का विरोध करो' और 'पाँच चीजों का विरोध करो' आन्दोलनों के महत्व की व्याख्या की थी। तीन चीजों का विरोध करो आन्दोलन में भ्रष्टाचार, फिजूलखर्ची और नौकरशाही को निशाना बनाया गया। इस आन्दोलन ने सभी स्तर के सरकारी कर्मचारियों और कई शहरों में व्यापक जनसमूह को घूसखोरी और भ्रष्टाचार के अन्य रूपों का पर्दाफाश करने के लिए एकजुट किया गया। अपराधियों को उनके अपराध की गंभीरता के आधार पर उचित दंड दिया गया। दंडितों में दो उच्चपदस्थ पार्टी अधिकारी भी थे, जिन्होंने निर्माण ठेकों और अन्यान्य सौदों से फायदा उठाकर सार्वजनिक कोष से भारी रकमों का गबन किया था। उनके उच्च पद तथा पूर्व में क्रान्ति में किये गये योगदानों के बावजूद, सरकार ने उनका

कोई बचाव नहीं किया और उन दोनों को मृत्युदंड दिया गया।[23]

चूँकि सार्वजानिक क्षेत्रों में निजी पूँजीपतियों के सहयोग के बगैर भ्रष्टाचार नहीं किया जा सकता था, इसलिए 'तीन चीजों का विरोधी करो' आन्दोलन ने सार्वजनिक सम्पत्ति की चोरी और अन्य आर्थिक अपराधों में सरकारी पदाधिकारियों और निजी क्षेत्र के गठबन्धन का पर्दाफाश किया। कुछ निजी पूँजीपतियों ने कोरियाई युद्ध से मिले अवसर का फायदा सरकारी ठेकों में धोखाधड़ी करके अवैध लाभ कमाने में उठाया। वे सरकारी अधिकारियों से अपने मनमाफिक काम कराने के लिए रिश्वत देने में सक्षम थे। 'तीन चीजों का विरोध करो' आन्दोलन के तुरन्त बाद, पार्टी ने 'पाँच चीजों का विरोध करो' आन्दोलन छेड़ दिया, जिसके निशाने पर रिश्वतखोरी, कर चोरी, राजकीय सम्पत्ति की चोरी, सरकारी ठेकों में धोखाधड़ी और आर्थिक सूचनाओं की चोरी थी।[24] ये अभियान अतीत से साफ तौर पर सम्बन्ध विच्छेद के लिए आवश्यक और समयोचित थे क्योंकि निजी पूँजी शीघ्र ही राजकीय स्वामित्व वाले उपक्रमों में शामिल होने वाली थी और इसके लिए राजकीय नौकरशाहों और निजी पूँजीपतियों में सहयोग की जरूरत थी। इस समय, चीनी जनता और राज्य के नियमों के अनुसार नहीं चलने का अन्तरविरोध ही प्रधान अन्तरविरोध था। बगैर इस अन्तरविरोध को हल किये राष्ट्रीकरण करना संभव नहीं था।

जनान्दोलनों के अलावा माओ ने जनदिशा लागू करके संवाद स्थापित करने को भी पार्टी और जनता के बीच सम्बन्ध कायम रखने के एक तरीके के तौर पर देखा। जनदिशा ने जनता से सम्बन्धित नीतियों के क्रियान्वयन के समय उनके द्वारा अभिव्यक्त विचारों के महत्व पर जोर दिया। इसने इन नीतियों को बनाने में भी जनभागीदारी सुनिश्चित की। चीन में, जनदिशा लागू करने से प्रशासन और जनता के बीच सम्पर्क के नये तरीके स्थापित हुए। उदाहरण के लिए, सम्पर्क के तरीकों में "तीन उतार और तीन चढ़ाव" तथा "जनता से लो जनता को दो" जैसी विधियाँ शामिल थीं। इन तरीकों ने जनता से आने वाले विचारों और सुझावों के महत्व पर जोर दिया। ये प्रशासन और जनता के बीच परस्पर सम्पर्क के माध्यम से जनता के विचारों और सुझावों के समर्थन और स्पष्टीकरण के व्यावहारिक तरीके थे। एक दूसरा तरीका था जिसमें कुछ खास-खास नीतियों की संभाव्यता की जाँच के लिए प्रायोगिक परियोजनाएं चलायी जाती थीं। ये प्रायोगिक परियोजनाएं भी यह जानने का तरीका थीं कि जनता क्या चाहती है और उसे किन समस्याओं को झेलना पड़ता है। जनता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने के लिए, काडरों को लम्बी अवधि तक उनके साथ रहने को प्रोत्साहित किया जाता था। यह "दुन दियान" कहलाता था। "दुन दियान" के दौरान काडर तुरन्त प्राथमिक अवलोकन कर सकते थे। और बाद में गहराई में सर्वेक्षण कर सकते थे। इस तरह से प्राप्त सूचनाएँ समाज के विश्लेषण और प्रधान अन्तरविरोध के निर्धारण में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की मदद करती थीं। फिर इनके समाधान के लिए नीतियाँ बनायी जा सकती थीं। सम्पर्क की इन विधियों के माध्यम से पता लगाना संभव था कि किसी खास नीति को जनता का समर्थन अर्थात सफलता का भौतिक आधार प्राप्त था या नहीं। हालाँकि वास्तविकता यह थी कि जनदिशा का क्रियान्वयन उस तरह से नहीं हो रहा था, जिस तरह का आदर्श रखा गया था। जनता के विचारों का समर्थन करने के बजाय काडर कभी-कभी तो ऊपर के आदेशों का महज पालन करते थे। काडरों की इस प्रवृत्ति और इस तरह के व्यवहार से प्रशासन और जनता के बीच सम्पर्क बाधित हुआ और इससे नियंत्रणवाद और नौकरशाही को बढ़ावा मिला।

काडरों ने जनदिशा लागू की या नहीं, इसकी जाँच जनान्दोलनों से होनी चाहिये। जनान्दोलनों ने एक खुला मंच प्रदान किया जहाँ जनता अपने विचारों को अभिव्यक्त कर सकती थी, गुस्से का इजहार कर सकती थी और जहाँ पार्टी सदस्यों के गलत कामों व सत्ता के दुरुपयोग के लिए उनकी आलोचना कर सकती थी। जनान्दोलनों में भागीदारी ने मजदूरों और किसानों की चेतना को उन्नत किया और नयी विचारधारा का निर्माण किया। समाजवादी संक्रमण के दौरान तमाम बड़ी नीतियों का क्रियान्वयन जनान्दोलनों के साथ हुआ, जहाँ नये विचार सामने आये और महत्वपूर्ण विषयों पर बहसें हुईं। अगर ये नीतियाँ वास्तव में जनहित में होती थीं तो जनता उन्हें अन्ततोगत्वा स्वीकार कर लेती थी। अतीत के जनान्दोलनों ने सरकार के लिए अपनी नीतियों पर जनता से सम्मति लेने का अवसर प्रदान किया था। इस तरह से सम्मतिप्राप्त नीतियों की सफलता की बेहतर संभावनाएँ थीं। जनान्दोलनों ने जनता के उत्साह को ऊँचा उठाया।

हमारे विचार से सत्ताधारी पार्टी द्वारा संगठित जनान्दोलन असामान्य है, क्योंकि सत्ता आम तौर पर न केवल इसलिए डरती है कि कहीं आन्दोलन अराजकता में न बदल जाये, बल्कि उसे यह भी डर होता है कि जनकार्रवाई में सत्ता भी निशाने पर आ सकती है। इसके अलावा हम सोचते हैं कि जनान्दोलन ही वह समान्तर शक्ति थी जिसने शक्ति के राज्य (और पार्टी) तंत्र में केंद्रीकरण और चीन की नौकरशाही व्यवस्था की संरचनात्मक अनम्यता को चुनौती दी। जनान्दोलनों के दौरान, काडरों को जनता की आलोचना का निशाना बनाया जाता था और इस तरह वे प्रबन्धन की अपनी नौकरशाही शैली बदलने को बाध्य होते थे। सत्ता के दुरुपयोग में काफी हद तक कमी आयी। बहरहाल, सांस्कृतिक क्रान्ति से पहले के सभी जनान्दोलन चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रायोजित और संगठित थे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान ही यह संभव हुआ कि युवा छात्रों और जनता ने अपने आप संगठित होना शुरू किया। इस आन्दोलन में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के निर्देशों के बजाय, कई बार जमीनी स्तर से पहलकदमी विकसित हुई। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान ही पहली बार "सत्ता हथियाना" शब्दावली का उल्लेख हुआ। "क्रान्ति करना अपराध नहीं है, खुले विद्रोह का कारण मौजूद है" जैसे नारों का व्यापक प्रचार हुआ था। दृष्टिकोण में यह परिवर्तन काफी महत्वपूर्ण था क्योंकि सत्ताधारियों को चुनौती देने के जनता के अधिकार की यह पहली बार खुली स्वीकृति थी। यह सच था कि इस क्रान्तिकारी चेतना ने एक हद तक अव्यवस्था पैदा की और कुछ लोगों को गलत सजाएँ भी मिलीं। बहरहाल, यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण था कि जनता ने यह जान लिया कि वे पहले की तरह न केवल सरकार के भ्रष्ट अधिकारियों पर उँगली उठा सकते हैं, बल्कि पार्टी के केंद्रीय समिति के निर्णयों को भी चुनौती दे सकते हैं। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी जो कभी गलत नहीं कर सकती की दिव्य छवि इस तरह बिखर गयी। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान उस समय की सत्ता-संरचना के विकल्प ढूँढ़ने के प्रयास किये गये थे। फैक्ट्रियाँ चलाने और अन्य प्रशासानिक कामों के लिए क्रान्तिकारी समितियाँ बनाना इसका एक उदाहरण है। कुछ कारणों से, जिन्हें अभी विश्लेषित किया जाना है, ये प्रयास असफल

हो गये। जब हम सर्वहारा के दृष्टिकोण से सांस्कृतिक क्रान्ति का मूल्यांकन करते हैं तो पाते हैं कि यह जितना कुछ कर पाने में असफल रही उससे अधिक यह कर गयी। जैसा से माओ ने कहा था, “अभी यह कार्यभार पूरा करने में कई और सांस्कृतिक क्रान्तियाँ लगेंगी।”

जब से 1979 में देङ और उसके चेलों ने सत्ता हथियायी, उन्होंने धीरे-धीरे सुधारों के व्यापक ढाँचे में फिट बैठने वाली परियोजनाओं को आगे बढ़ाया। प्रकृति से पूँजीवादी ये परियोजनाएँ, सुधारवादियों द्वारा कानून पास करने, न्यायिक आदेशों और प्रशासनिक आदेशों के माध्यम से चलायी जा रही हैं। 1979 में, सुधारवादियों ने संविधान संशोधन किया तथा मजदूरों के हड़ताल और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार को खत्म कर दिया। बाद में, सुधारवादियों ने राजकीय उपक्रमों में स्थायी रोजगार प्रणाली को कानूनी तौर पर सामाप्त करने के लिए ठेका श्रम कानून पास किया।[25] देङ के तमाम सुधार कार्यक्रम जनता पर ऊपर से थोपी गयी वैध (या अवैध) कार्रवाइयों के माध्यम से चलाये गये। सुधारवादियों ने किसी भी तरह के जनान्दोलनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। देङ के सुधारों ने चीनी समाज में कई नये अन्तरविरोध पैदा किये। सबसे ऊपर पार्टी पदाधिकारियों और जनता का अन्तरविरोध ही प्रधान अन्तरविरोध के रूप में सामने आया। जनान्दोलन के बिना, इन अन्तरविरोधों की अभिव्यक्ति और समाधान का कोई उपाय नहीं था। 1989 के बसन्त में, ये अन्तरविरोध इतने ज्यादा बढ़ गये कि छात्रों ने चीन के प्रमुख शहरों में प्रदर्शन करना शुरू कर दिया। लाखों शहरी नागरिक भी अपने असन्तोष और नाराजगी को स्वर देने के लिए इनमें शामिल हुए। चीन के लोग अपने असन्तोष को अभिव्यक्त करने के लिए जनान्दोलनों की लम्बी परम्परा का पालन ही कर रहे थे, इस बार फर्क बस इतना था कि यह पार्टी द्वारा संगठित नहीं था बल्कि जनता की ओर से स्वतःस्फूर्त था। जब तत्कालीन चीनी सरकार ने निर्णय लिया कि इस तरह के सीधे संघर्ष को बर्दाश्त नहीं किया जायेगा, तो उन्होंने सेनाएँ भेजीं और इसका समापन 4 जून के थ्येनआनमेन नरसंहार के रूप में किया। नरसंहार के सात वर्ष बाद भी, प्रदर्शन का मुख्य निशाना नौकरशाहों द्वारा, सत्ता का दुरुपयोग और सुविधाभोग, न सिर्फ अब तक जारी है बल्कि और ज्यादा बढ़ गया है। यद्यपि, अखबारों के प्रोपेगंडा में बारम्बार घोषणा की जाती है कि आर्थिक अपराध करने वालों को कानून की ओर से उचित दंड मिलेगा, लेकिन चीन की जनता जानती है कि सिर्फ छोटे-छोटे अपराध करने वालों को ही दंड मिलेगा क्योंकि इस तरह के मामलों में दोषियों के पास ऊपर वालों का कोई समर्थन नहीं होता है। दूसरी तरफ सार्वजनिक कोष से करोड़ों के गबन के अनेक मामलों की लीपापोती कर दी गयी, क्योंकि इन मामलों में अभियुक्तों के सम्बन्ध चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के उच्चपदस्थ अधिकारियों से थे। जनान्दोलनों के बगैर, इन बड़े अधिकारियों के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने का कोई और उपाय नहीं हैं।

हमारा ऐसा मानना है कि जिनके पास सत्ता है, उनके पास मौजूदा सरकार के साथ रहकर स्वयं को समृद्ध बनाये का अवसर है। यह अवसर पहले भी वस्तुगत रूप में मौजूद था, इस तथ्य के बावजूद कि काडरों ने अतीत में “जनता की सेवा करना” या “अपने देश की सेवा करना” की विचारधारा को स्वीकार किया था और “अपने आप को समृद्ध बनाने” को नीची निगाह से देखते थे। अन्ततः वस्तुगत सामाजिक परिस्थिति व्यक्तिगत मान्यताओं से ज्यादा महत्वपूर्ण थी। सुधारों की शुरुआत से पहले ही, पदाधिकारियों में केन्द्रित शक्ति को अपने लिए फायदेमन्द बनाने की प्रवृत्ति विद्यमान थी। देङ के सुधारों ने ऐसे पदाधिकारियों को हरी बत्ती दे दी। उसके सुधार कानून ने राजकीय सम्पत्ति के नौकरशाही सम्पत्ति में परिवर्त्तन को वैध बना दिया। सुधार के बाद, राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर के अफसरशाह न सिर्फ अतिरिक्त मूल्य को नियंत्रित कर रहे थे, बल्कि इसका उपयोग उन्होंने अपनी नौकरशाही पूँजी को बढ़ाने में भी किया। इस तरह, असल में, यह अफसरशाह वर्ग शोषक बन गया। अगर हम पीछ देखें, तो माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जब मुठ्ठी भर उच्चपदस्थ पार्टी आधिकारियों का नाम लिया था, तो हो सकता था कि उन्होंने जानबूझकर ऐसा ल्यू-गुट के बड़े नेताओं को अकेला करने के लिए किया हो।

ङ) क्या चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में नई क्रान्तिकारी शक्तियों को पुनर्जीवित किया सकता है?

इससे पहले कि हम इस सवाल पर बात करें, जरूरत इस बात की है कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में हमारे चारों प्रेक्षणों का सारांश निकाला जाये और उसे इस आलेख के समग्र विश्लेषण के साथ सम्बद्ध किया जाये। यह स्पष्ट दीखता है कि भूमि सुधारों की समाप्ति के बाद चीन के विकास की दिशा के मुद्दे पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व दो धड़ों में बँट गया था। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर, माओ और उनके अनुगामियों ने चीनी संक्रमण की मंजिल समाजवाद को माना, जबकि ल्यू व देङ और उनके चेलों ने पूँजीवाद को चीन के संक्रमण की मंजिल के तौर पर चुना। पीछे मुड़ कर देखने पर, यह स्पष्ट नजर आता है कि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अधिकांश लोग पूरी तरह नहीं समझ पाये थे कि समाजवादी संक्रमण का मतलब क्या है और कैसे यह समाजवाद तक पहुँचेगा। ल्यू और देङ ने जब अपनी पूँजीवादी परियोजनाओं को आगे बढ़ाया तो उन्होंने इसे इस रूप में बताया कि यह समाजवाद लाने का बेहतर रास्ता है क्योंकि उनका दावा था कि ये परियोजनाएँ उत्पादक शक्तियों को तेजी से विकसित करेंगी। उन्होंने यहाँ तक तर्क दिये कि उत्पादक शक्यिों के तीव्रतर विकास से समाजवाद की रक्षा के लिए एक ताकतवर चीन के निर्माण में मदद मिलेगी।

जैसा कि हमने पहले ही कहा था, कई कम्युनिस्ट नेता क्रान्ति में इसलिए शामिल हो गये थे क्योंकि वे कम्युनिस्ट पार्टी को चीन के बचे रहने की एकमात्र आशा के रूप में देखते थे। इसलिए, ऐसे लोगों के लिए मजबूत चीन बनाना बड़ा आकर्षण था। पार्टी कतारों में अधिकांश सदस्यों को माओ के नेतृत्व में भरोसा था। उन्होंने भूमि सुधारों और इसके बाद सामूहिकीकरण के आन्दोलन में इन नीतियों का पालन किया।

क्रान्तिकारी युद्ध के लम्बे और कठिन संघर्षो के पूरे समय में, किसानों और मजदूरों को चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और इसके नेता माओ त्से-तुङ पर पूरा भरोसा था। यह भरोसा द्विस्तरीय था। पहला, कम्युनिस्ट पार्टी उनके पक्ष में थी। दूसरा, इसके पास इनको मुक्ति दिलाने के लिए सही रणनीति थी। यह भरोसा 1949 में जनता की सरकार की स्थापना के बाद भी जारी रहा। उन्होंने एक समाजवादी देश के निर्माण के लिए चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अनुगमन

का रास्ता चुना। हालांकि, उनको सांस्कृतिक क्रान्ति होने तक यह भनक भी नहीं थी कि पार्टी के भीतर नेतृत्व दो धड़ों में बंटा था।

समाजवादी संक्रमण के दौरान, समाजवादी परियोजनाएँ मजदूरों और किसानों के बहुलांश के सहयोग से लागू की गई और इन्होंने उन मजदूरों-किसानों को फायदा पहुँचाया। माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने मजदूरों-किसानों से समर्थन प्राप्त करने के लिए जनान्दोलन छेड़े। मजदूर-किसान संश्रय की माओ की रणनीति ने सर्वहारा कार्यदिशा के लिए उनके समर्थन को दृढ़ बनाने में मदद दी। हमारा यह सोचना है कि 1949 से 1978 तक सर्वहारा कार्यदिशा के प्रभुत्व में रहने का कारण उच्चस्तरीय पार्टी अधिकारियों का समर्थन नहीं था, बल्कि इसका कारण यह था कि माओ और उच्चाधिकारियों के बीच उनके समर्थकों के एक छोटे लेकिन ताकतवर समूह और पार्टी की कतारों में अधिकांश ने जनता से समाजवादी परियोजनाओं के लिए समर्थन की माँग की। अगर यह सही है तो इसमें सन्देह है कि समाजवादी संक्रमण की अवधि में सर्वहारा का अधिनायकत्व कायम था। इस समूची अवधि में ल्यू और देङ कई बार चीनी पार्टी में अपने समर्थकों (जो अल्पसंख्यक भी थे) के बूते अपनी पूँजीवादी परियोजनाओं को आगे बढ़ाने में सक्षम हुए, लेकिन अनवरत जनान्दोलनों ने उनकी परियोजनाओं को चकनाचूर कर दिया।

चीन में अफसरशाही के विकास के अपने विश्लेषण में हमने कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा सत्ता हथियाये जाने के बाद इसके नये भौतिक आधार पर चर्चा की थी। उच्च श्रेणी के पार्टी सदस्य, जो उच्चस्तरीय काडर और राज्यतंत्र में मुख्य प्रशासक भी थे, लोक गणराज्य बनने के बाद से ही विशाल शक्तियों के अधिकारी थे। 1978 तक उनकी शक्ति, अनवरत जनान्दोलनों की वजह से नियंत्रण में थी। इन पार्टी नेताओं में से अधिकांश ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग नहीं किया था। उन्होंने मध्य और निम्नस्तरीय काडरों की मदद से, देश को चलाने तथा उत्पादन प्रबन्धन में महत्वपूर्ण योगदान किया था। हालाँकि, राज्य चलाने वालों के रूप में उनकी अवस्थिति और हाथों में सत्ता ने सोचा कि देश को ठीक से चलाना, राजकीय उपक्रमों में उत्पादन अधिक बनाये रखना और खाद्य तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की अच्छी तरह से आपूर्ति करना ही समाजवाद के प्रति उनका कर्तव्य है। समाजवाद के बारे में उनका विचार यह था कि जब एक बार उत्पादन के साधनों का हस्तान्तरण राज्य और समूहों को हो गया, तो समाजवादी संक्रमण पूर्ण हो गया। वे अनवरत परिवर्तनों की जरूरत अक्सर नहीं समझते थे। इस तरह, उन्होंने यथास्थिति कायम रखने और विभिन्न स्तरों के सरकारी अधिकारियों के पदानुक्रम को स्थायी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इतना ही नहीं, वे अक्सर परिवर्तनों का विरोध भी करते थे, यदि ये परिवर्तन उनकी सत्ता के लिए खतरा उपस्थित करते थे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, नयी नीतियों के क्रियान्वयन में उनके सहयोग के लिए उनमें से कुछ की आलोचना की गयी। यह कहा जाता था कि जब वे खुद को न पसन्द आने वाली नीतियों के क्रियान्वयन का प्रतिरोध करते थे तो वे "जमीन पर लेटकर मुर्दा होने का स्वांग रचते"। माओ ने उन सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के उन पदाधिकारियों की भी आलोचना की जो पुराने जमाने के मण्डारिनों की तरह व्यवहार करते थे और आम जनता की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं से जिनका कोई मतलब ही नहीं था।

सांस्कृतिक क्रान्ति ने सर्वहारा कार्यदिशा और बुर्जुआ कार्यदिशा को सीधे-सीधे केन्द्र में ला दिया। अधिकांश मजदूर और किसान तथा पार्टी की कतारों ने अभी-अभी जनान्दोलनों के जरिये क्रियान्वित होने वाली माओ की समाजवादी परियोजनाओं और ल्यू-देङ की ऊपर से नीचे की दिशा में आगे बढ़ायी गयी पूँजीवादी परियोजनओं का फर्क समझना शुरू किया था। देङ के सुधार के 16 वर्षों के दौरान, सुधारवादियों द्वारा थोपी गयी पूँजीवादी परियोजनाओं से लोहा लेते-लेते, अधिकांश मजदूर-किसान देङ के सुधारों की असलियत को और ज्यादा समझने लगे हैं और अब वे इस बात का मूल्यांकन भी कर रहे हैं कि उन्होंने क्या खो दिया है। हालिया वर्षों में माओ के प्रति उनके प्यार और सम्मान से यह बिल्कुल स्पष्ट है।

पीछे मुड़कर देखने पर यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में माओ अल्पमत में थे। जैसा हमने पहले कहा, सांस्कृतिक क्रान्ति, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी और राज्य तंत्र में व्याप्त सत्ता संरचना का विकल्प ढूँढ़ने का एक प्रयास थी जो असफल हो गयी। जैसे-जैसे सांस्कृतिक क्रान्ति ने जोर पकड़ा, अधिकांश उच्च श्रेणी के पार्टी सदस्यों को अपनी सत्ता के लिए खतरा महसूस हुआ और इसलिए उन्होंने इसका समर्थन नहीं किया। अब यह भी स्पष्ट है कि 1979 से जारी देङ के सुधारों को पार्टी के भीतर के उच्च पदस्थ अभिजातों का समर्थन प्राप्त था। जो उच्चपदस्थ पार्टी सदस्य सर्वहारा कार्यदिशा के प्रति ईमानदार थे, उन्हें देङ के सुधारों की शुरुआत में ही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल बाहर कर दिया गया (चेन युङ-की इसका एक उदाहरण था)। देङ को समर्थन अलग-अलग समूहों के ऐसे गठबन्धन, जिसका साझा हित पूँजीवादी परियोजना में था, से मिलता था। उनके समर्थन के बूते ही, देङ के स्पष्ट रूप से मजदूर-किसान हितों के विरोधी सुधार, इस हद तक आगे बढ़ पा रहे हैं। इस गठबन्धन ने 1970 के दशक के मध्य में उभरे अन्तरविरोधों का फायदा उठाया (पहले की गयी व्याख्या देखें) और उनका समर्थन हासिल किया जो पूँजीवादी परियोजनाओं के अमल से लाभान्वित होने वाले थे। देङ के सुधारों के 16 वर्षों के दौरान, चीनी समाज में अन्तरविरोध तीखे हुए हैं। प्रधान अन्तरविरोध अब व्यापक आम जनता और जनता तथा विदेशी एकाधिकारी पूँजी के हाथों चीन के हितों को बेचकर समृद्ध हुए भ्रष्ट उच्चपदस्थ पार्टी पदाधिकारियों/सरकारी पदाधिकारियों के बीच है। देङ के सुधारों को लागू करने की प्रक्रिया में, गठबन्धन के भीतर मतभेद उभरे, जिससे देङ को सहूलियत हुई। देङ के दायीं ओर वे थे जो देङ के सुधारों को इतना गहन और तीव्र नहीं मानते थे कि वे चीन को पूँजीवाद की ओर मोड़ सकें। उन्होंने 1989 में स्वयं अपने असन्तोष को व्यक्त करने के लिए छात्रों और आम जनता की नाराजगी का उपयोग किया, जो असफल हुआ। पिछले कुछ वर्षों के दौरान, जब देङ के सुधारों को अपराजेय कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं तो देङ के बायीं ओर पार्टी के अभिजात चिन्ता प्रकट करने लगे। पार्टी के इन संभ्रान्तों को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रतिष्ठा और प्रभाव में आई लगातार गिरावट दिख रही है। वे एक ओर यह देख रहे है कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यापक आम जनता का समर्थन खो दिया है; तो दूसरी ओर उन्होंने यह देखा कि निजी मालिकाने और विदेशी पूँजी के साथ संयुक्त उपक्रमों के बढ़ने से, नया उभरता पूँजीपति वर्ग राजनीतिक प्रतिनिधित्व की माँग कर रहा है। इस तरह, वे डरते थे कि चीनी कम्युनिस्ट पार्टी भी पूर्व सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की तरह अन्ततोगत्वा समाप्त न

हो जाये। ऐसा लगता है कि देङ की मृत्यु के बाद, यह गुट चीनी कम्युनिस्ट पार्टी पर काबिज हो सकता है। अगर ऐसा होता है, तो वे देङ के कुछ सुधारों को पीछे खींचने वाली और थोड़ी भ्रष्टाचार कम करने वाली नीतियाँ लागू कर सकते हैं। बहरहाल, यह संदिग्ध है कि पार्टी का यह भद्रवर्ग संक्रमण की दिशा को पूँजीवाद से समाजवाद की ओर मोड़ेगा और जनता के ऊपर इतना भरोसा करेगा कि उसे आधारभूत परिवर्तनों में शामिल करे।

यह नकारने की बात ही नहीं है कि अब भी चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में समाजवाद में विश्वास करने वाले अनेक सदस्य हैं, जो समझ रहे हैं कि देङ के सुधारों ने चीन को कितना नुकसान पहुँचाया है। हालाँकि, ये पार्टी सदस्य देङ के सुधारों का विरोध करने में सक्षम नहीं हो पाये हैं। भविष्य में वे क्या कर पाने में सक्षम होंगे यह देखा जाना है। दूसरी तरफ, पिछले 16 वर्षों के दौरान पार्टी ने बड़ी संख्या में ऐसे सदस्यों की भर्ती की है जिनका समाजवाद से कोई लेना-देना नहीं है और जो कम्युनिस्ट पार्टी में दाखिल होने को खुद को आगे बढ़ाने का एक रास्ता समझते हैं। पार्टी के ऐसे सदस्य भी भावी विकास में अपनी भूमिका अदा करेंगे।

III. निष्कर्ष

इस लेख में, हमने चीन में समाजवादी संक्रमण तथा इसके पूँजीवादी दिशा में मुड़ जाने का अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। विश्लेषण पिछले चालीसेक वर्षो में चीन के ठोस अनुभवों पर आधारित है। लेनिन ने समाजवाद के रास्ते के बारे में जो कहा है उसे हमने इस लेख में पहले ही उद्धृत किया था। उन्होंने कहा है, “हम यह दावा नहीं करते हैं कि मार्क्स और मार्क्सवादी लोग समाजवाद की राह को सम्पूर्णता में समझते हैं। इसका कोई अर्थ नहीं है। हम इस राह की दिशा जानते हैं, हम जानते हैं कि कौन सी वर्गशक्तियाँ इस राह पर आगे बढ़ेंगी, लेकिन ठोस और व्यावहारिक सीखें उन करोड़ों लोगों के अनुभवों से ही प्राप्त की जा सकती हैं जे इसका बीड़ा उठाएँगे।” पिछले 80 वर्षो के दौरान, दसियों करोड़ लोगों ने अपने समाजों को समाजवाद की ओर ले जाने का बीड़ा उठाया है। दुर्भाग्य से, समाजवाद के निर्माण के प्रयास का प्रथम चक्र असफल हो गया। हमें उनके बहुमूल्य अनुभवों से सीखने की जरूरत है, क्योंकि दसियों करोड़ लोग फिर भविष्य में इसके लिए कमर कसेंगे। समाजवाद असफल नहीं हुआ है, क्योंकि हम अभी तक इसकी देहरी पर भी नहीं पहुँचे हैं।

टिप्पणियाँ

(1) “मजदूर और किसान”, संपूर्ण रचनाएं, खंड 21, पृ. 133 न्यूयॉर्कः इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 1932।

(2) देखें पी.वी. अन्नेकोव को कार्ल मार्क्स का पत्र, 28 दिसम्बर 1846। कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खंड 2 पाँचवाँ संस्करण, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को 1962, पृ. 441 से 452। यह भी देखें, कार्ल मार्क्स की रचना ‘दर्शन की दरिद्रता’ में प्रूदों के बारे में, जे.बी. श्वितज़र को पत्र, 24 जनवरी 1865, पीकिंग, विदेशी भाषा प्रेस, 1978, पृ. 215।

(3) सामूहिक समाजवादी और पूँजीवादी परियोजनाओं की व्याख्या के लिए हमारे द्वारा प्रयुक्त सभी उदाहरण कृषि से सम्बन्धित हैं। लेकिन सामूहिक क्षेत्र में उद्योग भी थे। इसके अलावा, शहरों में भी अनेक सामूहिक उपक्रम थे, जब 1970 के दशक में रिहायशी इलाकों ने छोटे औद्योगिक उत्पादों के उत्पादन के लिए खुद को संगठित किया।

(4) देखें, सू जिङ, “भूमि सुधार के बाद, दो लाइनों का संघर्ष, पूँजीवाद बनाम समाजवाद,” जिङ जिन यान ज्यू, 1965, अंक 7, पृ.24।

(5) पूर्वोक्त

(6) थॉमस जी. रॉस्की, इकोनॉमिक ग्रोथ एण्ड इम्प्लॉयमेण्ट इन चाइना (विश्व बैंक के लिए प्रकाशित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1979, पृष्ठ 7-8)

(7) राजकीय क्षेत्र में समाजवादी परियोजना की व्याख्या के लिए हमने राजकीय स्वामित्व वाले उद्योगों का उदाहरण लिया है। राजकीय फार्म भी समाजवादी परियोजनाएँ है।

(8) माओ त्से-तुङ, “राजकीय पूँजीवाद के बारे में”, 9 जुलाई 1953, *माओ त्से-तुङ की चुनी हुई कृतियाँ*, पीकिङ, अं. सं., 1977, खंड 5, पृ. 101

(9) देखें विलियम हिंटन, *फानशेन, एक चीनी गाँव में क्रान्ति की डाक्यूमेंट्री*, विंटेज बुक्स, 1966

(10) देखें टिप्पणी 4

(11) कृषि सहकारियों पर माओ के काम के लिए, देखें “कृषि सहकारिता के बारे में” (31 जुलाई, 1955), “कृषि सहकारी आन्दोलन को पार्टी सदस्यों और गरीब तथा निम्न मध्यम किसानों पर भरोसा करना चाहिए”, (7 सितम्बर, 1955), और “*चीन के देहातों में समाजवादी उभार* का परिचय” (सितम्बर और अक्टूबर, 1955), *माओ त्से-तुङ की चुनी हुई कृतियां*, खंड 5 में, पीकिंग, 1977, अं. सं., पृ. 168-259

(12) “हमारी ठेका श्रम प्रणाली का इतिहास”, *लेबर कांट्रैक्ट सिस्टम हैंडबुक* में, ल्यू च्याङ-तान द्वारा संपादित, साइंस पब्लिशर, 1987, पृ. 1-18

(13) देखें चार्ल्स बेतेलहाइम, *कल्चरल रिवोल्यूशन एंड इंडस्ट्रियल आर्गनाइज़ेशन इन चाइना*, मंथली रिव्यू प्रेस, 1974

(14) देखें *ग्यारहवीं कांग्रेस के बाद से महत्वपूर्ण दस्तावेज*, खंड 2, पृ. 747-750, अं. सं.

(15) 1950 के दशक की अधिकांश अवधि के दौरान, पीस वर्क पर आधारित उजरत का चीन के राजकीय स्वामित्व वाले उद्योगों में व्यापक रूप से प्रयोग होता था। इस अवधि में इसके तहत आने वाले औद्योगिक मजदूरों की संख्या 32 प्रतिशत से बढ़कर 42 प्रतिशत हो गयी। पीस वर्क के अनुसार भुगतान 1981 में सभी कर्मियों के एक प्रतिशत से बढ़कर 1984 और 1986 में 11 प्रतिशत हो गया। डेविड ग्रेंक, “मल्टीपल लेबर मार्केट्स इन दि इंडस्ट्रियल स्टेट इंटरप्राइज़ सेक्टर”, *दि चाइना क्वाटर्ली*, जून 1991, पृ. 283

(16) *पीपुल्स डेली*, 6 मई, 1988, पृ. 2

(17) वही

(18) *माओ त्से-तुङ की चुनी हुई कृतियाँ*, पीकिंग, 1977, खंड 5, पृ. 268-269

(19) *माओ त्सेतुङ सि शांग वेन सुई* (माओ त्से-तुङ विचारधारा अमर रहे) 1967 में जापान में प्रकाशित, पृ. 117

(20) वही, पृ. 198

(21) माओ त्से-तुङ, *सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना*, न्यूयार्क, मंथली रिव्यू प्रेस, 1977, मॉस राबर्ट्स द्वारा अनूदित, पृ. 40

(22) चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं पार्टी कांग्रेस का प्रस्ताव, 1966

(23) पो यी-पो, *अनेक महत्वपूर्ण पार्टी निर्णयों के मेरे संस्मरण*, खंड 1, चीनी में, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी स्कूल पब्लिशर, 1991, पृ. 148-151

(24) वही

(25) देखें देङ युआन सू और पाओ-यू चिङ, “लेबर रिफार्म माओ बनाम ल्यू-देङ”, *माओ ज़ेदाङ थॉट लिव्स*, खंड 4, पृ. 183-213, सेंटर फार सोशल स्टडीज़ एंड न्यू रोड पब्लिकेशंस, 1995.

अनुवाद : आशुतोष

भारत में बदलते कृषि-सम्बन्ध : हाल के आँकड़ों पर आधारित कुछ विचार

● सुच्चा सिंह गिल और रणजीत सिंह घुम्मन

I. भूमिका

स्वतंत्रता के बाद भारतीय कृषि में महत्वपूर्ण बदलाव और रूपान्तरण हुए हैं। स्वतंत्रता-पूर्व की लगभग ठहरावग्रस्त अवस्था से रूपान्तरित होकर यह एक बढ़ता हुआ और गतिशील सेक्टर बन चुकी है। 1901-04 से 1940-44 की अवधि में यह 0.37 प्रतिशत की दर से बढ़ी। हालाँकि नकदी फसलों का उत्पादन 1.31 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ा लेकिन खाद्यान्न उत्पादन में सिर्फ 0.11 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई (ब्लिन, 1966)। चूँकि इस दौर में आबादी 1.0 प्रतिशत की दर से बढ़ी इसलिए खाद्यान्न उत्पादन में लगभग ठहराव का परिणाम यह हुआ कि देश में खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता में कमी आई। स्वतंत्रता के बाद 1949-50 से 1996-97 की अवधि में भारतीय कृषि 2.68 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ी है (भल्ला व सिंह, 2001)। इसी अवधि में, भारत खाद्यान्न के अभाव वाले देश से ऐसे देश में तब्दील हो गया है जिसके पास खाद्यान्न के भण्डार बढ़ते जा रहे हैं।

भारतीय कृषि का यह रूपान्तरण आर्थिक विकास की नियोजित नीति के तहत हुआ है। इस रूपान्तरण को आम तौर पर दो दौरों में बाँटा जा सकता हैहरित क्रान्ति से पहले का दौर (1949-50 से 1964-65) और हरित क्रान्ति के बाद का दौर (1965-66 के बाद की अवधि)। पहले दौर में कृषि नीति का मुख्य जोर भूमि सुधार, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, सहकारी संस्थाओं का ताना-बाना शुरू करने जैसे संस्थागत सुधारों पर, और सिंचाई एवं बिजली की बड़ी बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं को पूरा करने पर था। इसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन उपज में बढ़ोत्तरी का बड़ा कारण यह था कि खेती के रकबे में बढ़ोत्तरी हुई थी। साल-दर-साल उत्पादन में होने वाली अस्थिरता और खाद्यान्न की कमी के कारण इस नीति में बदलाव किया गया। 1960 के दशक के मध्य में नई खाद-बीज प्रौद्योगिकी पर आधारित रणनीति अपनाये जाने के चलते हरित क्रान्ति सम्भव हुई। हरित क्रान्ति के शुरुआती दौर में (1972-73 तक) यह प्रौद्योगिकी पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुख्यतः गेहूँ की फसल तक सीमित थी। लेकिन 1970 के दशक के मध्य से धान की खेती में भी नये प्रयोगों को सफलता मिली और दक्षिणी तथा पश्चिमी राज्यों में हरित क्रान्ति का प्रसार हुआ। 1980 के दशक में इस प्रौद्योगिकी का प्रसार पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में भी हुआ। हाल के वर्षों में, तिलहन जैसी नई फसलों और मध्य क्षेत्र जैसे नये इलाकों में भी हरित क्रान्ति का असर हुआ है। इसके परिणामस्वरूप 1980-83 से 1990-93 के बीच कृषि उत्पादन में 3.47 प्रतिशत की वार्षिक दर से बढ़ोत्तरी हुई जबकि 1962-65 से 1980-83 के बीच यह दर 2.21 प्रतिशत थी (भल्ला व सिंह, 2001)। हाल के वर्षों में भारतीय कृषि के बेहतर प्रदर्शन के बावजूद विकास के स्तर और दर में काफी असमानताएँ हैं।

नई प्रौद्योगिकी अपनाए जाने के समय से ही इस बदलाव और नई प्रौद्योगिकी के कारण कृषि-सम्बन्धों में होने वाले बदलाव को लेकर अकादमिक हलकों में चर्चा शुरू हो गयी थी। 1962 में ही गुप्ता (1962ए और 1962बी) तथा कोतोव्स्की (1964) ने 1953-54 के आँकड़ों के आधार पर इन सम्बन्धों को पूँजीवादी कृषि-सम्बन्ध कहना शुरू कर दिया था। डेनियल थार्नर ने 'दि स्टेट्समैन' (नई दिल्ली और कलकत्ता) में लिखे चार लेखों की श्रृंखला में देश के कई भागों में पूँजीवादी खेती के आगमन की चर्चा की। लेकिन वास्तविक बहस शुरू हुई अशोक रुद्रा, ए. मजीद और बी.डी. तालिब के लेख के प्रकाशन से (1969)। इस बहस में कई विद्वानों ने हिस्सा लिया और मूल्यवान योगदान दिया (तफसील के लिए देखें पटनायक, 1990)। बहस का एक मुद्दा थाः भारतीय कृषि पूँजीवादी है या अर्द्धसामन्ती? इस सवाल का जवाब देने के लिए कृषि में पूँजीवाद की पहचान के पद्धतिगत पहलू को काफी महत्व दिया गया। गुप्ता और कोतोव्स्की की कृतियों में कृषि में पूँजीवाद की पहचान के लिए बड़े फार्मों में भाड़े के मजदूरों से काम लिए जाने पर मुख्य जोर था। उत्पादन प्रणाली पर बहस में भाग लेने वालों का कहना था कि भाड़े के मजदूरों की बहुतायत कृषि में पूँजीवाद के विकास के लिए जरूरी तो है पर इसके लिए पर्याप्त शर्त नहीं है। भारतीय कृषि को पूँजीवाद मानने के लिए जरूरी है कि भाड़े के मजदूरों से काम लिए जाने को ठोस आँकड़ों के साथ अतिरिक्त मूल्य उत्पादन और पूँजी संचय से जोड़ कर दिखाया जाये। इस बहस की एक मुख्य भागीदार उत्सा पटनायक ने आगे चलकर कृषि में पूँजीवाद और पूँजीपति वर्ग की पहचान के लिए एक पद्धति विकसित की (पटनायक, 1988)। खेती की जोतों के औसत आकार को आधार माने जाने को खारिज करते हुए उन्होंने खेती में लगे परिवारों के अनुभवसिद्ध वर्गीकरण के लिए श्रम शोषण सूचकांक को अपनाया। मुख्यतः भाड़े के श्रम पर निर्भर कृषक परिवारों को पूँजीवादी किसान माना गया बशर्ते उन पर ये तीन विशेषताएं भी लागू होती हों : 1.पूँजी निवेश की ऊँची दर; 2.भूमि उत्पादकता की ऊँची दर; और 3.काफी बाजारोन्मुखता।

इस तरह, कृषि को पूँजीवादी बताये जाने के लिए जरूरी है कि उसमें भाड़े के श्रम की प्रधानता हो, आधुनिक उत्पादक उपकरणों एवं मशीनरी के रूप में पूँजी का संचय हो और आगतों की खरीद तथा उपज की बिक्री के रूप में वह काफी बाजारोन्मुख हो।

इस आलेख में भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास का अध्ययन करने और उन इलाकों/राज्यों की पहचान करने का प्रयास किया गया

है जहाँ पूँजीवादी कृषि प्रधान प्रवृत्ति बन चुकी है। इसमें, खेतों के स्तर पर विश्लेषण नहीं किया गया है, बल्कि यह राज्यवार कुल आँकड़ों पर आधारित है। श्रम के उपयोग और खेती की बाजारोन्मुख लागत के लिए 1971-74, 1981-84 और 1994-97 के आँकड़ों का इस्तेमाल किया गया है। पूँजी संचय के लिए भल्ला व सिंह (2001) द्वारा प्रयुक्त 16 प्रमुख राज्यों के जिलावार आँकड़ों की फिर से गणना की गयी है ताकि पूँजी संचय की प्रवृत्ति को देखा जा सके। इसमें जो परिवर्ग लिए गये हैं वे हैं : ट्रैक्टरों और पम्पिंग सेटों की संख्या, रासायनिक उर्वरक तथा कुल सिंचित भूमि का प्रतिशत। आलेख चार खण्डों में है। दूसरा खण्ड विभिन्न भारतीय राज्यों में पूँजी संचय तथा प्रति हेक्टेयर पैदावार में बदलाव पर केन्द्रित है। तीसरे खण्ड में विभिन्न राज्यों में भाड़े के श्रम के उपयोग और बाजार से खरीदी गयी लागतों के हिस्से की पड़ताल की गयी है। चौथे खण्ड में निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं।

तालिका-1 प्रमुख राज्यों में ट्रैक्टरों की संख्या में बदलाव

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आंध्र प्रदेश	2922	5690	21,450	32,600
असम	224	325	277	647
बिहार	2132	5001	14639	42139
गुजरात	3542	7113	28112	45400
हरियाणा	4850	17903	52311	102840
जम्मू-कश्मीर	104	342	985	2857
कर्नाटक	2595	5154	20501	31616
केरल	418	983	1258	1838
मध्य प्रदेश	2484	4720	23436	38538
महाराष्ट्र	3462	5598	21453	33699
उड़ीसा	661	1748	1188	1899
पंजाब	10646	41185	106501	234006
राजस्थान	4095	11056	54686	84574
तमिलनाडु	3280	4892	14541	21833
उत्तर प्रदेश	10087	13792	142237	221571
पश्चिम बंगाल	1514	686	1900	5100
सभी प्रमुख राज्य	53016	126188	505485	900977

स्रोत : भल्ला व सिंह, 2001

II. पूँजी संचय और प्रति हेक्टेयर उपज में बदलाव

1. कृषि मशीनरी

भारत में कृषि के विकास के साथ कृषि मशीनरी तथा अन्य लागतों में भारी निवेश किया गया। खेतों के स्तर पर पूँजी संचय कृषि उत्पादकों द्वारा किया जाता है। यह अचल पूँजी के तौर पर आधुनिक मशीनरी की खरीद तथा कार्यशील पूँजी के तौर पर उर्वरक, कीटनाशकों, खरपतवारनाशकों आदि लागतों की खरीद के रूप में होता है। इसके पूरक के रूप में सरकार बिजली, सिंचाई, विपणन एवं ऋण सुविधाओं, सम्पर्क मार्गों, कृषि अनुसन्धान एवं प्रसार, सरकारी खरीद एवं भण्डारण सुविधाओं आदि अवरचनागत समर्थन के रूप में भारी निवेश करती है। सरकारी समर्थन के प्रभाव से कृषि उत्पादक अपने स्तर पर पूँजी संचय करते हैं जिससे पुनरुत्पादन का विस्तार किया जा सके। ट्रैक्टर जमीन जोतने तथा खेती की लागतों और उपज के परिवहन में कृषि के यंत्रीकरण का प्रतीक है, और पम्पिंग सेट सिंचाई को सुनिश्चित बनाता है। इन दोनों मशीनों के आँकड़े तालिका 1 और 2 में दिये गये हैं। ट्रैक्टर और पम्पिंग सेट के मालिक किसान होते हैं और ये खेती की उनकी क्षमता का प्रतिनिधित्व करते हैं। 16 प्रमुख राज्यों में ट्रैक्टरों की संख्या 1962-63 में महज 53,016 थी, जो 1970-73 में बढ़कर 1,26,188; 1980-83 में 5,05,485 और 1990-93 में 9,00,977 तक पहुँच गयी। 1990-93 में ट्रैक्टरों की संख्या 1962-65 के मुकाबले करीब 17 गुना ज्यादा है। ट्रैक्टरों की संख्या सभी राज्यों में बढ़ी है, लेकिन चार राज्योंपंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थानमें इनकी तादाद सबसे ज्यादा है। कुल ट्रैक्टरों का 71.37 प्रतिशत अकेले इन्हीं राज्यों में है। गुजरात, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक ऐसे अन्य राज्य हैं, जहाँ ट्रैक्टरों की उल्लेखनीय संख्या

तालिका-2 प्रमुख राज्यों में पम्पिंग सेटों की संख्या में बदलाव (हजार में)

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आंध्र प्रदेश	105.67	261.94	688.23	1046.98
असम	0.37	0.47	1.16	3.55
बिहार	10.55	101.99	374.77	750.83
गुजरात	127.11	409.49	564.26	690.47
हरियाणा	15.85	116.47	209.90	403.80
जम्मू-कश्मीर	0.13	0.45	0.99	2.46
कर्नाटक	49.23	201.88	305.11	510.50
केरल	11.69	28.43	98.72	209.25
मध्य प्रदेश	22.63	124.06	406.60	631.66
महाराष्ट्र	214.82	346.76	587.83	715.66
उड़ीसा	0.90	5.87	16.97	39.84
पंजाब	45.90	328.77	662.60	721.22
राजस्थान	13.09	72.94	421.78	626.84
तमिलनाडु	251.15	915.42	1150.19	1127.34
उत्तर प्रदेश	38.35	306.42	1101.18	1699.69
पश्चिम बंगाल	4.69	7.22	208.01	768.82
सभी प्रमुख राज्य	912.13	3228.58	6798.30	9949.31

स्रोत : भल्ला व सिंह, 2001

है। 16 राज्यों में कुल ट्रैक्टरों का 24.84 प्रतिशत इन राज्यों में है।

ट्रैक्टरों के अलावा पम्पिंग सेट भी भारत में कृषि के यंत्रीकरण के एक प्रमुख कारक हैं। 16 राज्यों में पम्पिंग सेटों की संख्या 1962-65 में 9,12,130 थी। यह संख्या जबर्दस्त ढंग से बढ़कर 1990-93 में 99,49,310 पहुँच गयी। 1990-93 में पम्पिंग सेटों की संख्या 1962-65 के मुकाबले 10.91 गुना ज्यादा थी। सात राज्योंउत्तर प्रदेश, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, पंजाब और महाराष्ट्रमें पम्पिंग सेटों की संख्या बहुत ज्यादा है। 16 राज्यों के कुल सेटों का 68.66 प्रतिशत इन्हीं राज्यों में है । इसके बाद गुजरात, मध्य प्रदेश, राज्यस्थान, कर्नाटक और हरियाणा आते हैं जहाँ कुल सेटों के 28.78 प्रतिशत सेट हैं। शेष 2.66 प्रतिशत पंम्पिंग सेट केरल, उड़ीसा असम और जम्मू-कश्मीर में हैं। भौगोलिक वितरण की दृष्टि से ट्रैक्टरों के मुकाबले पम्पिंग सेटों का फैलाव ज्यादा है।

2. खाद और बीज

यांत्रिक उपकरणों और बीजों की ज्यादा उपज देने वाली किस्मों के बढ़ते इस्तेमाल के अलावा रासायनिक खादों, खरपतवारनाशकों आदि का इस्तेमाल भी भारत की प्रमुख फसलों की पैदावार बढ़ाने में महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। खाद के इस्तेमाल के आँकड़ों को सभी रासायनिक लागतों तथा कृषि उत्पादन में कार्यशील पूँजी का प्रतिनिधि माना जा सकता है। देश में रासायनिक खादों (एनपीके) का इस्तेमाल 1962-65 में 5,14,670 टन से जबर्दस्त रूप से बढ़कर 1990-93 में 1,22,29,270 टन तक पहुँच गया। 16 प्रमुख राज्यों में 1990-93 में खाद की वार्षिक खपत 1962-65 के मुकाबले 24 गुना ज्यादा थी। तालिका-3 से पता चलता है कि 1962-65 से 1990-93 के बीच रासायनिक खादों के इस्तेमाल की मात्रा देश के सभी राज्यों में बढ़ी है। खाद की सबसे अधिक खपत वाले सात राज्यउत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब, मध्य प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडु 1990-93 में 16 प्रमुख राज्यों की खपत का 71.88 प्रतिशत इस्तेमाल कर रहे थे। पश्चिम बंगाल, गुजरात, बिहार, हरियाणा और राजस्थान 24.16 प्रतिशत की खपत करते हैं। शेष 3.86 प्रतिशत खाद की खपत केरल, उड़ीसा, असम और जम्मू-कश्मीर में होती है।

तालिका-3 प्रमुख राज्यों में खाद (एनपीके) की खपत (हजार टन में)

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आंध्र प्रदेश	110.30	285.10	642.13	157.07
असम	0.60	7.96	10.06	32.99
बिहार	25.28	105.40	208.76	599.30
गुजरात	34.72	175.12	379.92	670.48
हरियाणा	8.63	82.02	284.22	564.45
जम्मू-कश्मीर	0.10	0.34	उपलब्ध नहीं	38.98
कर्नाटक	33.71	174.79	384.70	849.88
केरल	31.13	65.67	99.53	214.49
मध्य प्रदेश	13.50	112.89	227.07	882.03
महाराष्ट्र	43.63	213.54	493.85	1281.75
उड़ीसा	7.18	46.12	81.34	197.21
पंजाब	30.06	275.26	807.07	1212.57
राजस्थान	7.49	61.87	144.80	389.62
तमिलनाडु	72.60	309.98	487.73	812.10
उत्तर प्रदेश	69.57	459.94	1290.09	2180.34
पश्चिम बंगाल	25.67	88.71	263.28	731.01
सभी प्रमुख राज्य	514.67	2464.71	5804.55	12229.27

स्रोत : भल्ला व सिंह, 2001

तालिका-4 प्रमुख राज्यों में कुल बुवाई वाले क्षेत्र में सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आंध्र प्रदेश	31.60	36.50	38.10	40.60
असम	20.50	21.20	21.10	20.80
बिहार	24.30	36.60	43.50	49.40
गुजरात	13.10	23.40	32.00	31.70
हरियाणा	30.90	60.50	72.70	76.20
जम्मू-कश्मीर	17.00	16.40	17.00	18.80
कर्नाटक	12.50	16.00	20.40	21.90
केरल	20.50	12.40	14.80	15.70
मध्य प्रदेश	7.40	15.40	22.10	32.30
महाराष्ट्र	8.40	10.90	11.30	14.40
उड़ीसा	16.50	23.30	30.70	35.00
पंजाब	74.00	86.40	92.70	92.90
राजस्थान	14.70	21.10	23.80	33.30
तमिलनाडु	46.20	45.60	42.50	52.70
उत्तर प्रदेश	36.00	57.20	60.90	68.70
पश्चिम बंगाल	21.50	37.20	35.80	35.00
सभी प्रमुख राज्य	---	19.7	33.3	38.6

स्रोत : भारत सरकार, कृषि मंत्रालय, कॉस्ट ऑफ कल्टीवेशन ऑफ प्रिंसिपल्स क्रॉप्स ऑफ इंडिया, 1991, 1996 और 2000, नई दिल्ली

3. सिंचाई

कुल बुवाई वाले क्षेत्र में सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत 1962-65 से 1990-93 के बीच असम और केरल को छोड़कर सभी राज्यों में बढ़ा है। लेकिन 1990-93 में सिंचित क्षेत्र का सर्वाधिक अनुपात पंजाब (92.9 प्रतिशत) में पाया गया। इसके बाद हरियाणा (76.5 प्रतिशत),

उत्तर प्रदेश (68.7 प्रतिशत), तमिलनाडु (52.7 प्रतिशत), बिहार (49.4 प्रतिशत), आन्ध्र प्रदेश (40.6 प्रतिशत) और पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा (35 प्रतिशत) आते हैं। सिंचित क्षेत्र का सबसे कम प्रतिशत महाराष्ट्र में है, जहाँ कुल बुवाई वाले क्षेत्र का सिर्फ 14.4 प्रतिशत सिंचित है।

4. प्रति हेक्टेयर उपज

अचल उत्पादक परिसम्पतियों और कार्यशील पूँजी में पूँजी संचय के परिणामस्वरूप विभिन्न राज्यों में प्रति हेक्टेयर उपज में बढ़ोत्तरी हुई है। धान की प्रति हेक्टेयर उपज 1971-74 में मध्य प्रदेश में न्यूनतम 12.81 कुन्तल से लेकर हरियाणा में अधिकतम 34.56 कुन्तल के बीच थी। 1994-97 में यह बढ़कर बिहार में न्यूनतम 20.95 कुन्तल से पंजाब में अधिकतम 49.84 कुन्तल हो गयी। गेहूँ की प्रति हेक्टेयर उपज 1971-74 में मध्य प्रदेश में न्यूनतम 9.58 कुन्तल से लेकर पंजाब में 24.63 कुन्तल तक थी। 1994-97 में यह बढ़कर मध्यप्रदेश में न्यूनतम 18.56 कुन्तल से लेकर हरियाणा में अधिकतम 39.40 कुन्तल हो गयी। जिन अन्य फसलों की प्रति हेक्टेयर उपज बढ़ी है उनमें गन्ना, जूट, ज्वार, बाजरा, मक्का और जौ शामिल हैं। कपास, तिलहन, दलहन और सब्जियों की उपज कुछ राज्यों में बढ़ी है लेकिन कुछ में ठहरी हुई है।

उपरोक्त विश्लेषण का समर्थन एक महत्वपूर्ण अखिल भारतीय अध्ययन से भी होता है। यह अध्ययन 16 प्रमुख राज्यों के 281 जिलों में कराया गया। 1962-65 में 281 जिलों में से 222 ऐसे थे जिनमें कम उत्पादकता वाली 35 फसलों के कुल रकबे का 82.5 प्रतिशत और कुल उपज का 69 प्रतिशत आता था। इन फसलों का उत्पादकता स्तर 5000 रुपये प्रति हेक्टेयर (1993-94 के मूल्य से) से कम था। सिर्फ 14 जिले उच्च उत्पादकता श्रेणी में थे जिनकी उपज 8000 रुपये प्रति हेक्टेयर से अधिक थी। 45 जिले मध्यम उत्पादकता श्रेणी में थे जिनकी उत्पादकता 5000 रुपये से 8000 रुपये प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष थी। 13,500 रुपये प्रति हेक्टेयर वाली बहुत ऊँची उत्पादकता श्रेणी में कोई जिला नहीं था।

1990-93 में बहुत ऊँची उत्पादकता वाले जिलों की संख्या बढ़कर 20 हो गयी भी, ऊँची उत्पादकता वाले जिलों की 94 और मध्यम उत्पादकता वाले जिलों की संख्या बढ़कर 93 हो गयी थी। मध्यम और ऊंची उत्पादकता और बहुत ऊँची उत्पादकता वाले जिलों का हिस्सा 1962-65 में 17.5 प्रतिशत से बढ़कर 1990-93 में 65 प्रतिशत तक पहुँच गया। इन तीन श्रेणियों में जिलों की संख्या 1962-65 में 59 से बढ़कर 1993-94 में 207 हो गयी। कम उत्पादकता वाले जिलों की

तालिका-5 भारत में कुछ प्रमुख फसलों की राज्यवार पैदावार (कुन्तल प्रति हेक्टेयर)

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
आन्ध्र प्रदेश			
धान	23.41	32.60	46.63
ज्वार	4.78	6.00	8.86
मूँग	--	3.92	4.98
उड़द	--	4.28	5.78
कपास	--	12.41	12.03
गन्ना	--	763.48	798.64
मूँगफली	--	6.74	8.80
असम			
धान	15.80	18.58	20.99
जूट	12.34	12.95	16.37
रेपसीड व सरसों	--	5.80	5.28
बिहार			
धान	16.41	18.01	20.95
आलू	--	116.35	99.84
गन्ना	429.33	417.42	430.67
जूट	11.38	10.47	--
गुजरात			
बाजरा	7.29	13.80	15.34
कपास	4.17	10.08	10.14
मूँगफली	4.24	7.30	9.51

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
हरियाणा			
धान	34.56	36.79	40.83
बाजरा	5.78	7.25	11.20
गेहूँ	20.24	25.69	39.40
चना	10.38	4.30	8.60
कपास	7.39	10.27	12.84
गन्ना	--	352.32	526.23
रेपसीड व सरसों	--	9.75	13.75
कर्नाटक			
धान	34.39	32.31	39.63
ज्वार	5.70	8.50	8.68 ('89-90)
कपास	3.39	12.43	2.80
गन्ना	--	776.20	874.63
मूँगफली	5.17	7.42	8.81
मध्य प्रदेश			
धान	12.81	13.71	22.01
ज्वार	7.27	8.42	10.41
मक्का	--	8.91	10.02
गेहूँ	9.58	12.33	18.56
उड़द	--	4.34	4.26
अरहर	--	4.85	8.18
सोयाबीन	--	9.19	10.66

तालिका-5 भारत में कुछ प्रमुख फसलों की राज्यवार पैदावार (कुन्तल प्रति हेक्टेयर) जारी...

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
चना	7.40	8.95	9.02
कपास	--	5.03	5.31
महाराष्ट्र			
ज्वार	5.11	8.14	10.61
प्याज	--	124.46	111.85
कपास	3.83	4.07	7.10
गन्ना	770.04	832.67	793.09
सूरजमुखी	--	3.11	5.76
उड़ीसा			
धान	16.42	17.54	27.56
मूँग	--	2.96	2.64
उड़द	--	4.74	4.02
जूट	13.01	17.39	18.49
मूँगफली	8.62	11.27	12.10
पंजाब			
धान	31.15	53.93	49.84
गेहूँ	24.63	30.33	38.44
कपास	9.50	7.87	10.95
रेपसीड व सरसों	--	8.87	8.06
राजस्थान			
बाजरा	3.33	3.73	5.25
मक्का	7.36	11.09	13.86
गेहूँ	19.98	21.13	32.27
जौ	--	16.44	23.98
चना	6.81	5.79	6.96
रेपसीड व सरसों	--	6.16	11.80

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
तमिलनाडु			
धान	24.93	36.65	--
ज्वार	8.51	--	9.23
उड़द	--	5.10	4.53
कपास	7.80	--	12.67
गन्ना	--	961.54	1166.30
मूँगफली	11.84	11.38	14.86
उत्तर प्रदेश			
धान	20.68	20.91	29.57
बाजरा	--	13.26	12.28
गेहूँ	19.34	22.67	30.99
जौ	--	18.11	24.10
उड़द	--	4.63	6.30
अरहर	--	12.64	11.59
चना	--	10.07	10.11
गन्ना	357.35	387.38	476.61
रेपसीड व सरसों	--	8.48	11.58
पश्चिम बंगाल			
धान	17.79	21.54	33.02
गेहूँ	20.03	--	20.57
आलू	--	192.74	251.87
जूट	16.48	17.18	21.27

स्रोत : भारत सरकार, कृषि मंत्रालय, कॉस्ट ऑफ कल्टीवेशन ऑफ प्रिंसिपल्स क्रॉप्स ऑफ इंडिया, 1991, 1996 और 2000, नई दिल्ली

संख्या 1962-65 और 1990-93 के बीच की अवधि में 222 से घटकर 74 रह गयी। कृषि में प्रगति करने वाले जिले विभिन्न राज्यों में फैले हुए थे। 1962-65 में ऊंची उत्पादकता वाले 14 जिलों में से 11 तमिलनाडु और केरल में थे और एक-एक जिला उत्तर प्रदेश, असम और महाराष्ट्र में था। 1990-93 में बहुत ऊँची उत्पादकता वाले जिले हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, असम, पश्चिम बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु में फैले हुए थे। हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, असम, बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, केरल और राजस्थान में बहुत कम उत्पादकता (3500 रुपये से कम वार्षिक उपज) वाला एक भी जिला नहीं था (भल्ला व सिंह, 2001)।

यह स्पष्ट है कि उत्पादक शक्तियों के उल्लेखनीय विस्तार से भारत में उत्पादन और उत्पादकता में बढ़ोत्तरी हुई है। हालाँकि उत्पादक शक्तियों का विस्तार पूरे देश के स्तर पर हुआ है लेकिन भौगोलिक तथा खेतों के स्तर पर काफी असमानताएं बनी हुई हैं। राज्यों के स्तर पर क्षेत्रीय भिन्नताएँ हैं (हालाँकि ये कम हो रही हैं), और राज्यों के भीतर तथा जिला स्तर पर भी भिन्नताएं हैं। साथ ही, काश्तकारों की अलग-अलग श्रेणियों के बीच भी महत्वपूर्ण अन्तर हैं (हमने इस प्रश्न को नहीं लिया है)। उत्पादन और उत्पादकता के स्तर में वृद्धि से ग्रामीण भारत में उल्लेखनीय गतिशीलता पैदा हुई है और ये कृषि में पूँजीवादी प्रवृत्ति की गहरी पैठ के सूचक हैं।

III. भाड़े के श्रम का इस्तेमाल और बाजार से खरीदी गयी आगतों का हिस्सा

प्रधानतः भाड़े के श्रम के इस्तेमाल और बाजार से खरीदी गयी आगतों के हिस्से के आधार पर छह राज्यों को एक श्रेणी में रखा जा सकता है। ये हैं आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल। ये सभी राज्य विभिन्न कृषि कार्यों में बड़े पैमाने

पर भाड़े के श्रम को लगाते हैं और आगतों का काफी बड़ा हिस्सा बाजार से खरीदते हैं।

जैसा कि तालिका-6 से पता चलता है, आन्ध्र प्रदेश में 1970 के दशक से ही सभी सात प्रमुख फसलों में 70 प्रतिशत से ज्यादा भाड़े के श्रम का इस्तेमाल हो रहा है। 1970 और 1980 के दशक के दौरान दिशा ऊपर की ओर थी लेकिन 1990 के दशक में इसमें गिरावट आई। फिर भी, 1990 के दशक के दौरान कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 60 प्रतिशत से ज्यादा रहा। हालाँकि सभी फसलें प्रधानतः भाड़े के श्रम पर आधारित हैं, पर कपास, धान, गन्ना और उड़द तो भाड़े के श्रम पर बहुत ज्यादा निर्भर हैं। इसके साथ ही 1981-84 से खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी गयी आगतों का हिस्सा करीब 75 प्रतिशत रहा है। 1990 के दशक में आन्ध्र प्रदेश की लगभग सभी फसलों में इसमें बढ़ोत्तरी हुई। आन्ध्र प्रदेश की एक और बहुत महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा 1981 में 42 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 47.51 प्रतिशत हो गया (तालिका 8)।

एक ओर भाड़े के श्रम के अनुपात में कमी और दूसरी ओर कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों के बढ़ते हिस्से के कारण राज्य की कृषि के लिए एक गम्भीर समस्या पैदा हो गयी है। वहाँ माँग और आपूर्ति में असन्तुलन हो गया है। खेतिहर मजदूरों की आपूर्ति बढ़ रही है और उनकी माँग घट रही है। स्पष्ट है कि किसान पारिवारिक श्रम की ओर लौट रहे हैं। भाड़े के श्रम की प्रकृति के

तालिका-6 भारत में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का प्रति हेक्टेयर हिस्सा और कुल भाड़े के श्रम में कैजुअल श्रम का हिस्सा (राज्य और फसलवार)

	भाड़े के श्रम का हिस्सा			कैजुअल श्रम का हिस्सा		
फसल	1971-74	1981-84	1994-97	1971-74	1981-84	1994-97
आन्ध्र प्रदेश						
धान	76.72	82.39	67.87	84.62	93.32	92.10
ज्वार	60.41[a]	66.23[e]	49.76	76.26	84.99	86.03
कपास	86.41[c]	74.03[h]	62.06	83.71	91.89	87.87
गन्ना	--	83.48	67.31	--	96.31	82.14
मूँगफली	--	77.16	62.38	--	93.22	92.78
उड़द	--	78.51	64.53	--	89.70	94.64
मूँग	--	69.89	57.42	--	88.47	90.51
असम						
धान	24.20	29.10	22.26	58.32	60.45	62.77
जूट	45.04[a]	34.85	54.79	66.05	78.57	85.14
रेपसीड व सरसों	--	20.45	16.16	--	18.84	28.24
बिहार						
धान	60.33	50.41	47.62[m]	78.01	85.68	95.63
गन्ना	60.79[b]	60.74	40.89[m]	82.26	74.61	99.27
आलू	--	46.48	23.08[m]	--	81.20	96.12
जूट	43.67[a]	67.92	--	89.89	92.74	--
गुजरात						
कपास	57.93[a]	62.09	48.01	61.85	73.34	91.01
मूँगफली	29.41[a]	49.17	41.18	71.36	90.87	98.46
बाजरा	36.85	47.93	43.95	76.61	88.82	94.63
हरियाणा						
धान	70.82[f]	67.83[e]	42.51	72.80	82.46	94.37
गेहूँ	35.92	38.98	27.00	30.47	74.00	84.69
गन्ना	--	23.24	30.00	--	42.09	78.76
कपास	40.42[b]	20.98	6.43	51.60	77.07	85.62
बाजरा	10.97	12.49	5.58	62.17	79.78	62.64

तालिका-6 भारत में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का प्रति हेक्टेयर हिस्सा और कुल भाड़े के श्रम में कैजुअल श्रम का हिस्सा (राज्य और फसलवार) जारी...

	भाड़े के श्रम का हिस्सा			कैजुअल श्रम का हिस्सा		
फसल	1971-74	1981-84	1994-97	1971-74	1981-84	1994-97
चना	21.88[b]	12.36[h]	9.86	44.52	55.34	75.74
रेपसीड व सरसों	--	20.52	16.81	--	91.34	85.49
कर्नाटक						
धान	64.49[a]	63.96	60.88[n]	87.04	97.30	96.99
गन्ना	--	68.78	76.12[n]	--	94.22	98.65
मूँगफली	56.91[c]	65.78	47.48[n]	95.62	95.03	98.65
ज्वार	52.51[a]	62.49	44.25[n]	80.14	90.21	90.40
कपास	60.09	82.28	--	81.18	97.07	--
मध्य प्रदेश						
धान	37.07	50.37	44.69	64.91	73.02	97.11
ज्वार	39.12[c]	43.60	32.46	81.35	82.20	91.46
गेहूँ	46.44	52.48	35.96	74.93	83.91	90.68
चना	41.74[c]	50.61	42.92	69.82	69.20	89.07
मक्का	--	34.65	25.22	--	83.67	98.31
उड़द	--	38.49	27.07	--	67.53	94.01
अरहर	--	31.60	30.16	--	93.45	78.51
सोयाबीन	--	38.52	45.63	--	79.19	94.28
कपास	--	46.65	61.74[k]	--	87.85	96.51
महाराष्ट्र						
कपास	61.12[c]	46.58	66.76	84.04	87.95	95.29
गन्ना	70.95[a]	78.40	79.82	88.58	94.41	81.82
ज्वार	35.85	53.35	56.65	76.19	89.50	96.28
प्याज	--	58.98	61.34	--	95.98	95.67
सूरजमुखी	--	49.18	67.16	--	90.48	84.62
उड़ीसा						
धान	46.52	56.34	52.69	76.72	87.04	93.95
जूट	42.85[a]	39.90	70.80	68.20	82.91	95.10
मूँगफली	49.15[c]	50.17	37.64	82.00	72.05	83.72
मूँग	--	44.82	38.24	--	70.30	80.79
उड़द	--	51.37	34.94	--	61.42	82.89
पंजाब						
धान	50.00[b]	68.87	61.57	28.64	79.70	68.27
गेहूँ	52.63	58.78	69.36	59.51	78.64	83.85
कपास	47.84	40.86	54.43	71.04	62.62	71.74
रेपसीड व सरसों	--	39.93[h]	45.63	--	56.13	59.82
राजस्थान						
बाजरा	22.62	20.68	12.18	52.63	92.86	97.25
मक्का	14.33	12.22	3.47	65.66	88.93	90.33

तालिका-6 भारत में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का प्रति हेक्टेयर हिस्सा और कुल भाड़े के श्रम में कैजुअल श्रम का हिस्सा (राज्य और फसलवार) जारी...

	भाड़े के श्रम का हिस्सा			कैजुअल श्रम का हिस्सा		
फसल	1971-74	1981-84	1994-97	1971-74	1981-84	1994-97
गेहूँ	41.81[a]	23.40	16.53	53.61	84.67	82.16
चना	27.32[c]	20.63	19.36	66.03	85.88	96.93
जौ	--	10.73	9.80	--	62.80	90.66
रेपसीड व सरसों	--	16.19	19.07	--	88.71	90.83
तमिलनाडु						
धान	86.20	87.46[g]	--	93.84	95.53	--
मूँगफली	58.78	76.53	65.67	92.34	93.84	95.85
ज्वार	71.89[c]	--	77.41	87.20	--	95.92
कपास	73.98[a]	--	55.19	95.30	--	98.70
प्याज	--	91.91	90.70	--	91.08	88.53
उड़द	--	80.16	72.83	--	98.40	97.31
उत्तर प्रदेश						
धान	52.68[c]	44.53	43.81[l]	85.87	95.12	96.06
गेहूँ	39.37	34.49	34.58	63.35	93.46	97.88
गन्ना	29.00[a]	19.76	31.62	73.64	78.95	89.12
बाजरा	--	31.97	34.87[l]	--	96.62	97.04
जौ	--	43.55[e]	36.06	--	84.64	95.83
उड़द	--	23.18[e]	27.63[i]	--	87.08	88.50
अरहर	--	33.90[e]	32.26	--	92.13	95.91
चना	--	26.88	27.37	--	84.40	98.97
रेपसीड व सरसों	--	28.45	36.25	--	88.94	94.11
पश्चिम बंगाल						
धान	46.16	58.95	52.60	71.43	92.83	97.22
गेहूँ	35.06[c]	--	52.83	35.05	--	95.09
जूट	50.43[a]	48.62	57.20	54.22	91.37	91.96
आलू	--	56.95[d]	59.10	--	75.59	8.44

नोट : a - 1973-76; b - 1975-76; c - 1975-78; d - 1979-80; e - 1984-87; f - 1977-80; g - 1979-82; h - 1987-90; i - 1990-93;
k - 1995-96; l - 1996-97; m -1990-91; n - 1991-92.
स्रोत : भारत सरकार, कृषि मंत्रालय, कॉस्ट ऑफ कल्टीवेशन ऑफ प्रिंसिपल्स क्रॉप्स ऑफ इंडिया, 1991, 1996 और 2000, नई दिल्ली

बारे में एक और बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि कैजुअल मजदूरों की संख्या बढ़ रही है जैसा कि तालिका-6 में दिखाया गया है, कुल भाड़े के श्रम में कैजुअल श्रम का अनुपात 1990 के दशक में करीब 90 प्रतिशत तक पहुँच गया।

आन्ध्र प्रदेश के अलावा कर्नाटक और तमिलनाडु भी ऐसी ही स्थिति से गुजर रहे हैं। कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा कर्नाटक में 60 से 65 प्रतिशत के बीच और तमिलनाडु में 70 से 85 प्रतिशत के बीच रहा है (तालिका-6)। हालाँकि तमिलनाडु में भाड़े के श्रम का अनुपात कर्नाटक से कहीं ज्यादा है लेकिन दोनों में एक समानता यह है कि दोनों राज्यों में 1980 के दशक तक भाड़े के श्रम का हिस्सा बढ़ता रहा लेकिन बाद के दौर में इसमें गिरावट आई। कर्नाटक में हालाँकि सभी पाँच फसलें भाड़े के श्रम पर निर्भर हैं लेकिन धान, गन्ना और कपास तो पूरी तरह भाड़े के श्रम पर निर्भर हैं। तमिलनाडु में धान, गन्ना, ज्वार और उड़द में भाड़े के श्रम की प्रधानता है। दोनों राज्यों में 1980 के दशक से कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा घट रहा है और कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों की संख्या बढ़ रही है, जैसा कि

तालिका-6 और 8 से स्पष्ट है। इसके साथ ही, दोनों राज्य 70 से 80 प्रतिशत आगतें बाजार से खरीद रहे हैं और तालिका-7 दिखाती है कि यह प्रवृत्ति बढ़ रही है।

महाराष्ट्र और पंजाब को एक साथ रखकर विश्लेषण किया जा सकता है। यही दोनों राज्य हैं जहाँ भाड़े के श्रम का हिस्सा और खेतिहर मजदूरों की संख्या, दोनों लगातार बढ़ रहे हैं, जैसा कि तालिका 6 और 8 से स्पष्ट है। महाराष्ट्र में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम हिस्सा 1981-84 में 51 प्रतिशत से बढ़कर 1994-97 में 65 प्रतिशत हो गया। गन्ना, सूरजमुखी और कपास ऐसी फसलें हैं जिनमें भाड़े के श्रम का काफी ज्यादा इस्तेमाल होता है। भाड़े के श्रम का हिस्सा बढ़ने के साथ ही कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा भी 1981 में 35.14 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 36.61 प्रतिशत हो गया। स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में खेतिहर मजदूरों की माँग और आपूर्ति दोनों बढ़ रही है। जहाँ तक बाजार से खरीदी गयी आगतों का सवाल है, खेती की कुल लागत में उनका हिस्सा 1971-74 के 50 प्रतिशत से बढ़कर 1994-97 में 70 प्रतिशत से ज्यादा हो गया। गन्ना, प्याज, कपास और सूरजमुखी की फसलें बाजार से खरीदी आगतों पर बहुत अधिक निर्भर हैं।

पंजाब में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा अध्ययन-अवधि के दौरान न केवल काफी अधिक रहा है बल्कि बढ़ता भी रहा है। यह 1971-74 में 50 प्रतिशत से बढ़कर 1981-84 में 60 प्रतिशत और 1994-97 में 65 प्रतिशत हो गया। गेहूँ और धान भाड़े के श्रम पर बहुत अधिक निर्भर हैं जबकि कपास एक हद तक इस पर निर्भर है। लेकिन 1990 के दशक में धान में भाड़े के श्रम में कमी

तालिका-7 भारत में खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों का प्रति हेक्टेयर हिस्सा (राज्य और फसलवार)

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
आन्ध्र प्रदेश			
धान	69.58	79.02	76.52
ज्वार	43.22	47.86	52.11
मूँग	--	47.50	61.50
उड़द	--	76.02	79.50
कपास	87.75	73.93	72.91
गन्ना	--	78.45	79.33
मूँगफली	--	73.79	74.34
असम			
धान	30.68	31.82	25.26
जूट	39.84	31.18	48.91
रेपसीड व सरसों	--	22.96	18.98
बिहार			
धान	42.89	49.36	50.19
आलू	--	79.78	68.99
गन्ना	67.27	79.50	63.48
जूट	33.18	57.86	--
गुजरात			
बाजरा	39.73	54.52	59.97
कपास	66.44	75.22	66.14
मूँगफली	52.18	66.14	67.68
हरियाणा			
धान	79.63	83.50	73.77
बाजरा	19.49	44.46	30.15
गेहूँ	65.68	72.95	72.48
चना	39.92	43.00	46.13
कपास	46.43	47.41	33.91
गन्ना	--	53.44	53.20
रेपसीड व सरसों	--	55.95	59.55
कर्नाटक			
धान	64.44	60.13	63.89
ज्वार	41.92	55.24	53.89
कपास	60.91	84.83	--
गन्ना	--	76.37	84.45
मूँगफली	53.38	68.68	66.82
मध्य प्रदेश			
धान	46.85	49.62	53.47
ज्वार	33.72	35.95	42.54
मक्का	--	40.04	32.68
गेहूँ	54.79	67.72	71.59
उड़द	--	40.23	34.83
अरहर	--	37.97	41.95
सोयाबीन	--	58.63	67.54
चना	49.26	57.76	73.18
कपास	--	51.36	69.54
महाराष्ट्र			
ज्वार	35.60	48.78	62.82
प्याज	--	62.96	76.39
कपास	56.65	59.81	73.56
गन्ना	81.66	86.37	88.19
सूरजमुखी	--	48.69	68.15
उड़ीसा			
धान	40.42	47.72	53.26
मूँग	--	50.50	49.52

तालिका-7 जारी...

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
उड़द	--	43.39	45.96
जूट	40.42	37.10	66.35
मूँगफली	63.44	60.01	55.43
पंजाब			
धान	67.61	86.72	84.55
गेहूँ	69.30	84.53	88.27
कपास	56.48	62.91	76.74
रेपसीड व सरसों	--	62.43	72.23
राजस्थान			
बाजरा	31.24	30.75	30.29
मक्का	21.59	24.91	18.59
गेहूँ	67.09	59.64	59.04
जौ	--	39.16	48.22
चना	49.58	46.61	52.07
रेपसीड व सरसों	--	40.99	58.46
तमिलनाडु			
धान	75.94	79.09	--
ज्वार	56.40	--	78.00
उड़द	--	78.43	81.84
कपास	79.53	--	69.42
गन्ना	--	94.00	90.76
मूँगफली	66.70	82.89	74.61

फसल	1971-74	1981-84	1994-97
उत्तर प्रदेश			
धान	49.40	51.74	61.85
बाजरा	--	34.39	49.15
गेहूँ	52.20	62.80	61.41
जौ	--	56.93	62.40
उड़द	--	33.33	32.82
अरहर	--	35.26	35.71
चना	--	40.35	53.74
गन्ना	51.54	60.77	61.19
रेपसीड व सरसों	--	40.45	64.61
पश्चिम बंगाल			
धान	42.22	56.50	58.95
गेहूँ	50.56	--	59.50
आलू	--	71.76	82.12
जूट	44.11	46.06	59.55

नोट : खेती की कुल लागत में मानव श्रम, बैलों द्वारा काम, मशीन द्वारा काम, रासायनिक व देसी खाद, कीटनाशक, सिंचाई का शुल्क और कार्यशील पूँजी पर ऋण शामिल है।

स्रोत : भारत सरकार, कृषि मंत्रालय, कॉस्ट ऑफ कल्टीवेशन ऑफ प्रिंसिपल्स क्रॉप्स ऑफ इंडिया, 1991, 1996 और 2000, नई दिल्ली

दिखाई दे रही है। सम्भवतः इसका कारण हार्वेस्टर कम्बाइन का बढ़ता इस्तेमाल है। पंजाब मे कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा भी 1981 के 24.80 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 30.75 प्रतिशत हो गया। इस तरह, पंजाब में खेतिहर मजदूरों की माँग और आपूर्ति दोनों बढ़ रही है। पंजाब की खेती भी बाजार से खरीदी आगतों पर काफी निर्भर है जैसा कि तालिका-7 से जाहिर है। खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों का हिस्सा 1971-74 में 65 प्रतिशत से बढ़कर 1981-84 में 75 प्रतिशत और 1994-97 में 80 प्रतिशत हो गया। पंजाब की चारों फसलें प्रधानतः बाजार से खरीदी आगतों पर निर्भर हैं।

इस श्रेणी के राज्यों में पश्चिम बंगाल अकेला है जहाँ कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा बढ़ रहा है और कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा घट रहा है। कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1971-74 में करीब 45 प्रतिशत था पर 1981-84 में यह बढ़कर 55 प्रतिशत हो गया और 1994-97 में 55 प्रतिशत से थोड़ा ज्यादा था । पश्चिम बंगाल की सभी फसलों में 1981-84 के मुकाबले 1994-97 में भाड़े के श्रम का इस्तेमाल बढ़ा है। दूसरी ओर, कुल श्रम शक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा 1981 में 33. 58 प्रतिशत से घटकर 1991 में 32.24 प्रतिशत रह गया। खेतिहर मजदूरों का घटता अनुपात गैर-कृषि रोजगार की ओर मजदूरों के जाने का संकेत है। खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों का हिस्सा 1971-74 में 40-50 प्रतिशत ही था जो बढ़कर 1981-84 में करीब 55 प्रतिशत और 1994-97 में 60 प्रतिशत से ज्यादा हो गया।

उपरोक्त मानकों के आधार पर असम, हरियाणा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश को मोटे तौर पर राज्यों के एक और समूह में रखा जा सकता है क्योंकि उनकी खेती न केवल प्रधानतः पारिवारिक श्रम पर आधारित है बल्कि पारिवारिक श्रम का हिस्सा बढ़ रहा है। इसके साथ ही, इन सभी राज्यों में कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा अध्ययन-अवधि के दौरान बढ़ता रहा है।

असम में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 से 1980 के दशकों के बीच औसतन 30 से 35 प्रतिशत के बीच रहा। लेकिन 1990 के दशक में यह घटकर 20 प्रतिशत से भी कम रह गया है। 1981-84 के बीच थोड़ा-सा बढ़ने के अलावा इसमें लगातार कमी ही आई है। इसके विपरीत कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों की संख्या 1971 में 10.43 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 13.35 प्रतिशत हो गयी। ये दोनों कारक असम में खेतिहर मजदूरों के लिए और पूरी खेती के लिए गम्भीर चुनौती पेश करते है। तालिका-7 असम के बारे में एक और महत्वपूर्ण तथ्य सामने लाती हैखेती की कुल लागत में बाजार

से खरीदी गयी आगतों का हिस्सा न केवल छोटा रहा है बल्कि घटता रहा है। धान में बाजार से खरीदी आगतों का हिस्सा 1981-84 में 32 प्रतिशत से घटकर 1994-97 में 25 प्रतिशत रह गया। रेपसीड व सरसों में यह हिस्सा 1971-74 से 23 प्रतिशत से 1994-97 में 19 प्रतिशत रह गया।

हरियाणा में भी खेती प्रधानतः परिवार आधारित रही है। कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 और 1980 के दशकों में करीब 40 प्रतिशत रहा है। 1990 के दशक में इसमें गिरावट आई जैसा कि तालिका-6 से स्पष्ट है। धान में 1971-74 और 1981-84 के दौरान भाड़े के श्रम का हिस्सा क्रमशः 71 प्रतिशत और 68 प्रतिशत था। लेकिन 1990 का दशक आते-आते यह घटकर 42 प्रतिशत रह गया। कपास, बाजरा, चना, रेपसीड और सरसों हरियाणा में मुख्यतः पारिवारिक श्रम आधारित फसलें है। एक ओर नब्बे के दशक में भाड़े के श्रम में तेजी से गिरावट हुई, दूसरी ओर कुल ग्रामीण श्रम शक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा 1981 में 19.67 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 23.38 प्रतिशत हो गया। इससे हरियाणा के खेतिहर मजदूरों की दुर्दशा का पता चलता है क्योंकि उनकी माँग तेजी से कम हो रही है जबकि आपूर्ति बढ़ रही है। बहरहाल, जहाँ तक कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों के हिस्से का सवाल है, हरियाणा की खेती व्यावसायीकरण की ओर बढ़ रही है।

राजस्थान की कृषि में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 के दशक में करीब 25 प्रतिशत रहा है और 1980 के दशक में 20 प्रतिशत से भी नीचे चला गया। 1990 के दशक में यह और घटकर औसतन 15 प्रतिशत तक रह गया। भाड़े के श्रम का सबसे ज्यादा हिस्सा पहले दौर में गेहूँ में करीब 40 प्रतिशत था जो दूसरे दौर में 23 प्रतिशत और तीसरे दौर में करीब 16 प्रतिशत ही रह गया। दूसरी ओर कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा लगातार बढ़ता रहा। हालाँकि राजस्थान में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा ज्यादा नहीं है पर 1981 में 8. 34 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में यह 11.54 प्रतिशत हो गया। बाजार से खरीदी आगतों के लिहाज से राजस्थान की कृषि औसत दर्जे तक व्यावसायिक है। 1970 के दशक में इनका हिस्सा 50 प्रतिशत से ऊपर था लेकिन 1980 के दशक में इससे नीचे आ गया था। हालाँकि 1990 के दशक में इसमें बढ़ोत्तरी हुई और यह फिर 50 प्रतिशत से ऊपर चला गया।

तालिका-8 कुल ग्रामीण मजदूरों में खेतिहर मजदूरों का राज्यवार हिस्सा

राज्य	1971*	1981	1991
आंध्र प्रदेश	42.25	42.01	47.51
असम	10.43	--	13.35
बिहार	41.75	38.44	40.23
गुजरात	28.34	29.62	30.67
हरियाणा	18.87	19.67	23.38
कर्नाटक	31.41	32.37	35.94
केरल	34.37	32.46	30.56
मध्य प्रदेश	29.52	27.45	27.03
महाराष्ट्र	38.15	35.14	36.01
उड़ीसा	30.21	30.14	31.43
पंजाब	24.80	28.52	30.75
राजस्थान	10.35	8.34	11.54
तमिलनाडु	38.10	40.28	44.73
उत्तर प्रदेश	22.22	17.91	21.47
पश्चिम बंगाल	35.00	35.58	32.24
भारत	30.71	29.88	31.64

नोट : कुल मजदूरों की संख्या (जिसमें हाशिये पर धकेल दिये गये मजदूर शामिल हैं)

स्रोत : भारत की जनगणना, प्राइमरी सेंसस एब्सट्रैक्ट, 1971, 1981 और 1991

उत्तर प्रदेश में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 के दशक में आधे से कम रहा। 1981-84 के दौरान यह औसतन 40 प्रतिशत से नीचे चला गया और 1990 के दशक में भी कमोबेश इतना ही रहा। इस तरह, राज्य की खेती मुख्यतः परिवार-आधारित है और भाड़े के श्रम में गिरावट आई है। दूसरी ओर, खेतिहर मजदूरों का हिस्सा बढ़ता रहा है। 1981 में यह 17.91 प्रतिशत था जो 1991 में 21.47 प्रतिशत हो गया। खेतिहर मजदूरों की खपत में या तो कमी आई है या ठहराव रहा है जबकि उनकी आपूर्ति बढ़ रही है। राज्य की कृषि की बाजारोन्मुखता भी बढ़ी है जैसा कि तालिका-7 से स्पष्ट है।

बाकी चार राज्योंबिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश और उड़ीसा में स्थिति अलग है। इन राज्यों की खेती औसत दर्जे तक भाड़े के श्रम पर आधारित है। बिहार और उड़ीसा औसत दर्जे तक बाजार से खरीदी आगतों पर निर्भर हैं जबकि बाकी दोनों राज्य इन पर ज्यादा निर्भर हैं। बिहार, उड़ीसा और गुजरात में एक और समान विशेषता हैकुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा कम हुआ है जबकि कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा बढ़ा है। मध्य प्रदेश अकेला राज्य है जहाँ भाड़े के श्रम में भी कमी आ रही है और कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा भी कम हो रहा है ।

बिहार में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1981-84 में औसतन 50 प्रतिशत से ऊपर था। 1990 के दशक में यह 50 प्रतिशत से कम रह गया पर 40 प्रतिशत से ऊपर था। दूसरी ओर, कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा बढ़ रहा है। 1981 में 38.34 प्रतिशत से बढ़कर यह 1991 में 40.23 प्रतिशत हो गया। बिहार एक ऐसा राज्य है जहाँ खेतिहर मजदूर ग्रामीण श्रमशक्ति का एक खासा बड़ा हिस्सा है। बाजार से खरीदी आगतों पर इसकी निर्भरता 1980 के दशक में 50 प्रतिशत से ज्यादा थी पर 1990 के दशक में इसमें कुछ कमी आई।

गुजरात में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 के दशक में औसतन 40 प्रतिशत से बढ़कर 1980 के दशक में 50 प्रतिशत से ऊपर चला गया। हालाँकि 1990 के दशक में यह 50 प्रतिशत से नीचे चला गया फिर भी 40 प्रतिशत से काफी ऊपर रहा। वहाँ मूँगफली और बाजरा मुख्यतः पारिवारिक श्रम पर आधारित फसलें हैं। दूसरी ओर, कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का हिस्सा 1971 में 30.71 प्रतिशत से बढ़कर 1991 में 31.64 प्रतिशत हो गया।

खेती की कुल लागत का खासा बड़ा हिस्सा, 60 प्रतिशत बाजार से खरीदी आगतों का होता है। यह गुजरात की खेती के व्यावसायीकरण का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। ऐसे व्यावसायीकरण की दिशा 1990 से ऊपर की ओर रही है।

मध्य प्रदेश भी एक ऐसा राज्य है जहाँ खेती न तो प्रधानतः भाड़े के श्रम पर आधारित है और न ही प्रधानतः पारिवारिक श्रम-आधारित। भाड़े के श्रम का हिस्सा 1970 के दशक में 50 प्रतिशत से कम से बढ़कर 1980 के दशक में करीब 50 प्रतिशत हो गया। 1990 के दशक में यह फिर 50 प्रतिशत से नीचे चला गया। कपास एकमात्र फसल है जिसमें 1990 के दशक में 62 प्रतिशत भाड़े के श्रम का इस्तेमाल किया गया लेकिन कुल मिलाकर इसका हिस्सा कम होता गया है। इस श्रेणी का यह अकेला राज्य है जहाँ कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों के हिस्से में भी कमी आई है जैसा कि तालिका-8 से स्पष्ट है। इनका हिस्सा 1971 में 29.52 प्रतिशत से घटकर 1981 में 27.45 प्रतिशत और 1991 में 27.03 प्रतिशत रह गया। सम्भवतः कुछ खेतिहर मजदूरों को कृषि क्षेत्र के बाहर रोजगार मिल गया।

बाजार से खरीदी आगतों के मामले में मध्य प्रदेश में 1980 के दशक के मुकाबले 1990 के दशक में अच्छी-खासी बढ़ोत्तरी हुई (तालिका-7)। 1980 के दशक में खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों का हिस्सा नौ में से पाँच फसलों में 50 प्रतिशत से ज्यादा था। चार फसलों में यह 70 प्रतिशत से ज्यादा हो गया और पाँचवीं में 50 प्रतिशत से ज्यादा रहा।

उड़ीसा में भाड़े के श्रम का इस्तेमाल 1980 के दशक के मुकाबले 1990 के दशक में घटा है (तालिका-6)। 1980 के दशक में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा औसतन 50 प्रतिशत के आसपास था लेकिन 1990 के दशक में इसमें थोड़ी गिरावट आई। 1980 के दशक में तीन फसलेंधान, मूँगफली और उड़दप्रधानतः भाड़े के श्रम पर आधारित थीं जबकि 1990 के दशक में सिर्फ दोधान और जूट की यह स्थिति थी। बाद के दौर में मूँगफली, मूँग और उड़द में 40 प्रतिशत से कम भाड़े का श्रम लगा। जहाँ तक बाजार से खरीदी आगतों के हिस्से का सवाल है, उड़ीसा की खेती की दिशा व्यावसायीकरण की ओर है। खेती की कुल लागत में बाजार से खरीदी आगतों का हिस्सा 1980 और '90 के दशक में 50 प्रतिशत से ज्यादा रहा है (तालिका-7)।

IV. निष्कर्ष

पूँजीवादी खेती की चार प्रमुख विशेषताओं पूँजी संचय, भूमि की उत्पादकता बढ़ने, भाड़े के श्रम की प्रधानता और बाजारोन्मुखता के लिहाज से देखें, तो आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र , पंजाब, तमिलानाडु और पश्चिम बंगाल की खेती को प्रधानतः पूँजीवादी खेती कह सकते हैं। इन सभी राज्यों में भाड़े के श्रम का हिस्सा 50 प्रतिशत से ज्यादा है। कृषि उत्पादन के लिए वे प्रधानतः बाजार से खरीदी आगतों पर निर्भर करते हैं। इन सभी में ट्रैक्टर और पम्पसेट जैसी कृषि मशीनरी के रूप में पूँजी संचय में भारी इजाफा हुआ है, सिंचित क्षेत्र का भारी विस्तार हुआ है और रासायनिक खादों का सघन प्रयोग हुआ है। इन राज्यों में 1971-97 की अवधि में प्रति हेक्टेयर उपज में खासी बढ़ोत्तरी हुई है।

हरियाणा, बिहार, मध्य प्रदेश और गुजरात को ऐसे राज्य कहा जा सकता है जहाँ कृषि में पूँजीवाद की खासी पैठ हुई है। पूँजी संचय, बाजारोन्मुखता और प्रति हेक्टेयर उपज के लिहाज से उन्हें प्रधानतः पूँजीवादी खेती वाले राज्यों के साथ रखा जा सकता है। लेकिन भाड़े के श्रम के मानदण्ड पर ये राज्य पीछे रह जाते हैं। इन राज्यों में भाड़े के श्रम का हिस्सा न केवल 50 प्रतिशत से कम है बल्कि इसमें गिरावट आ रही है।

असम, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, और उड़ीसा को ऐसे राज्य कहा जा सकता है जहाँ पूँजीवाद की पैठ कम हुई है। (यहाँ पूरे राज्य के आँकड़ों के आधार पर कहा जा रहा है, पश्चिमी उत्तर प्रदेश पर यह बात लागू नहीं होती सम्पादक।) असम पूँजी संचय के मामले में काफी पीछे है और इसलिए वहाँ प्रति हेक्टेयर उपज में भी थोड़ी ही बढ़ोत्तरी हुई है। राज्य की कृषि मुख्यतः पारिवारिक श्रम पर आधारित है और बाजार से खरीदी आगतों पर काफी कम निर्भर है। उड़ीसा की खेती असम की तुलना में ज्यादा बाजारोन्मुख है और औसत दर्जे तक भाड़े के श्रम पर आधारित है। राजस्थान और उत्तर प्रदेश में पूँजी संचय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है और वहाँ प्रति हेक्टेयर उपज में मध्यम दर्जे की बढ़ोत्तरी हुई है। इन राज्यों की खेती प्रधानतः बाजारोन्मुख है लेकिन वह प्रधानतः पारिवारिक श्रम-आधरित है।

देश के सभी प्रमुख राज्यों की खेती में भाड़े के श्रम में कैजुअल श्रम की प्रधानता है और यह प्रवृत्ति बढ़ रही है। एक मालिक के साथ जुड़े मजदूरों की जगह कैजुअल मजदूरों द्वारा काम लेना खेती में मुक्त श्रम के पैदा होने का लक्षण है। साथ ही, किसी सुरक्षा जाल के अभाव में यह मजदूरों के शोषण को भी बढ़ा देता है।

आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, गुजरात, बिहार, उड़ीसा और असम में कुल मानव श्रम में भाड़े के श्रम का हिस्सा कम हो रहा है और साथ ही, कुल ग्रामीण श्रमशक्ति में खेतिहर मजदूरों का अनुपात बढ़ रहा है। यह खेतिहर मजदूरों की बढ़ती आपूर्ति और घटती माँग का प्रमाण है। रोजगार के वैकल्पिक अवसरों के अभाव में वे खुद को खेती में फँसा हुआ पा रहे हैं। ऐसा लगता है कि भारत में 1980 के दशक में हुए गैर-कृषि ग्रामीण रोजगार के विस्तार में भी वे खप नहीं पाये। ऐसी स्थिति में, इन राज्यों में खेतिहर मजदूरों के लिए कृषि के भावी विकास में अपने वास्ते बेहतर स्थितियाँ हासिल कर पाना मुश्किल होगा।

सन्दर्भ

भल्ला जी.एस. और गुरमेल सिंह (2001), **इंडियन एग्रीकल्चरः फोर डिकेड्स ऑफ डेवलपमेंट,** सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

ब्लिन जार्ज (1966), **एग्रीकल्चरल ट्रेण्ड्स इन इण्डिया 1891-1947, आउटपुट, अवेलिबिलिटी एण्ड प्रोडक्टिविटी,** युनिवर्सिटी आफ पेनसिल्वेनिया प्रेस, फिलाडेल्फिया, गुप्ता एस.सी. (1962 ए), "न्यू ट्रेण्ड्स ऑफ ग्रोथ इन एग्रीकल्चर," **सेमिनार,** वर्ष 38, अक्टूबर,(1962बी), "सम आस्पेक्ट्स आफ इण्डियन एग्रीकल्चर," **इन्क्वायरी,** वर्ष 6.

(शेष पृष्ठ 81 पर)

पंजाब का किसान आन्दोलन और कम्युनिस्ट

● सुखविन्दर

यूँ तो 'हरित क्रान्ति' के सभी इलाकों की ही यह खासियत रही है कि वहाँ धनी किसानों के नेतृत्व में किसानों का कोई-न-कोई आन्दोलन चलता ही रहता है, लेकिन पंजाब का किसान आन्दोलन पिछले कुछ वर्षों से विशेष तौर से चर्चा का विषय बना हुआ है। यहाँ हमारी दिलचस्पी किसान आन्दोलन में कम और पंजाब के कम्युनिस्टों की इन आन्दोलनों के प्रति पहुँच में ज्यादा है। मालिक वर्गों की माँगों/मसलों/आन्दोलनों के प्रति मजदूर वर्ग के प्रतिनिधियों की पहुँच (एप्रोच) क्या हो? आज एक बार फिर हमें इस प्रश्न के रूबरू होना पड़ रहा है।

पंजाब में इन दिनों भी अलग-अलग इलाकों में कहीं ज्यादा तो कहीं कम, किसान आन्दोलन हरकत में है। इस आन्दोलन का नेतृत्व सीपीआई, सीपीआई (एम), सीपीएम से निकले पासला ग्रुप, और सीपीआई (एमएल) न्यू डेमोक्रेसी से सम्बन्धित किसान संगठन कर रहे हैं। इन किसान संगठनों के अलावा भारतीय किसान यूनियन (एकता) के दोनों ग्रुप भी इस आन्दोलन में शामिल हैं, जिनका समर्थन और मार्गदर्शन पंजाबी में प्रकाशित पत्रिकाएं सुर्ख रेखा, दिशा, दोनों लाल तारा और लाल परचम कर रहे हैं, जो मजदूर वर्ग की वैज्ञानिक विचारधारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद- माओवाद विचारधारा को मानने का दावा करते हैं और भारत में नव-जनवाद, समाजवाद और कम्युनिज्म स्थापित करने की बात करते हैं।

इन किसान संगठनों के अलावा पंजाब में कुछ और भी किसान संगठन सक्रिय हैं पर उनकी कार्रवाइयाँ इस लेख के दायरे से बाहर हैं।

उपरोक्त "कम्युनिस्ट" किसान संगठनों द्वारा चलाए गए और चलाए जा रहे आन्दोलन की मुख्य माँगें इस प्रकार हैं :

1. उत्पादों के लाभकारी मूल्य हासिल करना,
2. कृषि लागतों पर सब्सिडी हासिल करना,
3. कृषि उत्पादों के लिए सुरक्षित मण्डी हासिल करना, और
4. किसानों के कर्जे माफ कराना।

इसके अलावा और भी माँगें हो सकती हैं लेकिन हमारे लिए उनका ज्यादा महत्व नहीं। अलग-अलग कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व और उपरोक्त पत्रिकाओं-पर्चों के समर्थन और मार्गदर्शन में उक्त माँगों पर चल रहे किसान आन्दोलन का मजदूर वर्ग के विचारधारात्मक नजरिए से विश्लेषण करना इस लेख का मुख्य मकसद है।

जहाँ तक कृषि मालों गेहूँ, धान, दूध आदि की कीमतों में बढ़ोतरी की माँग का सवाल है, तो यह बात दिन के उजाले की तरह साफ है कि यह माँग मजदूर वर्ग के विरोध में जाती है। हर प्रकार के मालिकाने से महरूम, कम मजदूरी पर मुश्किल से गुजारा करते मजदूरों को इन वस्तुओं की कीमत में बढ़ोतरी की कीमत अपने जिन्दा रहने के लिए बेहद जरूरी उपभोग या जिन्दगी की और बुनियादी जरूरतों में कटौती करके चुकानी पड़ती है। क्या कम्युनिस्टों को ऐसी मजदूर विरोधी माँगों पर चलने वाले आन्दोलनों का नेतृत्व, समर्थन या मार्गदर्शन करना चाहिए? और जो यह सब कर रहे हैं क्या वे मजदूर वर्ग के साथ गद्दारी नहीं कर रहे? यह बात इतनी सीधी और सरल है कि इसकी ज्यादा व्याख्या की जरूरत ही नहीं है।

कृषि मालों के लाभकारी मूल्यों की लड़ाई जहाँ मजदूर वर्ग के विरोध में है, वहीं यह माँग कृषि पूँजीपति या धनी किसानों के हक में है, क्योंकि यही वह वर्ग है, जिसको कृषि मालों की कीमतों में बढ़ोतरी का सबसे ज्यादा फायदा होता है।

किसानी अलग-अलग परतों में बंटी हुई है। कृषि में हुए पूँजीवादी विकास ने इसके अच्छे-खासे हिस्से को खेत-मजदूरों में बदल दिया है। मालिक किसानों की बड़ी संख्या गरीब और मध्यम किसानों की है। किसानी का यह हिस्सा खासकर गरीब किसानी आज पूँजी की मार के अधीन आ गयी है। गरीब और मध्यम किसान अपनी जमीनें बेचकर सम्पत्तिविहीन मजदूरों की कतारों में शामिल हो रहे हैं और यह प्रक्रिया दिन-ब-दिन तेज होती जा रही है।

माल उत्पादक होने के चलते गरीब किसान भी अन्य मालिक किसानों (धनी किसानों) के साथ ही अपनी वर्गीय नजदीकी महसूस करता है। उसको यह भ्रम होता है कि अगर उसकी फसल (चाहे उसके पास बेचने के लिए बहुत अधिक फसल न हो) की ज्यादा कीमत मिले तो वह एक माल उत्पादक के रूप में बचा रह सकता है और किसी समय बड़ा मालिक भी बन सकता है। लाभकारी मूल्यों की लड़ाई में धनी किसान गरीब किसानों की इस मानसिकता का फायदा उठाते हैं। चूँकि मालिक किसानों का बड़ा हिस्सा गरीब और मध्यम किसानों का है इसलिए इनके, खासकर गरीब किसानों के समर्थन के बिना धनी किसान न तो अपनी लड़ाई लड़ सकते हैं और न ही जीत सकते हैं। इसलिए धनी किसान गरीब किसानों का मित्र होने का पाखण्ड करते हैं। धनी किसान कृषि लागतों में बढ़ोत्तरी होने के कारण कृषि मालों के दामों में बढ़ोत्तरी किये जाने की वकालत करते हैं। इस प्रकार वे गरीब किसानों को भी गुमराह करके अपने आन्दोलन में शामिल कर लेते हैं। इस प्रकार अगर कृषि मालों की कीमतें बढ़ जाएं तो गरीब किसान के मुकाबले धनी किसानों के मुनाफे कई गुना बढ़ जाते हैं। विस्तारित पुनरुत्पादन करने वाला धनी किसानों का यह वर्ग इस बढ़े हुए मुनाफे को दोबारा कृषि में निवेश करता है। विस्तारित पुनरुत्पादन की एक शर्त यह भी है कि कृषि में लगी पूँजी में बढ़ोत्तरी के साथ-साथ धनी किसानों के मालिकाने के अधीन जमीन में भी बढ़ोत्तरी हो। इसलिए वह पहले से ही तबाही के कगार पर खड़े किसानों की जमीन खरीदकर उन्हें मजदूरों की कतारों में धकेल देते हैं। इसलिए गरीब किसानों के लिए लाभकारी मूल्यों की लड़ाई एक धोखा, एक छलावा ही साबित होती है।

इस प्रकार देखा जाए तो कृषि मालों के लाभकारी मूल्यों की लड़ाई जहाँ मजदूर वर्ग के साथ गद्दारी है, वहीं छोटे किसान के साथ धोखा है और इस धोखाधड़ी भरे धन्धे में शामिल हैं यहाँ कम्युनिस्टों का लेबल लगाई हुई पार्टियाँ और 'कम्युनिस्ट विचारधारा' को समर्पित पत्रिकाएं। लेकिन लाभकारी मूल्य की माँग का अभी और विश्लेषण बाकी है।

धनी किसान और उनकी समर्थक 'कम्युनिस्ट' पार्टियाँ और ऊपर जिक्र में आई पत्रिकाएँ कृषि लागतें बढ़ने से कृषि मालों की कीमतों में बढ़ोत्तरी की जो वकालत करते हैं उसकी चीरफाड़ भी जरूरी है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्र बताता है कि किसी भी माल की कीमत उसके मूल्य की ही मुद्रा के रूप में अभिव्यक्ति है। मूल्य का सारतत्व किसी माल के उत्पादन में खर्च हुआ श्रम-काल होता है। उत्पादन प्रक्रिया शुरू करने के लिए पूँजीपति अपनी पूँजी को दो मदों पर खर्च करता है। एक मशीनरी, कच्चा माल आदि पर, पूँजी का यह हिस्सा स्थिर पूँजी कहलाता है; दूसरा श्रम-शक्ति की खरीद पर, पूँजी का यह हिस्सा परिवर्तनशील पूँजी कहलाता है। मशीनरी, कच्चा माल आदि भी चूँकि श्रम के ही उत्पाद होते हैं इसलिए इसकी कीमत भी उनके उत्पादन के ऊपर खर्च हुए कुल श्रम-काल से ही तय होती है। कच्चे माल पर जब श्रम-शक्ति कार्य करती है, तो कुल मूल्य में बढ़ोत्तरी होती है। लेकिन कच्चा माल नये उत्पादित माल को सिर्फ उतने ही मूल्य का हस्तान्तरण कर सकता है, जितना उसमें पहले से ही मौजूद हो। यानी कच्चा माल कोई नया मूल्य पैदा नहीं करता। यह सिर्फ श्रम-शक्ति ही है जो नया मूल्य सृजित करती है। लेकिन पूँजी का मालिक श्रम-शक्ति के मालिक अर्थात मजदूर को उसके द्वारा सृजित कुल नए मूल्य का सिर्फ एक छोटा हिस्सा ही देता है, बाकी खुद हड़प जाता है। पूँजी का मालिक इस माल को इसमें जोड़े गए मूल्य के ऊपर बेचकर ही मुनाफा कमाता है। मार्क्स इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं, "मान लीजिए कि श्रम का एक औसत घंटा 6 पेन्स के बराबर मूल्य में जुड़ा हुआ है, या श्रम के 12 औसत घंटों में 6 शिलिंग का मूल्य जुड़ा हुआ होता है। यह भी मान लीजिए कि श्रम का मूल्य 3 शिलिंग, या 6 घंटे के श्रम की उपज है। अब यदि किसी माल में लगे हुए कच्चे माल, मशीन आदि में 24 घंटे का औसत श्रम लगा है, तो उसका मूल्य 12 शिलिंग होगा। इस पर यदि पूँजीपति द्वारा लगाया हुआ मजदूर इन उत्पादन के साधनों में 12 घंटे का श्रम जोड़ देता है, तो ये 12 घंटे 6 शिलिंग के अतिरिक्त मूल्य में फलीभूत होंगे। इस प्रकार उपज का कुल मूल्य 36 घंटे के फलीभूत श्रम, या 18 शिलिंग के बराबर होगा। लेकिन चूँकि श्रम का मूल्य, या मजदूर की मजदूरी केवल 3 शिलिंग है, पूँजीपति को मजदूर के उस 6 घंटे के अतिरिक्त श्रम के लिए कुछ भी नहीं देना होगा जो माल के मूल्य में शामिल हो गया है। अब यदि पूँजीपति इस माल को उसके मूल्य 18 शिलिंग पर बेचता है तो उसे 3 शिलिंग का वह मूल्य भी प्राप्त होता है, जिसके लिए उसने कुछ नहीं दिया। ये 3 शिलिंग अतिरिक्त मूल्य या मुनाफे के रूप में हैं, जो सीधे पूँजीपति की जेब में जाता है। इस प्रकार माल को उसके मूल्य से अधिक दामों पर न बेचकर, बल्कि उसके सही मूल्य पर बेचकर पूँजीपति 3 शिलिंग का मुनाफा प्राप्त करता है।" (मार्क्सः मजदूरी, दाम और मुनाफा)

अगर पूँजीपति अपने माल को उसके मूल्य से अधिक दाम पर बेचने में कामयाब हो भी जाए, तो इससे समूची अर्थव्यवस्था में मालों के कुल मूल्य में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफा मण्डी में नहीं, बल्कि उत्पादन की प्रक्रिया में पैदा होता है। पूँजीपति मण्डी में अपने माल के विनिमय से मुनाफा इसलिए प्राप्त करता है क्योंकि उसके माल में पहले से ही मुनाफा निहित होता है। "वाणिज्यिक पूँजी साधारण रूप में परिचलन के क्षेत्र में कार्यशील पूँजी है। परिचलन की प्रक्रिया कुल पुनरुत्पादन की प्रक्रिया का ही एक पड़ाव है। परन्तु परिचलन प्रक्रिया में कोई मूल्य पैदा नहीं होता और इसलिए न ही कोई अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है। सिर्फ मूल्य का एक मात्रा के रूप में हस्तान्तरण होता है। ...अगर उत्पादित मालों की बिक्री से अतिरिक्त मूल्य हासिल किया जाता है तो सिर्फ इसलिए कि वह पहले से ही उसमें निहित था।" (कार्ल मार्क्सः पूँजी, खण्ड 3, पृष्ठ 279, अंग्रेजी संस्करण)

इस प्रकार जो लोग मण्डी में मुनाफा ढूँढते हैं, वे मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से पूरी तरह नावाकिफ होने का परिचय देते हैं। कृषि मालों के लाभकारी मूल्य की माँग व्यर्थ है क्योंकि कृषि मालों में तो पहले से ही मुनाफा निहित होता है।

मण्डी में वस्तुओं की खरीद-फरोख्त व्यापार कहलाती है। पूँजीवादी मण्डी में पूँजीपति अपने माल की ज्यादा से ज्यादा कीमत प्राप्त करने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाते हैं। मण्डी में माल की उसके मूल्य से ज्यादा दाम पर बिक्री जहाँ एक को लाभ पहुँचाती है, वहीं दूसरे को उतना ही नुकसान झेलना पड़ता है। इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स, बैंजमिन फ्रैंकलिन का हवाला देते हैं, "जंग डकैती है, व्यापार आम तौर पर धोखाधड़ी है।" (कार्ल मार्क्सः पूँजी, खण्ड-1, पृष्ठ 161, अंग्रेजी संस्करण)

इस प्रकार मण्डी में कृषि मालों की कीमत बढ़ाने की माँग करने वाले बेंजामिन फ्रैंकलिन के शब्दों में धोखाधड़ी के ही वकील हैं। ये धोखाधड़ी भी वे मजदूर वर्ग के साथ ही कर रहे हैं, जिसके रहनुमा होने का वे दावा कर रहे हैं। क्योंकि कृषि मालों के दामों में बढ़ोत्तरी का धनी किसानों को जितना लाभ होता है, उसी के अनुपात में मजदूरों को उसका नुकसान होता है।

दरअसल, लाभ या मुनाफा बढ़ाने की लड़ाई पूँजीपतियों के इस या उस गुट की तो हो सकती है लेकिन मजदूर वर्ग की नहीं। कृषि मालों के लाभकारी मूल्य की लड़ाई समाज में पैदा होने वाले कुल अतिरिक्त मूल्य में औद्योगिक और व्यापारिक पूँजी की बनिस्पत, कृषि बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा बढ़ाने की लड़ाई है और इसके समर्थन में खड़ी है। 'कम्युनिस्ट पार्टियाँ' और उपरोक्त पत्रिकाएं उसी प्रसंग में कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली जिस सब्सिडी की माँग उठाती हैं उस पर भी विचार करने की जरूरत है। सब्सिडी अर्थात कृषि उत्पादन में इस्तेमाल होने वाली स्थिर पूँजी पर सब्सिडी जिसके सम्बन्ध में आजकल पंजाब में उपरोक्त किसान संगठनों के नेतृत्व में कृषि क्षेत्र को मुफ्त बिजली दिए जाने के लिए संघर्ष चल रहा है। स्थिर पूँजी क्योंकि कोई नया मूल्य नहीं पैदा करती है, सिर्फ अपने मूल्य का ही नए उत्पादित मूल्य में हस्तान्तरण करती है, इसलिए स्थिर पूँजी के दाम गिरने से नए उत्पादित माल का दाम भी गिर जाएगा, जिससे किसान के कुल लाभ में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होगी। निस्सन्देह मजदूर वर्ग के प्रतिनिधियों को किसानों के मुनाफे के बढ़ने या गिरने से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। इस सब की चर्चा तो हम उक्त पार्टियों और पत्रिकाओं की विचारधारात्मक कंगाली को बेनकाब करने के लिए ही कर रहे हैं।

अगर सब्सिडी की माँग किसी खास इलाके के किसानों के लिए की जाती है, तो सब्सिडी मिलने के उपरान्त उस इलाके के किसानों को एक फायदा जरूर होगा कि उनके उत्पादन की दूसरे इलाके के किसानों के उत्पादन के मुकाबले मण्डी में मुकाबले की योग्यता बढ़ जाएगी। एक इलाके के किसानों का कम लागत पर तैयार माल दूसरे इलाके के

किसानों की तबाही का कारण बन सकता है। इससे ज्यादा कृषि सब्सिडी का और कोई नतीजा नहीं निकलेगा।

'कम्युनिस्ट पार्टियों', पत्रिकाओं की रहनुमाई में चल रहे किसान आन्दोलन की अगली महत्वपूर्ण माँग है सुरक्षित मण्डी की। अर्थात किसान जो भी पैदा करें, वह आराम से लाभदायक दामों पर बिक जाए। यह है सुरक्षित पूँजीवादी मण्डी का यूटोपिया। ये लोग मण्डी तो चाहते हैं, लेकिन मुकाबला नहीं। ये लोग पूँजीवाद तो चाहते हैं, लेकिन तबाही नहीं। अगर ये भूल गए हों, तो इन्हें याद दिला दें कि पूँजीवादी मण्डी मूल्य के नियम के मुताबिक चलती है। उत्पादन के साधनों के निजी मालिकाने के अधीन काम करते इस नियम के तहत पूँजीवादी मण्डी हमेशा अराजकता की हालत में रहती है। उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पर आधारित व्यवस्था में मूल्य का नियम उत्पादन के स्वतःस्फूर्त नियामक के तौर पर काम करता है। मूल्य के इर्द-गिर्द मालों के दामों में उतार-चढ़ाव, पूँजीपतियों को कुछ खास वस्तुओं का उत्पादन घटाने या बढ़ाने और उत्पादन के उन क्षेत्रों में अपनी पूँजी लगाने के लिए मजबूर करता है, जहाँ दाम ज्यादा हों। इसका नतीजा अलग-अलग आर्थिक क्षेत्रों में पूँजी और श्रम के स्वतःस्फूर्त पुनर्वितरण में निकलता है। माल उत्पादक अपने मालों की लागत कम करने की कोशिश करता है, लेकिन प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियों के अधीन हर कोई इसमें सफल नहीं होता। वे लोग जो अपने मालों को बेचने के उपरान्त अपने खर्चे पूरे नहीं कर पाते, तबाह हो जाते हैं। इसके विपरीत जो सुधरी हुई तकनीकों का इस्तेमाल करते हैं, इसके कारण श्रम की लागतें घटा लेते हैं, वे और भी अमीर हो जाते हैं। इस प्रकार माल उत्पादकों के वर्गीय ध्रुवीकरण का आर्थिक आधार तैयार होता है। इस प्रकार मूल्य के नियम के आधार पर सरल माल उत्पादन के पूँजीवादी उत्पादन में तब्दील हो जाने का आधार अस्तित्व में आता है। यानी वे छोटे उत्पादक जो खुद की श्रम-शक्ति से मालों का उत्पादन करते हैं (सरल माल उत्पादन) तबाह हो जाते हैं और उनकी बची-खुची पूँजी बड़े माल उत्पादक के हाथों में चली जाती है। इस प्रकार पूँजीवादी उत्पादन (दूसरों की श्रम-शक्ति खरीदकर उत्पादन करवाना) अस्तित्व में आता है।

पूँजीवादी मण्डी के नियम इतने बेरहम हैं कि इसके तहत कुछ का फायदा और बहुतों की तबाही अपरिहार्य है। इसका एक ही हल है, पूँजीवादी मण्डी यानी पूँजीवादी व्यवस्था की तबाही। पूँजीवाद की यह नियति मजदूर वर्ग के हाथों तय है। इसलिए जरूरी है कि इस लड़ाई में मजदूर वर्ग के दोस्तों, गरीब और मध्यम किसानों, खासकर गरीब किसानों को सुरक्षित मण्डी, लाभकारी मूल्यों आदि भ्रमों से मुक्त करके उन्हें मजदूर वर्ग के पक्ष में लाया जाए। लेकिन ये कम्युनिस्ट पार्टियाँ और पत्रिकाएं इस मकसद की विपरीत दिशा में जोर लगा रही हैं।

उक्त किसान संगठन और उनके 'कम्युनिस्ट' नेता, समर्थक, मार्गदर्शक पत्रिकाओं की चौथी महत्वपूर्ण माँग है किसानों की कर्जा-मुक्ति, जिसकी आजकल पंजाब में बहुत चर्चा है। इस प्रश्न पर पंजाब के बुर्जुआ सियासतदान, बुर्जुआ अखबार, उक्त किस्म की कम्युनिस्ट पार्टियाँ और पत्रिकाएं आज एक ही बोली बोल रहे हैं। कृषि मालों के लाभकारी मूल्यों, कर्जा मुक्ति आदि मसलों पर इन अलग-अलग कैम्पों के लोगों के बीच पंजाब में चाहे-अनचाहे एक अपवित्र गठबन्धन बना हुआ है।

'सुर्ख रेखा' ने जिस तरह किसानी की कर्ज माफी का प्रचार किया है और आज भी कर रही है, उससे तो यूँ प्रतीत होता है जैसे 'सुर्ख रेखा' को मालिक किसानों के कर्जा माफी 'संग्राम' में से भी नई जनवादी क्रान्ति निकलती नजर आती हो। यही हाल इस बिरादरी की अन्य पत्रिकाओं का भी है। अगर देखा जाए तो ज्यादा कर्जा उसी को मिलता है जिसके पास ज्यादा पूँजी हो यानी कर्जा देने वाले को अपनी पूँजी वापस मिलने का भरोसा हो। दुनिया के बड़े मगरमच्छों एनरॉन और वर्ल्डकॉम का उदाहरण हमारे सामने है। वर्ल्डकॉम के दिवालिया होने के समय उस पर 30 अरब डॉलर का कर्जा था, पंजाब के सभी किसानों के ऊपर कुल कर्जे से कई गुना ज्यादा। ऐसे ही हमारे देश के छोटे-बड़े उद्योगपतियों और मालिक किसानों के अलग-अलग स्तरों के कर्जे देखे जा सकते हैं। पंजाबी ट्रिब्यून में डा. अनूप सिंह के एक लेख के अनुसार, "1996-1997 तक 5701 करोड़ रुपये के कुल कर्जे में से 21.57 प्रतिशत यानी 1230 करोड़ रु का कर्जा 5 एकड़ तक की मालिकी वाले किसानों के ऊपर है। 28.97 प्रतिशत यानी 1657 करोड़ रुपये 5 से 10 एकड़ की जमीन मालिकी वाले किसानों पर है। बाकी 2820 करोड़ रु. का कर्जा 10 एकड़ से ज्यादा की मालिकी वाले किसानों पर था।" इससे स्पष्ट है कि जिनके पास जमीन ज्यादा है, उन्हीं पर कर्जा भी ज्यादा है। ये कम्युनिस्ट पार्टियाँ और पत्रिकाएं किसानी की सभी परतों के कर्जे माफ करने की माँग कर रही हैं। वैसे इनको इतना तो पता ही होगा कि पूँजीपति के लिए कर्जा भी मुनाफा बढ़ाने का ही एक साधन होता है।

1998 में पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़ के प्रो. एच.एस. शेरगिल की "ग्रामीण पंजाब में उधारी और कर्ज" शीर्षक से प्रस्तुत अध्ययन रिपोर्ट के मुताबिक पंजाब के किसानों पर कुल कर्जा 5700 करोड़ रु. है, जो कि पंजाब के किसानों की मालिकी के अधीन कुल जमीन की कुल कीमत का सिर्फ 4 प्रतिशत ही बनता है। अगर कृषि में किसानों द्वारा किए कुल पूँजी निवेश और किसानों की घरेलू सम्पत्ति भी जोड़ ली जाए तो किसानों की कुल पूँजी के बनिस्पत कुल कर्जे का प्रतिशत और भी नीचे गिर जाएगा। तथ्यों की रोशनी में पाठक देख सकते हैं कि इन पार्टियों और पत्रिकाओं द्वारा किसानी कर्जे के उठाए जा रहे धुएँ की असलियत क्या है।

इस विश्लेषण की रोशनी में देखा जा सकता है कि आज ये कम्युनिस्ट पार्टियाँ और पत्रिकाएँ किसकी सेवा कर रही हैं। छोटे मालिकाने को बचाए रखने की प्रतिक्रियावादी कोशिशों में डूबे हुए ये लोग मजदूर वर्ग की विचारधारा और उसके वर्गीय रुख को त्याग कर मजदूर वर्ग के दुश्मन शोषक वर्गों के दृष्टिकोण पर खड़े हैं।

अन्त में इनको लेनिन की यह नसीहत याद दिला देते हैं, "कोई पूछ सकता है कि इसका हल क्या है, किसानों की हालत कैसे सुधारी जा सकती है? छोटे किसान खुद को मजदूर वर्ग के आन्दोलन से जोड़कर और समाजवादी व्यवस्था के लिए संघर्ष में जमीन और साधनों (कारखाने, मशीनें आदि) को सामाजिक सम्पत्ति के रूप में बदल देने में मजदूरों की मदद करके खुद को पूँजी की जकड़ से मुक्त कर सकते हैं। छोटे पैमाने की खेती और छोटी जोतों को बचाने की कोशिश सामाजिक विकास की गति को अनुपयोगी रूप में धीमा करना होगा। इसका मतलब पूँजीवाद के अधीन ही खुशहाली की सम्भावना के भ्रम से किसानों को धोखा देना होगा। इसका मतलब श्रमिक वर्गों में फूट डालना और बहुसंख्यकों की कीमत पर अल्पसंख्यकों के लिए एक सुविधाजनक स्थिति पैदा करना होगा।" (मजदूर पार्टी और किसान)

(जैकारा, जून 2003 से अनूदित)

साम्राज्यवादी देशों के बीच दुनिया का बँटवारा

● हरपाल बराड़

ब्रिटेन ये प्रकाशित अंग्रेजी मासिक अखबार 'ललकार' से लिए गए इस लेख में ठोस तथ्यों के आधार पर आज के साम्राज्यवादी विश्व की एकध्रुवता के मिथक का खण्डन किया गया है। लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि साम्राज्यावादी देशों के भीतर के अन्तरविरोध लगातार तीखे होते जा रहे हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद के अश्वमेध के घोड़े की लगाम कसने और उसके मुकाबले में खड़ा होने के लिये यूरोपीय संघ व जापान कसमसा रहे हैं। रूस भी एक बार फिर अपने संकटों से उबरने की कोशिश करता हुआ साम्राज्यवादी होड़ में शामिल होने को बेताब है। साम्राज्यवादी दुनिया के भीतर मची यह उठापटक भविष्य में क्या रूप-रंग लेगी, इसके कुछ पूर्वानुमान इस लेख में लगाये गये हैं। इन पूर्वानुमानों से, हालाँकि, सम्पादक की पूर्ण सहमति नहीं है, और मूल लेख के सितम्बर 2003 में प्रकाशन के बाद से विश्व के हालात में किंचित परिवर्तन भी आये हैं, लेकिन आज के समय में अन्तरसाम्राज्यवादी होड़ की प्रकृति को समझने के लिये यह लेख बेहद उपयोगी है। सम्पादक

लेनिन ने कहा है, "यह सन्देह से परे है कि पूँजीवाद का एकाधिकारी पूँजीवाद या वित्त पूँजी में संक्रमण दुनिया के विभाजन के लिए संघर्ष के तीखे के साथ **जुड़ा होता है**।" (*साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की चरम अवस्था*)

निर्विवाद रूप से बात ऐसी थी कि उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी की शुरुआत में (ठीक-ठीक शब्दों में कहें तो वह अवधि जो कि इजारेदार-पूर्व पूँजीवाद के उसके विकास की इजारेदार अवस्था में संक्रमण को चिह्नित करती है) दुनिया के उन हिस्सों की विजय के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच संघर्ष जबर्दस्त रूप से तीखा हो गया, जो अभी तक इन शक्तियों द्वारा कब्जाये नहीं गए थे। दुनिया के इस विभाजन के एक बार पूरा हो जाने पर साम्राज्यवादी देशों की सापेक्षिक शक्ति में उनके असमान विकास के चलते हुए परिवर्तन के फलस्वरूप सिर्फ पुनर्विभाजन और पुनर्बंटवारा ही हो सकता था। अकेले यही बात प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के कारणों की व्याख्या कर देती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात, जिसके कारणों पर यहाँ जाने की जरूरत नहीं, ज्यादातर उपनिवेश **राजनीतिक** स्वतंत्रता हासिल करने में सफल हो गए, पर बावजूद इसके साम्राज्यवाद ऐसा तंत्र निर्मित करने में समर्थ था जिसके द्वारा इन औपचारिक रूप से स्वतंत्र देशों को साम्राज्यवाद पर वित्तीय, कूटनयिक और सैनिक निर्भरता के जाल में पूरी तरह से फँसा लिया गया है। दूसरे शब्दों में उपनिवेशवाद ने नव-उपनिवेशवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। दरअसल, सोवियत संघ के विघटन के बाद से अब राजनीतिक स्वाधीनता से अर्द्ध-औपनिवेशिक स्थिति की ओर पीछे की तरफ गति हो रही हैदक्षिण कोरिया, सऊदी अरब, खाड़ी के देश, बहुतेरे अफ्रीकी और लातिन अमेरिकी देश, बाल्कन प्रदेश और आखिर में लेकिन यह कम महत्वपूर्ण नहीं, अफगानिस्तान और इराक।

वित्त पूँजी गँठजोड़ों की व्यवस्था, सैनिक अड्डों के नेटवर्क, आश्रित कठपुतली सत्ताओं के सिलसिले की स्थापना और अपनी आर्थिक ताकत के जरिये कमोबेश समूची दुनिया को निर्भरता के मकड़जाल में फंसाने में समर्थ है। दरअसल, हम कह सकते हैं कि दुनिया में मुश्किल से ही ऐसी जगह बची होगी, जहाँ पर उसके भारी-भरकम पांव नहीं पड़े हों।

इस प्रकार, हालांकि औपचारिक उपनिवेश कम ही बचे हैं, और हालांकि ज्यादातर देश राजनीतिक आजादी का लबादा ओढ़े हुए हैं, लेकिन **सारतः** उसकी स्थिति वैसी ही है जैसी कि बीसवीं सदी की शुरुआत के समय थीजो कि वर्तमान-विश्व की अभिलाक्षणिक विशेषता है, साफ-साफ कहें तो विभिन्न संघर्षरत साम्राज्यवादी ताकतों के प्रभाव क्षेत्रों में दुनिया का विभाजन। वस्तुतः अमेरिका, यूरोपीय संघ और जापान के इर्द-गिर्द केन्द्रित तीन साम्राज्यवादी खेमों के बीच दुनिया के फिर से बंटवारे के लिए तीखा संघर्ष पहले से ही चल रहा है। यूगोस्लाविया में युद्ध, खाड़ी क्षेत्र पर कब्जा, हालिया युद्ध से पहले आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा इराक पर हर दिन की जाने वाली बमबारी, कोरियाई प्रायद्वीप पर जंगी उकसावेबाजी, रूसी सीमा तक जंगखोर नाटो गंठजोड़ का विस्तार, यूगोस्लाव युद्ध के दौरान चीनी दूतावास पर अमेरिकी बमबारी, चीन के समुद्रतट पर अमेरिकी खुफिया विमान का ताजा मामला, ताइवान को अत्याधुनिक हथियारों की बिक्री, यूरोपीय संघ द्वारा यूरोपीय सेना खड़ी करने के प्रयास और 1972 की एबीएम सन्धि का उल्लंघन करते हुए नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र प्रतिरक्षा कार्यक्रम को आगे बढ़ाने का अमेरिकी फैसला, अफ्रीका में छाया-युद्ध, अफगानिस्तान की जनता के खिलाफ अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा छेड़ा गया बर्बर युद्ध, इराक के खिलाफ आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा लड़ा जा रहा परभक्षी हमलावर युद्ध और उस देश पर जारी औपनिवेशिक कब्जा, तीन आर्थिक खेमे बनाने के प्रयास (उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका, यूरोप और एशिया-प्रशान्त में)इन सभी को केवल दुनिया के फिर से बंटवारे के लिए हमारी आंखों के ठीक सामने जारी पेचीदा किन्तु दुर्द्धर्ष संघर्ष के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। सर्वहारा क्रान्तियों द्वारा रोके नहीं जाने पर ये साम्राज्यवादी खेमे या इनमें से बने कुछ अन्य गंठजोड़ देर-सबेर अवश्य ही एक-दूसरे के खिलाफ युद्ध कर रहे होंगे।

अफगानिस्तान में युद्ध का "आतंकवाद के खिलाफ युद्ध" से उसी तरह से कोई लेना-देना नहीं जिस प्रकार से इराक के खिलाफ युद्ध का "जनसंहार के हथियारों" के खात्मे से कोई लेना-देना नहीं है। ये युद्ध सिर्फ अमेरिकी साम्राज्यवाद को मध्य-पूर्व से लेकर भूतपूर्व सोवियत संघ के पूर्वी गणराज्यों तक फैले क्षेत्र के तेल संसाधनों पर एकाधिकार जमाने में समर्थ बनाने के लिए, दुनिया के सभी हिस्सों पर निर्विरोध अमेरिकी प्रभुत्व स्थापित करने के लिए छेड़े गए हैं। अमेरिकी सत्तारूढ़ वर्ग न केवल उत्पीड़ित लोगों बल्कि प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी शक्तियों के ऊपर वर्चस्व कायम करने पर जोर देता हैकुछ हद तक सभी तरह के हथियारों में अत्यधिक श्रेष्ठता के जरिये और कुछ हद

तक मध्य-पूर्व और मध्य एशिया के विशाल तेल संसाधनों के ऊपर नियंत्रण के जरिये।

इसके परिणामस्वरूप अमेरिकी सैन्य खर्च नाटकीय रूप से बढ़ गया है। वर्ष 2001 के 280 अरब डॉलर प्रति वर्ष से बढ़कर अमेरिकी प्रतिरक्षा बजट वित्तीय वर्ष 2002 में 329 अरब डॉलर और 2003 में 380 अरब डॉलर हो गया। इतने से सन्तुष्ट नहीं होते हुए, अमेरिकी साम्राज्यवाद एबीएम सन्धि का घोर उल्लंघन करते हुए राष्ट्रीय प्रक्षेपास्त्र प्रतिरक्षा (एनएमडीरीगन के स्टार वार कार्यक्रम की अगली कड़ी) निर्मित करने की योजना बना रहा है ताकि अमेरिका को नाभिकीय हमले के प्रति अभेद्य बनाया जा सके। केवल एनएमडी पर आने वाले खर्च का आकलन 150-250 अरब डालर किया गया है। हालांकि, एनएमडी को वर्तमान समय में तकनीकी रूप से असंभव मान कर चला जा रहा है। लेकिन अन्य नाभिकीय शक्तियाँ, मिसाल के लिए रूस और चीन, इस तरफ जरूर गौर करेंगी और जरूरी प्रति-उपाय अपनाएंगी। बहरहाल गौरतलब यह है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद दुनिया पर दबदबा कायम करने के इस हिटलरी प्रयास में लगा हुआ है और उसका सैनिक खर्च आज दुनिया के दूसरे 14 सबसे बड़े सैनिक व्ययकर्ताओं के, जिसमें जापान, पश्चिमी यूरोप, रूस और चीन शामिल हैं, संयुक्त प्रतिरक्षा बजटों से आगे निकल गया है। विशालकाय अमेरिकी सैन्य बजट ऐसे हमलावर युद्धों की तैयारी के लिए है, जिन्हें अमेरिकी साम्राज्यवाद ने दुनिया की जनता के लिए फिर कभी के लिए रख छोड़ा है, क्योंकि एक अमेरिकी जनरल के शब्दों में, *"आप ऐसा न समझें कि हम यह सब पैसा सेना पर खर्च करने जा रहे हैं और उसे गैराज में सजा कर रखेंगे; क्या आपको ऐसा लगता है?"*

प्रतिक्रियावादी पत्रकार थॉमस फ्रीडमैन ने भी आश्चर्यजनक स्पष्टवादिता के साथ 28 मार्च, 1999 को **न्यूयार्क टाइम्स** में लिखा :

"वैश्वीकरण आगे बढ़े इसके लिए अमेरिका उस सर्वशक्तिमान महाशक्ति की तरह काम करने से भयभीत नहीं हो सकता, जो कि वह है। बाजार के छिपे हुए हाथ छिपे हुए मुक्के के बगैर कभी काम नहीं करेंगे। एफ-15 बनाने वाले मैकडोनल-डगलस के बगैर मैकडोनाल्ड फल-फूल नहीं सकता और वह छिपा हुआ मुक्का, जो कि सिलिकॉन वैली की टेक्नोलॉजी के लिए दुनिया को सुरक्षित रखता है, अमेरिका की थलसेना, वायुसेना, नौसेना और जहाजी बेड़ों का दल है।"

अमेरिका के पास दूसरे देशों में स्थित सैकड़ों सैनिक अड्डे हैं जहाँ पर इराक के खिलाफ नवीनतम युद्ध से पहले दस लाख अमेरिकी फौजों में से एक चौथाई से अधिक तैनात थीं (18 जनवरी, 2002 के फाइनेंशियल टाइम्स के अनुसार 254,783)। इनमें से 88,105 यूरोप में, 91,670 पूर्वी एशिया और प्रशान्त क्षेत्र में (जापान में 40,217 और दक्षिण कोरिया में 37,605), 26,878 मध्यपूर्व, दक्षिण एशिया और उत्तरी अफ्रीका में तथा 14,015 दक्षिण अमेरिका में थीं। इराक युद्ध के समय से और 148,000 अमेरिकी फौजों की कब्जाधारी औपनिवेशिक सेना के रूप में तैनाती लगातार बनी हुई है। प्रतिरक्षा बजट में वृद्धि की योजना के साथ अमेरिका ने अपनी सशस्त्र सेनाओं के लिए और ज्यादा समुद्री जहाज, ज्यादा साजो-समान, हवा से हवा में ही तेल भरने वाले टैंकर, ग्लोबल हॉक और चालक रहित प्रिडेटर विमान, उपग्रह, निगरानी विमान और दुश्मन के संचारों को सुनने वाले विमानों के साथ-साथ सटीक निशाना लगाने वाले हथियारों को हासिल करना शुरू कर दिया है।

इसके अलावा, वह निश्चित रूप से दूसरे देशों में और भी सैनिक अड्डे हासिल करने की कोशिश करेगा, जिसकी महत्ता को दिएगो गार्सिया के उपयोग से फिर से बल मिला है, जहाँ से अमेरिकी बी-52 और बी-1बी बमवर्षकों ने अफगान और इराकी जनता पर कहर ढाने के लिए उड़ान भरी थी।

इन हाई-टेक योजनाओं के पीछे का विचार यह है कि अमेरिका को अपने सैन्यकर्मियों की जान को खतरे में डाले बिना संभाव्य युद्ध को लड़ने में सक्षम होना चाहिए। लेकिन यह विचार व्यवहार में काम नहीं करता। कायरता से भरे अमेरिकी विमानकर्मियों के लिए 15 किलोमीटर की सुरक्षित उंचाई से ऐसे लोगों पर निर्भय होकर बम बरसाना, जिनके पास हवाई हमले से बचाव का वस्तुतः कोई उपाय नहीं है, अलग बात है। लेकिन ऐसे लोगों को, जो इस नव नाजी तड़ित प्रहार के निशाने पर हैं, नियंत्रित करना और वश में रखना पूरी तरह से भिन्न बात है। वियतनाम, लेबनान और सोमालिया में अमेरिकी अनुभव ने इस बात की पूरी तरह से पुष्टि कर दी है। इसी तरह अफगानिस्तान और इराक में हर दिन इसकी पुष्टि हो रही है, जहाँ पर साम्राज्यवादी ताकतें इराकी राष्ट्रीय प्रतिरोध के हर दिन के हमलों के निशाने पर हैं। इराक में जोर्डन के दूतावास, बगदाद में संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय पर हाल में हुए हमले के साथ-साथ इराक में इस्लामिक क्रान्ति के लिए सर्वोच्च परिषद (एससीआईआरआई) के प्रमुख शत्रु-सहयोगी अयातुल्ला अल-हाकिम का सफाया इस बात के दमदार सन्देश हैं कि इराक का औपनिवेशिक कब्जा गहरे संकट में है।

तीखे होते अन्तर-साम्राज्यवादी अन्तरविरोध

इसके बावजूद अमेरिकी दादागिरी, आक्रमण और हेकड़ी उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच से उसके खिलाफ न केवल प्रतिरोध भड़का रही है, बल्कि साम्राज्यवादी शिविर के भीतर भी आक्रोश, असन्तोष और विघटन की चिन्गारी भड़का रही है, जो कि व्यापार में संरक्षणवाद और प्रत्येक दूसरे क्षेत्र में तीखी प्रतिद्वंद्विता की तरफ ले जा रही है।

साम्राज्यवाद का गहराता संकट अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोधों को उस स्तर तक तीखा बना रहा है, जिसे द्वितीय विश्व युद्ध के पहले के समय से नहीं देखा गया। अति उत्पादन का वह संकट, जो 1997 में एशिया में मुद्रा संकट की शक्ल में प्रकट हुआ और जो महाद्वीपों को पार कर ब्राजील को अपनी चपेट में लेने से पहले 1998 में रूस तक फैला, अपना विनाशकारी काम रखे हुए है। जापानी अर्थव्यवस्था में, जो पूरे दशक भर गहरे संकट में रही है, पिछले साल (2002) की पहली तिमाही में तीन प्रतिशत की मन्दी दर्ज की गई। इस गिरावट के साथ ही दूसरी तिमाही में जापानी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में 10 प्रतिशत सालाना की दर से वृद्धि हुई है। समूचे दशक के लिए पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था की वृद्धि के इंजन अमेरिकी अर्थव्यवस्था बेरोजगारी के 6.4 प्रतिशत पर पहुँच जाने के साथ तीन वर्षों से संकट में है1994 से लेकर यह उच्चतम स्तर हैयूरोपीय संघ में आर्थिक वृद्धि बस शून्य से ऊपर है और इस साल यूरोपीय संघ के नकारात्मक वृद्धि दर्ज करने की आशंका है।

विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था संतृप्त बाजारों, उद्योग दर उद्योग की अतिरिक्त क्षमता, मुनाफे की बेरौनक प्रत्याशा, जापान और जर्मनी

में क्षणभंगुर वित्तीय संस्थाओं, आवासीय बाजार के बुलबुले और नौकरियों एवं आमदनियों की गिरती हालत के साथ-साथ बढ़ता भारी-भरकम उपभोक्ता ऋणये कारक ऐसे हैं जो कि अर्थव्यवस्था के भले-चंगे होने की बजाय भारी मन्दी के नुस्खे हैं। अगर यह मीन-मेख निकालने जैसा जान पड़ता है और अगर यह तस्वीर डरावनी लग रही है तो आइये उन विश्लेषकों की बातों पर गौर फरमाएँ, जिनकी खाँटी बुर्जुआ साख के बारे में कोई भ्रम नहीं है, जिन्होंने आने वाले भविष्य का एक नजारा पेश किया है। यह कुछ इस प्रकार है।

दुनिया की सबसे बड़ी अमेरिकी अर्थव्यवस्था की चारित्रिक विशेषता वे गंभीर किस्म के असन्तुलन बने हुए हैं, जिन्हें पिछले तीन सालों की मन्दी के दौरान दुरुस्त नहीं किया गया। अमेरिकी व्यापार घाटा उसके जीडीपी के छह प्रतिशत की अभूतपूर्व ऊंचाई तक पहुँच गया है। वर्ष 2004 में इसके 623 अरब डालर हो जाने की आशंका हैमतलब यह कि इसकी भरपाई करने के लिए अमेरिका को हर कार्यदिवस में शुद्ध 2.4 अरब डालर कमाना पड़ेगा। उसका वित्तीय लेखा-जोखा आधिक्य दर्शाने की बजाय, जैसा कि पूर्वानुमान व्यक्त किया गया था कि 2003 में यह जीडीपी का कम से कम तीन प्रतिशत होगा, इस साल और अगले साल जीडीपी के पांच प्रतिशत के करीब घाटे में रहेगा। लम्बी अवधि में तस्वीर निराशाजनक है। कांग्रेस के बजट कार्यालय के अनुसार 2013 में समाप्त हो रहे दशक के लिए एक समय की गई पांच-छह हजार अरब डालर के आधिक्य की भविष्यवाणी के बजाय वर्तमान प्रत्याशा 1,800 अरब डालर के घाटे की है। स्वतंत्र आकलन इसे चार हजार अरब डालर तक बताते हैं (फाइनेंशियल टाइम्स में 10 जून 2003 को छपे फ्रांस में अमेरिका के पूर्व राजदूत फेलिक्स रोहाटिन का लेख, *"वैश्विक प्रभुत्व के असहनीय खर्च"*)।

अमेरिकी उपभोक्ता एक ऐसे समय में आकंठ कर्ज में डूबे हुए हैं जब बेरोजगारी अप्रैल 1994 से किसी भी समय के मुकाबले उच्चतर स्तर (6.4 प्रतिशत) पर पहुँच गई है। 2001 की मन्दी के बाद दो वर्षों में अमेरिका के निजी क्षेत्र में रोजगार में 25 लाख की कमी आयी है (इसमें सात लाख की कमी अकेले पिछले साल के ही दौरान आई) और यह दो साल पहले के मुकाबले दो प्रतिशत अधिक है। सैन्य बजट नाटकीय रूप से बढ़ गया है और निकट भविष्य में इसका लगातार बढ़ते जाना तय है। ये अमेरिकी उपभोक्ताओं में आत्मविश्वास का संचार करने वाली स्थितियाँ नहीं हैं, जिनकी फिजूलखर्ची की आदतों ने अमेरिकी और विश्व अर्थव्यवस्था को उससे भी ज्यादा गहरी मन्दी में फंसने से दूर रखा है जिसे कि अभी हाल में महसूस किया गया था। आर्थिक विघटन के इस दुःस्वप्ननुमा परिदृश्य की तार्किक परिणति के तौर पर जरूरी है कि अमेरिकी उपभोक्ता अपनी फिजूलखर्ची पर रोक लगा दें। अगर ऐसा होता है, जिसके कि पूरे-पूरे आसार हैं, तो एक भी ऐसा उपाय नहीं है जिससे संघीय सरकार, जो कि पहले ही दर्जनों मर्तबा ब्याज दरों में कटौती कर चुकी है, उपभोक्ता माँग को संवेग प्रदान करने के लिए अपनाने में सफल हो पाएगी। इसके साथ ही, अपने कर्जदारों के बैलेंस शीट की विश्वसनीयता से पहले से ही चिहुँके हुए बैंक अपने कार्पोरेट ग्राहकों के लिए दरवाजा बन्द करने को विवश हो जाएंगे।

इसके अतिरिक्त अपने घाटों की भरपाई के लिए विदेशी पूँजी पर अमेरिका की निर्भरता बढ़ती जा रही है, क्योंकि उसके व्यापार और बजट घाटे विदेशी पूँजी की पहले हमेशा से बड़ी आवकों की माँग करते हैं। इस समय अमेरिका का शुद्ध विदेशी ऋण तीन हजार अरब डालर है (जो उसके जीडीपी का 30 प्रतिशत है) और यह बढ़ता ही जा रहा है। इसके लिए लगातार बढ़ते पैमाने पर विदेशी पूँजी की आवकों की जरूरत है। लेकिन डालर के दबाव में आने के चलते (पिछले 12 महीनों के दौरान व्यापार-प्रभाव के आधार पर डालर 17 प्रतिशत और यूरो के खिलाफ 25 प्रतिशत गंवा चुका है) इस तरह की आवक पर प्रश्नचिह्न लग गया है। अमेरिका में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश वर्ष 2000 के 300 अरब डालर से अधिक से सिकुड़कर वर्ष 2002 में 50 अरब डालर से कम रह गया है (फाइनेंशियल टाइम्स, 10 जून 2003)।

अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक दीर्घकालिक गिरावट की ओर अग्रसर है। इसके चलते और ऊपर बयान की गयी घटनाओं के सिलसिले विदेशियों के मन में बैठी दुविधा को दूर नहीं कर सकते कि अमेरिकी घाटे की भरपाई के लिए उन्हें अपनी डालर में संचित परिसम्पत्तियों को बनाये रखना चाहिये या नहीं। अमेरिका में मुनाफे और पूँजी लाभों की आशा क्षीण होने के चले वे डालरों को बेचकर अपने निवेशों को वापस स्वदेश भेजना शुरू कर सकते हैं। इस पूँजी प्रवाह से जो बाढ़ आयेगी उसे रोकना डालर के बूते के बाहर होगा। डालर के सस्ते होने से अमेरिकी आयात और महंगा तथा निर्यात सस्ता हो जायेगा। इससे अमेरिकी विनिर्माता अपने मालों की कीमते मनचाहे ढंग से तय करने में सक्षम होंगे जिसके असर से मुद्रास्फीति बढ़ेगी। इसे रोकना सरकार के बस में नहीं होगा क्योंकि वह अपने आक्रमणकारी साम्राज्यवादी युद्धों के लगातार बढ़ते खर्चों से पीछे नहीं हट सकती जो अति उत्पादन के साम्राज्यवादी संकट के कारण पहले ही काफी बढ़ चुके हैं। संघीय सरकार के लिए डालर की सुरक्षा की खातिर ब्याज दरों को बढ़ाना लगभग नामुमकिन होगा क्योंकि उपभोक्ता माँगों की गिरावट के मद्देनजर ऐसा करने से अर्थव्यवस्था और अधिक गहरे संकट में धँस जायेगी। संघीय सरकार स्वयं को बड़ी दुविधा में फंसी हुई पा रही हैः **"डालर की हिफाजत करने के लिए ब्याज दरों को ऊपर उठाये और अर्थव्यवस्था को आगे और भी धीमा करे, या डालर को और ज्यादा लुढ़कते जाने दे और अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संकट पैदा हो जाने का जोखिम मोल ले"** (10 जून के फाइनेंशियल टाइम्स में श्री रोहाटिन का लेख देखें)।

अगर इस तरह का परिदृश्य उपस्थित हो जाए तो अमेरिका और विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए इसके परिणाम खौफनाक से तनिक भी कम नहीं होंगे।

जून (2003) के मध्य में उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखे जाने के समय से अमेरिकी और जापानी दोनों अर्थव्यवस्थाओं ने थोड़ी-बहुत वृद्धि के संकेत दर्शाये हैं। दोनों ही अर्थव्यवस्थाएं इस साल दो प्रतिशत की दर से बढ़ने की आशा कर रही हैं। बहरहाल, उक्त भविष्यवाणियाँ सन्दिग्ध आधारों पर टिकी हुई हैं क्योंकि गंभीर असन्तुलन का सामना कर रही अमेरिकी और जापानी अर्थव्यवस्थाएं विकराल समस्याओं से घिरी हुई हैं। जापान के मामले में टिकाऊ वृद्धि की इस तरह की जोशीली भविष्यवाणियाँ पिछली दफा वर्ष 2000 में उस वक्त की गई थीं जब निकेइ सूचकांक अपने वर्तमान स्तर के दोगुने पर जा पहुँचा था। लेकिन वृद्धि को लेकर इस तरह की बातें हवा हो गईं क्योंकि जापान की द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की सबसे बड़ी मन्दी और भी ज्यादा गहरा गई।

इस वर्ष की प्रथम तिमाही में जीडीपी डिफलेटर के 3.5 प्रतिशत

पहुँच जाने के साथ जापान अपस्फीति के गंभीर झोंके से त्रस्त है (जो कि पूँजीवाद की दशाओं के तहत उसी तरह एक समस्या है जैसे कि मुद्रास्फीति)। लम्बे समय से भरभरा कर गिरती कीमतें जापान के कर राजस्वों, सार्वजनिक ऋण और वित्तीय व्यवस्था के स्वास्थ्य के लिए मुश्किल प्रश्न खड़े करती हैं। 22 अगस्त 2003 के फाइनेंशियल टाइम्स ने ठीक ही लिखा है, *"भविष्य में कर्ज उतर जाने की उम्मीद के अनुपात में जब पुराने कर्जे बढ़ते हैं तब अन्ततः यह बोझ असहनीय हो जाता है।"* अखबार ठीक ही लिखता है कि *"जब तक यह स्थिति बनी रहेगी तब तक जापान की बैंकिंग प्रणाली के चौपट हो जाने के आसार बने रहेंगे यानी व्यवस्थागत संकट में पड़ जाने का स्थायी खतरा।"*

जापान वर्षों से इस मन्दी से उबरने का कोई रास्ता निकालने की जुगत भिड़ा रहा है। इसके परिणामस्वरूप वह प्रति वर्ष जीडीपी के आठ प्रतिशत वित्तीय घाटे में चल रहा है और जीडीपी के अनुपात में इसका सकल ऋण 150 प्रतिशत के करीब जा पहुँचा है। इसको नीचे लाया जाना है। इस अन्तर को चाहे खर्च में कटौती से पाटा जाय या फिर टैक्सों को बढ़ाकर, भावी घरेलू माँग और वृद्धि पर इसका असर केवल नकारात्मक ही हो सकता है। जापानी अर्थव्यवस्था के बारे में बेहतर जानकारी रखने वाले पर्यवेक्षकों का विचार है कि यह अंग्रेजी के तीन घातक 'डी' [debt (कर्ज), deflation (अपस्फीति), demographics (जनसांख्यिकी)] की गिरफ्त में है, जिसके फलस्वरूप वृद्धि की इसकी दूरगामी संभावना हस्बेमामूल एक प्रतिशत सालाना से तनिक भी अधिक नहीं है।

यूरोपीय अर्थव्यवस्था ठहराव की शिकार है और जापानी अर्थव्यवस्था अपनी ही समस्याओं से जूझ रही है। अब तक विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था खतरनाक ढंग से सिर्फ एक ही इंजन के सहारे आगे बढ़ती रही हैअमेरिकी अर्थव्यवस्था की वृद्धि के सहारे। यह अमेरिकी वृद्धि जिन गम्भीर असन्तुलनों पर टिकी हुई है उसे देखते हुए अब इसका आगे बढ़ना सम्भव नहीं दीखता।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि प्रमुख पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएं कौन से कदम उठाती हैं, इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि पूँजीवादी सरकारें अपनी अर्थव्यवस्था को सेहतमन्द बनाने के लिए एक से बढ़कर एक नुस्खे आजमाती हैं, आखिर में वे पूँजीवाद के लौह नियमों के आगे अशक्त होती हैं, जो कि नियत अवधि पर उत्पादन के संकट की शक्ल में उनसे टकराते हैं, प्रत्येक टकराव पहले वाले के मुकाबले ज्यादा विनाशकारी होता है।

यह पूँजीवाद का असाध्य संकट है जो कि प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी खेमों के प्रतिनिधियों और उनके विचारकों द्वारा खुली विश्व अर्थव्यवस्था के चमत्कारों के बारे में कही जाने वाली वाक्चातुर्य से भरी उक्तियों के बावजूद बढ़ते पैमाने पर व्यापार विवादों और संरक्षणवाद को जन्म दे रहा है। अमेरिका द्वारा आयातित स्टील पर लगाया गया आयात शुल्क तो महज बानगी और आने वाली तबाही का अग्रदूत भर है।

अमेरिका के साथ गठबन्धन के प्रति समय-समय पर मौखिक प्रतिबद्धता व्यक्त करने वाले उसके प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी जहाँ मौजूदा हालात से सर्वाधिक नाखुश हैं, वहीं अमेरिकी साम्राज्यवाद उन्हें धकियाता रहता है और उनके साथ हिकारत से पेश आता है। अफगान युद्ध की शुरुआत के समय जर्मनी तथाकथित शान्ति-सेना समेत विदेशी फौजों की कमान को लेकर सर्वाधिक नाखुश था और उसने शान्ति रक्षक मिशन को अमेरिकी नेतृत्व वाले *एंड्योरिंग फ्रीडम मिलिट्री मिशन* से अलग रखने की माँग की थी।

इसमें दो राय नहीं कि जर्मन नेतृत्व के तहत यूरोपीय संघ और जापान सैन्य रूप से अमेरिकी साम्राज्यवाद का सामना करने की स्थिति में नहीं हैं, इसकी एकमात्र वजह यह है कि उनके पास नाभिकीय हथियार नहीं हैं। लेकिन उनके पास इन हथियारों को हासिल करने के लिए औद्योगिक, वित्तीय और प्रौद्योगिकीय क्षमता तो है। पिछले 50 सालों के दौरान उनकी आर्थिक शक्ति में जबर्दस्त इजाफा हुआ है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जहाँ जापान और यूरोप अपनी अर्थव्यवस्थाओं के नष्ट होने और उद्योग के तबाह-बर्बाद होने के साथ शब्दशः धूल चाट रहे थे वहीं अमेरिका सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्यवादी ताकत के रूप में उभरा, वैश्विक जीडीपी का 45 प्रतिशत हिस्सा अकेले उसके खाते में दर्ज हो रहा था। इस बात ने लाल सेना की जीतों, चीनी क्रान्ति की जीत और समाजवादी शिविर के उद्भव के साथ मिलकर यूरोपीय और जापानी पूँजीपति वर्ग के मन में खुदा का खौफ पैदा किया और उन्हें ना-नुकुर किये बगैर विघटन से बचने और साम्यवाद के भूत को दूर रखने के एकमात्र उपाय के तौर पर अमेरिकी नेतृत्व को स्वीकार करने के लिए विवश किया।

बहरहाल, हालात तेजी से बदले। जहाँ यूरोपीय संघ और जापान की अर्थव्यवस्थाएं तेजी से बढ़ीं वहीं अमेरिकी अर्थव्यवस्था में सापेक्षतया गिरावट आई। वर्तमान में यह वैश्विक जीडीपी के तकरीबन 30 प्रतिशत हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है। इसके मुकाबले में यूरोपीय संघ की अर्थव्यवस्था लगभग अमेरिकी अर्थव्यवस्था के आकार के बराबर है, और जापान, आने वाले दशक के दौरान होने वाली अपनी सभी समस्याओं के बावजूद, अकेले ही वैश्विक जीडीपी के 15 प्रतिशत को अपने खाते में दर्ज करता है। इस तरह से यह स्पष्ट है कि यूरोपीय संघ और जापान, विशेषकर सोवियत संघ और पूर्वी ब्लाक के पराभव, और इसके फलस्वरूप समाजवादी खतरे के परिदृश्य से हट जाने के साथ, अब इस स्थिति में हैं कि अमेरिका को नहीं कह सकें और बढ़ते पैमाने पर वे ऐसा कह रहे हैं। जर्मन और जापानी दोनों साम्राज्यवादी ताकतों ने अपनी सशस्त्र सेनाओं को अपनी-अपनी राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर तैनात करने के अधिकार पर जोर दिया और इसे हासिल भी किया है।

अन्तर साम्राज्यवादी अन्तरविरोध एक ऐसी अवधि में उबलने वाले तापमान तक पहुँच गए हैं, जो कि इराक के खिलाफ आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवादी हमलावर युद्ध को जन्म दे रही है, जबकि फ्रांस और जर्मनी जोरदार ढंग से संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में अमेरिका और ब्रिटेन का विरोध कर रहे हैं। इराक में कब्जाधारी सेनाएं गंभीर समस्याओं का सामना कर रही हैं। एक तरफ कुछ अग्रणी यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों, और दूसरी तरफ अमेरिकी साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध और भी तीखे हो गये हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तर और दक्षिण अमेरिका में, जर्मनी के मध्य और पूर्वी यूरोप में, और जापान के एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में अपनी पकड़ मजबूत बनाते जाने के साथ तीन प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी खेमे साफ-साफ बनते नजर आ रहे हैंजो कि एक-दूसरे के प्रभाव के क्षेत्र का अतिक्रमण करने और आखिर में युद्ध के जरिये अपना दबदबा कायम करने की पूर्वपीठिका है।

वर्तमान समय में यह बताने का कोई उपाय नहीं है कि अगर

जर्मनी और जापान नाभिकीय विकल्प की ओर मुड़ते हैं तो वे ऐसा कब करेंगे। जहाँ तक अमेरिकी साम्राज्यवाद की बात है तो अपने तईं वह उन्हें ऐसा करने से रोकने के लिए कटिबद्ध है। वैकल्पिक तौर पर यह संभावना के क्षेत्र से परे नहीं है कि या तो जर्मनी या जापान या फिर वे दोनों रूस के साथ गठजोड़ कायम कर लें, जिसके पास अमेरिका का मुकाबला करने के लिए हथियार हैं। इस सन्दर्भ में यह बात गंभीरतापूर्वक ध्यान दिये जाने लायक है कि जर्मनी के चांसलर श्रोएडर ने यूरोपीय संघ के साथ-साथ नाटो में भी रूस को शामिल करने की हिमायत की है। इन दोनों ही विचारों का अमेरिका द्वारा विरोध किया जा रहा है, कारण साफ है कि वे नाटो के भीतर उसके वर्चस्व के लिए चुनौती प्रस्तुत करते हैं।

अति-साम्राज्यवाद के काउत्स्की के अवसरवादी सिद्धान्त, जिसे कि अब बुर्जुआ विचारकों और वर्तमान समय के मजदूर आन्दोलन के सुधारवादियों द्वारा सामूहिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का नया नाम दिया गया है, के पैरोकारों का कहना चाहे जो भी हो, सच तो यह है कि विभिन्न साम्राज्यवादी खेमे लड़ाई के लिए इसलिए कमर नहीं कस रहे हैं कि उनमें से किसी के मन में दुर्भाव छिपे हुए हैं, बल्कि इसलिए कि पूँजीवाद का असमान विकास और साम्राज्यवाद का संकट अप्रतिरोध्य ढंग से उन्हें इस दिशा में धकेल रहे हैं। यह संभव ही नहीं है कि जापानी या जर्मन साम्राज्यवाद, दोनों में से किसी के भी पास तेल तक किसी तरह की स्वतंत्र पहुँच नहीं है जो कि साम्राज्यवादी उद्योग और युद्ध मशीनों का एक समान प्रमुख कच्चा माल है, अमेरिकी साम्राज्यवाद को मध्य-पूर्व से लेकर मध्य-एशिया तक फैले विशाल भू-भाग के तेल संसाधनों को हड़प कर जाने दें, जिसके लिए मौजूदा अफगान और इराक युद्ध लड़े जा रहे हैं।

जापान की विपक्षी लिबरल पार्टी के नेता इचिरो ओजावा ने इस वर्ष (2003) अप्रैल की शुरुआत में कहा था : "अगर जापान चाहे तो वह रातों-रात हजारों नाभिकीय वार-हेड निर्मित कर सकता है। जापान के पास उसके नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों में उन्हें तीन से लेकर चार हजार तक की संख्या में निर्मित करने के लिए पर्याप्त प्लूटोनियम है। अगर ऐसा हो गया तो हम सैनिक शक्ति के लिहाज से कभी भी परास्त नहीं होंगे।"

श्री ओजावा की टिप्पणी की खबर देने वाला टाइम्स अखबार 8 अप्रैल 2003 के अंक में आगे कहता है, "जापानी राजनीतिज्ञ सामान्यतया दुनिया को इस बात की याद दिलाने से बचना चाहते हैं कि उनका देश त्वरित गति से नाभिकीय शस्त्रागार निर्मित करने में निश्चित रूप से सक्षम है। देश के नाभिकीय ऊर्जा कार्यक्रम ने हथियार-स्तर के प्लूटोनियम को बड़ी मात्रा में पैदा किया है, जो कि उसके रिएक्टरों के लिए लक्षित है। जापान के पास तीस हजार कि.ग्रा. से अधिक प्लूटोनियम है, जो कि विशेषज्ञों के आकलन के अनुसार छह हजार नाभिकीय हथियार बनाने के लिए पर्याप्त है।"

हालांकि श्री ओजावा की टिप्पणी प्रत्यक्ष रूप से चीन की तरफ लक्षित थी और जाहिरा तौर पर इसका उद्देश्य चीन की बढ़ती सैनिक ताकत को लेकर जापान की चिन्ता को रेखांकित करना था, लेकिन जापान की प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी शक्तियाँ, विशेषकर अमेरिका इसके निहिताशय को समझने में चूकी नहीं होंगी और उन्होंने इस तरह के वक्तव्यों के महत्व को जरूर समझा होगा।

1990 के दशक के दौरान डालर लुढ़का और येन में उछाल आया, इसके फलस्वरूप जापानियों को अमेरिका में अपने निवेशों पर भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस घटना ने जापानियों को डालर के रूप में आस्तियों में निवेश के लिए अनिच्छुक बना दिया। इस सबसे बढ़कर अमेरिकी चालू खाते के घाटे की जबर्दस्त वृद्धि के साथ-साथ आसमान चढ़ते जापानी चालू खाते के आधिक्यों ने पिछले कुछ वर्षों के दौरान अमेरिका और जापान के बीच अभूतपूर्व व्यापारिक विवादों को जन्म दिया है। डालर के मूल्य में कोई तगड़ा ह्रास, जो कि इस तथ्य के मद्देनजर निकट भविष्य की बात जान पड़ती है कि अमेरिका को अपने व्यापार घाटे को पूरा करने और चलन में बने रहने के लिए एक दिन में 1.3 अरब डालर का उधार लेने की जरूरत पड़ती है। यह जापानियों और यूरोपियों के अपनी निधियों को अमेरिका से निकाल लेने के कारण बनता है। यह बात अन्तरराष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था के, जिसमें डालर अन्तरराष्ट्रीय रिजर्व मुद्रा के रूप में अपनी भूमिका निभाता रहा है, तहस-नहस होने के लिए मंच तैयार करेगी। और इस तरह की व्यवस्था की विफलता एक ऐसे व्यापार युद्ध की पूर्वपीठिका होगी, जिसका अपने बहाव में उस किसी भी व्यापार युद्ध के मुकाबले ज्यादा भयावह और विनाशकारी होना तय है, जिसे दुनिया पहले देख चुकी है। यह मानने के ठोस कारण हैं कि यह संघर्ष व्यापार-युद्ध की सीमाओं के भीतर नहीं भी बना रह सकता, या कि ऐसा हो सकता है कि यह अभूतपूर्व रूप से भयावह अनुपात में सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर लेक्योंकि **"वित्तीय पूँजी और ट्रस्ट विश्व अर्थव्यवस्था के विभिन्न हिस्सों की वृद्धि दर में अन्तरों को घटाते नहीं अपितु बढ़ाते हैं। शक्तियों के सम्बन्ध एक बार बदल जाने पर अन्तरविरोध का पूँजीवाद के तहत ताकत से निकलने वाले समाधान के सिवाय और कौन सा समाधान तलाशा जा सकता है"**(लेनिन, साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम व्यवस्था)।

फिर, कोई आश्चर्य नहीं कि 1990 का दशक जापान और अमेरिका में ऐसे सम्मानित बुर्जुआ लेखकों द्वारा लिखी गई कम से कम आधा दर्जन 'बेस्ट सेलर' के प्रकाशन का गवाह बना, जो कि लेनिनवाद के प्रति जरा सी भी सहानुभूति नहीं रखते, इन किताबों में भविष्यवाणी की गई है कि अगला युद्ध अमेरिका और जापान के बीच होगा।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि घटनाएं तेजी से ऐसी दिशा में आगे बढ़ रही हैं जो कि अन्तर-साम्राज्यवादी व्यापार युद्ध को मौजूदा प्रभाव क्षेत्रों, कच्ची सामग्री के स्रोतों और सामान और पूँजी निर्यात के बाजारों के पुनर्बंटवारे की ओर लक्षित वास्तविक युद्ध के प्रारंभिक कार्य का रूप दे देती है। इसकी संभावना अधिकाधिक बलवती होती जा रही है बशर्ते क्रान्ति के द्वारा इसे रोका न जाए। हमें इसी सन्दर्भ में दुनिया भर में भड़क उठने वाले समस्त साम्राज्यवादी नेतृत्व वाले और साम्राज्यवाद-प्रेरित युद्धों और सशस्त्र संघर्षों को देखना होगा।

यूरोपीय संघ साम्राज्यवाद

यूरोपीय संघ में समूहबद्ध यूरोपीय पूँजीपति वर्ग ने अपने पहले के उपनिवेशों में अपनी प्रभावी स्थितियों के नुकसान, राष्ट्रीय बाजारों के सिकुड़ते जाने और अमेरिकी एवं जापानी इजारेदारियों की तगड़ी प्रतिस्पर्धा से संवेग पाकर विशाल और शक्तिशाली अर्थव्यवस्था, साझी मुद्रा (यूरो), साझी विदेश नीति, साझी यूरोपीय सुरक्षा और प्रतिरक्षा नीति (ईएसडीपी) और संयुक्त सैन्य-औद्योगिक कांप्लेक्स के साथ शक्तिशाली

एकीकृत यूरोप निर्मित करने के अपने प्रयास तेज कर दिये हैं।

दूसरे शब्दों में, उस एकीकृत यूरोप, जिसे सृजित करने का यूरोपीय पूँजीपति वर्ग भरसक प्रयास कर रहा है, के पास सर्वप्रमुख लक्ष्य अमेरिकी महाशक्ति की महत्वाकांक्षाओं और मिथ्याभिमानों की तरह वर्चस्व और प्रभुत्व को लेकर अपनी स्वयं की महत्वाकांक्षाएं और मिथ्याभिमान के साथ एक और यूरोपीय महाशक्ति का सृजन करना है।

सोवियत संघ के विघटन और इस तथ्य के मद्देनजर कि यूरोपीय संघ की अर्थव्यवस्था अब लगभग अमेरिकी अर्थव्यवस्था जितनी बड़ी है और यह कि यूरोपीय संघ के खाते में विश्व व्यापार का 20 प्रतिशत हिस्सा आता है, यूरोपीय संघ की वित्तीय पूँजी कोई कारण नहीं देखती कि अमेरिकी इजारेदार पूँजी की ख्वाहिशें और सनकों के आगे झुका जाए। पूँजीवाद के असमान विकास और अमेरिकी अर्थव्यवस्था से होड़ करती अर्थव्यवस्था के रूप में यूरोपीय संघ के उद्भव ने इस स्थिति को जन्म दिया है। यूरोपीय सर्वहारा का यह कर्तव्य बनता है कि वह हर प्रकार के महाशक्ति प्रभुत्व और वर्चस्ववाद के खिलाफ संघर्ष करे, सिर्फ अमेरिका की तरह की दूसरी साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष से काम चलने वाला नहीं।

यूरोपीय संघ का 400 विमानों और 50 जलयानों से सुसज्जित 60,000 त्वरित कार्रवाई बल(रैपिड रिएक्शन फोर्स) बनाने का कार्यक्रम है, जो कि 60 दिनों के भीतर गतिशील होने में और स्थानापन्न के बगैर साल भर तक की अवधि तक काम करते रहने में सक्षम हो और जिसके पास अपनी सीमाओं से लम्बी दूरी पर बलों को प्रक्षेपित करने की स्वतंत्र (अर्थात नाटो से स्वतंत्र) क्षमता हो। यह एकीकृत यूरोपीय सैनिक बल से कम कोई चीज नहीं होगी। चाहे उसे इस नाम से बुलाया जाय या नहीं। हालांकि उसे इसी नाम से बुलाना उचित है। 20 नवम्बर 2001 को ब्रसेल्स में यूरोपीय संघ के प्रतिरक्षा और विदेश मंत्रियों की बैठक में स्वीकृत हुए और तभी से नीस सम्मेलन द्वारा मंजूरी पाये इस बल को इस तरह की शस्त्रास्त्र-सज्जा और सुविधाओं से लैस किया जाएगा, जो कि उन सभी कमजोरियों को दूर कर सके जो कि 1999 के बसन्त और ग्रीष्म ऋतु में युगोस्लाव लोगों के खिलाफ नाटो के हमलावर युद्ध के द्वारा प्रकट हुई थीं। उस युद्ध के दौरान अमेरिकी साम्राज्यवादी सैन्य प्रभुत्व और यूरोपीय नपुंसकता समान रूप से एकदम साफ-साफ नजर आ रही थी, और यूरोपीय पूँजीपति वर्ग के लिए यह बहुत ही कष्टप्रद था। इस प्रकार, यूरोपीय संघ की सेना को परिवहन विमानों, मालवाहक जहाजों, सटीक वार करने वाले प्रक्षेपास्त्रों, इलेक्ट्रानिक खुफिया संग्रहण, नियंत्रण और संचार क्षमताओं से सुसज्जित किया जाना है। यह यूरोपीय संघ के देशों की सैनिक रणनीति से अभूतपूर्व प्रस्थान और नाटो के टूटने की शुरुआत का संकेत है। वास्तविकता यही है, फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि यूरोपीय संघ के नेता कितनी जल्दी-जल्दी और कितने जोरदार ढंग से इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि नाटो गठबन्धन यूरोप की प्रतिरक्षा का आधार-स्तंभ बना हुआ है, या यह कि यह नई सेना *"संकट प्रबन्धन के समय यूरोपीय संघ और नाटो के बीच सच्ची सहभागिता की जीवन्तता बढ़ाने"* की मंशा से बनायी गयी है, जैसा कि नीस सम्मेलन की प्रतिरक्षा पर मसौदा रिपोर्ट हमें विश्वास दिलाने की कोशिश करती है। इस तरह की घोषणाओं से अमेरिकी साम्राज्यवाद को तो छोड़िये हम में से किसी को भी बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। तब फिर कोई आश्चर्य नहीं कि तत्कालीन अमेरिकी रक्षा मंत्री विलियम कोहेन ने नाइस सम्मेलन की पूर्व सन्ध्या पर सार्वजनिक रूप से आगाह किया था कि यूरोपीय संघ की रक्षा योजनाओं को नाटो से निकटतापूर्वक जोड़ कर नहीं रखा गया तो नाटो 'भग्नावशेष' बन कर रह जाएगा। नीस सम्मेलन की शुरुआत के मौके पर श्री शिराक के निम्नलिखित वक्तव्य से अमेरिकी आशंकाएं मुश्किल से ही शान्त हो सकती हैंः

"अगर यूरोप अपने स्वयं के कारणों से उस मामले में हस्तक्षेप करने की इच्छा रखता है, जिससे अमेरिका संलिप्त नहीं होना चाहेगा, तो उसके पास ऐसा करने के साधन होंगे।"

"यह विचार नाटो को कमजोर करने के लिए नहीं बल्कि उसे मजबूती प्रदान करने के लिए है। इसे नाटो के साथ समन्वय बना कर चलना होगा, अलबत्ता इसके अलावा स्वतंत्र भी रहना होगा।"

नीस सम्मेलन ने सैन्य समितितकरीबन 100 लोगों के सैन्य स्टाफ और राजनीतिक और सुरक्षा समितिको मंजूरी प्रदान की थी।

जब सामान्य और सुरक्षा नीति के लिए यूरोपीय संघ के उच्च प्रतिनिधि जेवियर सोलाना यह कहते हैं कि भावी रैपिड रिएक्शन फोर्स (आरआरएफ) **"यूरोपीय संघ के सैन्यीकरण के लिए उठाया गया कदम नहीं है"** और **"यूरोपीय संघ प्रतिरक्षात्मक गठबन्धन नहीं निर्मित कर रहा है"** तो इस पर किसी को भी रत्ती भर विश्वास नहीं होता। इससे किसी को भी उल्लू नहीं बनाया जा सका, जैसा कि एक विश्लेषक ने कहा है, *"शीत-युद्ध कालीन पुराने और बेकाम रिश्तों को लेकर अन्तिम रूप से घिसी-पिटी कोरी भावुकता"* (फाइनेंशियल टाइम्स, 3 मार्च 2003)। हर कोई जानता है कि श्री सोलाना को वाशिंगटन में केवल इसी रूप में सुना जाएगा कि यूरोप अपने सैनिक वजन को अपनी विदेश नीति को विश्वसनीय सैनिक शक्ति के साथ सहारा देकर दमदार बना सकता है। यूरोपीय संघ वर्तमान समय में सुस्पष्ट कारणों से दोराहे पर खड़ा है। एक तरफ वह कहता है कि इस सेना का निर्माण भारी रणनीतिक महत्व का है, जो कि अभी तक निष्प्रभावी बनी रही उसकी साझी विदेश नीति में दमदार सैनिक शक्ति को जोड़ेगा, दूसरी तरफ यह वचन देता है कि इस सेना से नाटो के ऊपर कोई फर्क नहीं पड़ेगा। आरआरएफ को लेकर यूरोपीय संघ के प्रवक्ताओं द्वारा की जाने वाली समस्त बातें *"अच्छे समय में बोझ साझा करने" की कवायद और "अमेरिका से लेकर यूरोप तक प्रतिरक्षा बोझ को सन्तुलित करने" के औजार हैं।* नाटो के 54 वर्षों के इतिहास में इतनी आडम्बरभरी बोली कभी नहीं बोली गई। किसी को उल्लू बनाना तो दूर यह केवल इस तथ्य को रेखांकित करने का काम करती है कि यूरोपीय संघ के प्रस्ताव जितना प्रकट करते हैं उसके मुकाबले बहुत कुछ छिपाते हैंजिसके लिए वास्तव में वे लाए गए हैं।

कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अमेरिकी प्रशासन के साथ-साथ ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग के अमेरिका समर्थक तबके आरआरएफ के सृजन का विरोध करते हैं। वे इसे बिल्कुल ठीक ही नाटो पर अमेरिकी प्रभुत्व, और अमेरिकी सैन्य टेक्नोलॉजी एवं क्षमताओं पर यूरोपीय निर्भरता के खात्मे और संभवतः नाटो को अशक्त बनाने के लिए तैयार की गई परियोजना के रूप में देखते हैं।

सच तो यह है कि सोवियत संघ के अवसान के समय से ही नाटो यूरोप के लिए कमोबेश अप्रासंगिक हो गया, ठीक उसी तरह जिस प्रकार यूरोप अमेरिका के लिए बहुत कम महत्वपूर्ण हो गया है।

न्यूयार्क और वाशिंगटन में 11 सितम्बर 2001 की घटनाओं के भी पहले रीगन प्रशासन के पूर्व अधिकारी और राष्ट्रीय सुरक्षा प्रश्नों के दक्षिणपंथी विशेषज्ञ रिचर्ड पर्ले ने दुर्लभ किस्म की स्पष्टवादिता के साथ कहा थाः "मैं अपने यूरोपीय सहयोगियों से एक बात कहूँगा। मुक्ति की यह समझ इसलिए बनी है कि उन्हें अब हमारी कोई जरूरत नहीं और दोनों तरफ से बात यही है। हमें अब उनकी उस तरह से जरूरत नहीं जैसी कभी हमें हुआ करती थी। वे अब दुनिया में हमारे हितों की हिफाजत करने के लिए आवश्यक नहीं रह गए हैं।" (12 जून, 2001 का फाइनेंशियल टाइम्स देखें)

अमेरिका पूर्णतया अपने स्वयं के हितों के लिए नाटो को अपने अधीन करने के लिए कटिबद्ध हैऐसा करने के क्रम में वह "इच्छुक देशों का गठबन्धन" कायम करता है, जिसे आज्ञाकारी देशों का गठबन्धन कहा जा सकता है, और उसे दरकिनार कर जाता है। अमेरिका ऐसे गठबन्धन का प्रयोग आरआरएफ के लिए यूरोपीय योजनाओं को विफल करने के लिए कर रहा है। अमेरिका उस वक्त नाटो या किसी दूसरी संस्था का हिस्सा बनने पर खुश होता है जब नेतृत्व और नियंत्रण उसके पास आ सके, लेकिन उन प्रतिबद्धताओं से पिंड छुड़ाने के लिए तत्पर रहता है जो कि कार्रवाई की उसकी आजादी को सीमित करती हैं या चुनौती देती हैंवह अन्तहीन सैनिक और राजनीतिक समितियों द्वारा बान्धे जाने से इनकार कर देता है, उदाहरण के लिए युगोस्लाविया के खिलाफ युद्ध के दौरान उसने ऐसा ही किया था।

फ्रांस, जर्मनी और तमाम यूरोपीय देश जोर देकर कहते हैं कि अगर अमेरिका नाटो को ऐसे टूलबॉक्स की तरह इस्तेमाल करने पर अड़ा रहा, जिसका वह मनमाना इस्तेमाल कर सके, तो वे अपनी तरफ से अपनी सुरक्षा के लिए ढांचे के रूप में इस पर निर्भर नहीं बन सकते। वे अमेरिका की रोक के बगैर प्रमुखता के नये सिद्धान्त के इच्छुक देशोंताबेदार, धौंस खाए हुए, मजबूर किए गए और रिश्वत पाए देशोंद्वारा अमेरिकी नेतृत्व और कमान में लड़े गए हमलावर युद्धों का यूरोपीय संघ की उस साझी विदेश एवं सुरक्षा नीति के द्वारा विरोध करते है, जो कि अमेरिकी उद्देश्यों की विरोधी है। इराक में चारों ओर से घिर चुकी आंग्ल-अमेरिकी कब्जाधारी सेनाओं के लिए संयुक्त राष्ट्र सहायता की हालिया अमेरिकी चीख-पुकार पर फ्रांस और जर्मनी का जवाब था : तथाकथित गठबन्धन को अपना स्वयं का कूड़ा-कबाड़ साफ करने दीजिए, दूसरे देशों को आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद की कार्रवाइयों के लिए संयुक्त राष्ट्र की वैधता की आड़ भला क्यों प्रदान करनी चाहिए।

इसके अलावा अमेरिका का 380 अरब डालर का सालाना सैनिक खर्च है, जो कि उसके जीडीपी का चार प्रतिशत है और नाटो के समस्त यूरोपीय सदस्यों के संयुक्त सैनिक खर्च का दुगुना है। इसके अलावा, नाटो के यूरोपीय सदस्य अपने प्रतिरक्षा व्यय के अनुपात में सैनिक ताकत का इस्तेमाल नहीं कर सकते क्योंकि वर्तमान समय में उनके पास निशाने पर वार करने वाले हथियार, इलेक्ट्रॉनिक युद्धक सामग्री और खुफिया उपकरण, मिसाइल प्रतिरक्षा और सामरिक लिफ्ट सुविधाएं नहीं हैं।

तब फिर कोई आश्चर्य नहीं कि फाइनेंशियल टाइम्स 8 फरवरी, 2002 के अपने सम्पादकीय में टिप्पणी करता है कि "...नाटो की भूमिका और ढांचा उस तरह से सवालों के घेरे में है, जैसे पहले कभी नहीं थी," वह आगे जोड़ता है कि हाल के महीनों में देखने में आया है कि ..."नाटो की प्रासंगिकता खत्म हो रही है और उसके यूरोपीय सदस्यों को अपमान का घूंट पीना पड़ रहा है। 12 सितम्बर को पहली बार उन्होंने नाटो सन्धि के परस्पर आत्मरक्षा के अनुच्छेद को रद्द कर दिया, और ऐसा सिर्फ इसलिए किया कि वाशिंगटन उनके कदम को एकजुटता की प्रतीकात्मक भंगिमा के रूप में ले सके। इसके बाद, गठबन्धन और मास्को के बीच सशक्त पुल निर्मित करने के प्रयासों को अमेरिका द्वारा खतरे में डाल दिया गया।"

यूरोपीय संघ के सदस्य जहाँ सार्वजनिक रूप से सिर ऊंचा करके यह कहते हैं कि **नाटो "अटलांटिक पार के गठबन्धन का केंद्रीय खंभा है"**, वहीं वे नाटो को लेकर अत्यन्त शंकालु बने हुए हैं।

10 मई, 2002 का फाइनेंशियल टाइम्स लिखता है, "ब्रसेल्स में नीति निर्माताओं और कूटनयिकों का मिजाज मुश्किल से ही इतना उखड़ा हुआ होता है। यूरोपीय संघ का चमचमाता मुख्यालय अमेरिकीवाद विरोधी परिचित धाराओं को तेज बहते हुए देखता है। अटलांटिक पार के रिश्तों की स्थिति को लेकर किये जाने वाले वार्तालापों में प्रायः ही हेकड़ी और एकपक्षीयता जैसे उल्लेखों की छौंक-बघार लगी होती है।"

अपने तईं यूरोपीय भी अपनी स्वाधीनता का दावा करने के लिए उतने ही कटिबद्ध हैं। यूरोपीय संघ के विदेश मामलों के आयुक्त क्रिस पैटन और अमेरिकी विदेश मंत्री कोलिन पॉवेल के बीच वाशिंगटन की सैनिक शक्ति और एकपक्षीयता को लेकर हुइ तीखी नोक-झोंक ने बड़ी शिद्दत से इस बात का एहसास करा दिया है कि अमेरिका और यूरोपीय संघ के बीच के रिश्ते परस्पर सन्देह और अविश्वास के एक नए चरण में प्रवेश कर रहे हैं। पिछले सितम्बर के जर्मन आम चुनावों के दौरान पूर्व जर्मन मंत्री हेर्टा डौबलर जेमेलिन ने अमेरिकी राष्ट्रपति बुश की नीतियों की तुलना हिटलर की नीतियों से की। चांसलर श्रोएडर का गठबन्धन उस समय इराक के खिलाफ अमेरिका की युद्ध योजना के विरोध के मुद्दे पर फिर से सत्ता में आया। इस तरह की बातें अभी कुछ वर्ष पहले ही असंभव हुआ करती थीं, जब जर्मन विदेश नीति की चारित्रिक विशेषता अमेरिकी इच्छाओं की पूरी तरह से ताबेदारी करना हुआ करती थी।

नाटो के पहले महासचिव की यह टिप्पणी बड़ी प्रसिद्ध हुई थी कि सैनिक गठबन्धन का सृजन ही रूसियों को बाहर रखने, जर्मनों को नीचा दिखाने और अमेरिकियों को अन्दर लाने के लिए किया गया है। ज्यादा सटीक शब्दों में कहें तो नाटो को एकदम उसकी शुरुआत के समय से और उसके समूचे अस्तित्व काल में सहारा देते रहने का औचित्य इस बात में निहित रहा है कि यूरोपीयों को अगर विभाजित नहीं तो अलग-अलग रखते हुए अमेरिकी प्रभुत्व बरकरार रखा जाए। यूरोपीय एकीकरण के लिए किसी भी तरह का अमेरिकी समर्थन हमेशा ही इस शर्त से बँधा हुआ था कि वह नाटो के ढांचे के भीतर स्थान ग्रहण करेगा, जिसमें अमेरिका प्रभावी बना हुआ था। अमेरिका कभी भी यह नहीं चाहता था कि उसे यूरोप का उद्भव देखना पड़े, एक ऐसा यूरोप जो कि आर्थिक और सैनिक रूप से उसकी टक्कर का हो। इसकी वजह यह थी कि इस तरह का यूरोप अपने अधिकार का अमेरिकी हितों को नुकसान पहुँचाने वाले ढंग से प्रयोग कर सकता था।

यह व्यवस्था उस समय काम करती रही जबकि यूरोप के विभिन्न

साम्राज्यवादी देश (और इस लिहाज से जापान) आर्थिक रूप से कमजोर थे और यह सोवियत संघ की मौजूदगी ही थी जो कि उन्हें अमेरिकी संरक्षण हासिल करने को बाध्य करती थी। यूरोप (और जापान) की आर्थिक शक्ति में वृद्धि, भूतपूर्व सोवियत संघ के अवसान और अमेरिका के सापेक्षिक पराभव के साथ अमेरिकी प्रभुत्व के लिए दशाएं तेजी से गायब होती जा रही हैं। नाटो के इर्द-गिर्द साम्राज्यवादी खेमे का पहले का साहचर्य त्वरित विघटन का मार्ग प्रशस्त कर रहा है।

इराक के खिलाफ आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवादी युद्ध को आगे बढ़ाने वाली घटनाएं नाटो के विघटन को तेज करने का ही काम कर रही हैं। हालांकि यह कारण नहीं है फिर भी इराक-युद्ध एक तरफ अमेरिका और ब्रिटेन के बीच और दूसरी तरफ यूरोपीय संघ के तमाम देशों विशेषकर जर्मनी और फ्रांस के बीच कूटनयिक दरार के लिए अवसर और बहाना बना। दो साम्राज्यवादी गुटों के भिन्न-भिन्न हितों ने उन्हें एक-दूसरे से उलट अवस्थितियाँ अपनाने के लिए बाध्य किया, और इसका यह कारण बिल्कुल भी नहीं था कि कोई सैद्धान्तिक मसला आड़े आ रहा था या फिर इन गुटों में से किसी के मन में शान्ति, लोकतंत्र और स्वतंत्रता के प्रति प्रेम उमड़ आया था। इसका परिणाम यह निकला कि नाटो अगर स्वरूप में नहीं तो अन्तर्वस्तु में जरूर विघटन के कगार पर पहुँच गया।

इराक को लेकर इन दो साम्राज्यवादी खेमों के बीच की नोक-झोंक इस बात का अकाट्य सबूत प्रदान करती है कि यूरोपीय और अमेरिकी सुरक्षा अब अविभाज्य नहीं रह गई है, जैसी कि वह सोवियत संघ के विघटन से पहले थी। दमदार और प्रतिष्ठित बुर्जुआ टिप्पणीकार अब नाटो गंठजोड़ को पुनर्जीवित करने की शर्तों पर सोच-विचार नहीं करते, सिर्फ नुकसान कम होने देने के लिहाज सेइस छोड़ी जा चुकी आशा पर मनन करते हुए विचार करते हैं कि नाटो का खात्मा विद्वेषपूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद के बजाय सौहार्दपूर्ण जुदाई का रूप धारण करेगा। इसमें कोई शक नहीं कि भ्रमों के ये व्यापारी यह 'भूल' जाते हैं कि वर्तमान समय की अमेरिकी नीति, अतिउत्पादन के भीषण और असाध्य साम्राज्यवादी संकट से परिचालित नीति के मार्गदर्शक सिद्धान्त ने वाशिंगटन को न केवल दुनिया के उत्पीड़ित लोगों और राष्ट्रों के साथ बल्कि अपनी प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादी शक्तियों, विशेषकर यूरोप के साथ भी टकराव के रास्ते पर आगे बढ़ा दिया है।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों द्वारा अपनायी गई निरंकुश, हेकड़ीबाज और सर्वथा असभ्य पहुँच ने, बाकी दुनिया को एक सिरे से नतमस्तक होने के लिए बाध्य करने से बहुत दूर, महज यूरोप की ओर से असन्तोष, प्रतिरोध और विरोध को जन्म दिया है। 13 अगस्त 2003 के फाइनेंशियल टाइम्स में लिखते हुए वाशिंगटन के चाटो इंस्टीट्यूट के विदेश नीति अध्ययन के विजिटिंग फेलो और *कैजुअलिटीज आफ वार* के लेखक क्रिस्टोफर लायने बुश प्रशासन के इस विश्वास का खंडन करते हैं कि अमेरिकी वर्चस्व अन्तरराष्ट्रीय जीवन का निर्विवाद तथ्य है। श्री लायने कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है क्योंकि यह प्रतिरोध को जन्म दे रही है। वह आगे कहते हैं, अगर ऐसा घटित होता है तो बुश प्रशासन को ***बगदाद को मुक्त कराने के लिए नहीं बल्कि अमेरिकी शक्ति के प्रति अन्तरराष्ट्रीय विरोध को संवेग प्रदान करने के लिए याद किया जाएगा।*** *श्री बुश की इराक के ऊपर स्वघोषित 'विजय' 1945 के बाद के अन्तरराष्ट्रीय सुरक्षा ढांचे के स्तंभों को तहस-नहस करने वाली साबित हो सकती हैः इसने अटलांटिक-पार के तीखे सम्बन्ध विच्छेद का मार्ग प्रशस्त किया है, यूरोपीय राजनीतिक एकता को निर्णायक बल प्रदान किया है, और अमेरिका के वैश्विक चौधराहट युग की समाप्ति की शुरुआत को चिह्नित किया है।*

बुर्जुआ विश्लेषकों ने उन शक्तियों के बारे में जो कि पहले के साम्राज्यवादी सहयोगियों के बीच के रिश्तों को टूटने के बिन्दु तक खींच लाई थीं, पूरी तरह से समझदारी कायम करने में सफल नहीं होने पर इस बात को भाँपते हुए कि कुछ न कुछ गंभीर रूप से गलत हो गया है, पहले से चेतावनी देने वाली यह राय जाहिर की कि अगर वाशिंगटन मर्यादित व्यवहार करना नहीं सीख पाता और बहुपक्षीयता एवं सहभागिता के सद्गुणों की फिर से खोज नहीं करता तो अनमने सहयोगी खुल्लम-खुल्ला विरोधी बन जाएंगे। इस तथ्य के प्रति पूर्णतया सचेत रहते हुए कि अटलांटिक गठबन्धन इस समय बगदाद के मलबे के नीचे पड़ा हुआ है, लेकिन साम्राज्यवादी गुटों को अलग-थलग करती परिघटना के वास्तविक महत्व को समझ पाने में असफल रहते हुए ये टिप्पणीकार हताश होकर अपने भ्रमों से चिपके हुए हैं, इस आशय के पवित्र धर्मोपदेशों को बड़बड़ा रहे हैं कि गठबन्धन की मृत्यु का एहसास बहुत संभव है कि अमेरिकी नेताओं को उनके रणनीतिक 'गलत कदमों' के प्रति सचेत बना कर ज्यादा परिपक्व और सन्तुलित अलांटिक रिश्ते के लिए आधार तैयार करे और यूरोपीय संघ के उन सदस्यों पर दबाव डालकर, जो कि स्वयं ही इराक युद्ध को लेकर बुरी तरह से विभाजित थे, ज्यादा गहरी एकता की फौरी जरूरत का एहसास कराये और इस प्रकार यूरोपीय संघ को बदलकर अमेरिका का प्रभावी और सम्मानित सहभागी बना दे।

बहरहाल, इस एक बात पर सभी की सहमति बनती है कि अटलांटिक गठबन्धन का डूबना तय है और जहाँ तक बात ऐसी है अटलांटिकवादी यूरोप अब विकल्प नहीं रह गया है। फ्रांस और जर्मनी का पूँजीपति वर्ग इसको पूरी तरह से महसूस करता है, यह कि पोलैंड और रम्सफेल्ड के 'नये यूरोप' के अन्य सदस्य भी ऐसा ही महसूस करने लगेंगे क्यांकि वे बहुत देर तक वास्तविकता की अनेदखी नहीं कर सकते। उनके पास इसके सिवाय और कोई विकल्प नहीं कि वे वाशिंगटन के यूरोपीय संघ की राजनीतिक एकता को बाधित करने और उसके सदस्यों के बीच फूट पैदा करने के विकट प्रयत्नों के बावजूद शक्तिशाली यूरोपीय संघ का विकल्प चुनें।

इराक युद्ध ने यूरोपीय पूँजीपति वर्ग को अपनी आर्थिक ताकत को सैनिक शक्ति से सहारा देने के लिए उत्प्रेरित कर दिया है। हमारी आंखों के ठीक सामने अमेरिका के प्रति-सन्तुलन के रूप में फ्रैंको-जर्मन धुरी का उदय हो रहा है। दरअसल, उस समय जबकि अमेरिकी राष्ट्रपति बुश द्वारा इराक युद्ध की घोषणा की जाने वाली थी, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम और लक्जमबर्ग ने अप्रैल के आखिर में वाशिंगटन को मुंह चिढ़ाते हुए स्वतंत्र यूरोपीय संघ प्रतिरक्षा क्षमता की आधारशिला रखने के लिए ब्रसेल्स में बैठक आयोजित की। जहाँ लक्जमबर्ग के प्रधानमंत्री क्लाद जुंकर ने जनता को ध्यान में रखकर जोर देकर कहा कि उनका लघु सम्मेलन "किसी भी तरह से अमेरिकियों के विरुद्ध नहीं है," वहीं फ्रांसीसी राष्ट्रपति जाक शिराक ने इस बात में तनिक भी सन्देह बाकी नहीं रहने दिया कि इस कवायद के पीछे दो-टूक और स्पष्ट उद्देश्य नाटो से स्वतंत्र और उसके प्रतिद्वंद्वी के रूप में शक्तिशाली यूरोपीय सैन्य खेमे की स्थापना

के जरिये बहुध्रुवीय अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था की रचना करना है। इसी तरह के विचार यूरोप पर कन्वेंशन के मसौदा संविधान में भी प्रतिष्ठापित किये गये हैं, जो कि **"ऐसी परस्पर सुरक्षा, जो कि संघ के सभी सदस्यों के लिए खुली होगी, के प्रति प्रतिबद्धता"** को सृजित करने के उपाय के तौर पर सदस्य देशों के समूहों के लिए सैनिक तौर पर सहयोग का प्रावधान करती है।

यहाँ तक कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी लेबर सरकार के लिए भी, जो कि इराक पर हमले में अमेरिका का सहयोगी है और जिसने, अमेरिका के साथ-साथ 'पुराने' और 'नये' यूरोप की तर्ज पर यूरोपीय संघ में दरार डालने के लिए कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी, इराक युद्ध वह आखिरी मौका साबित हो सकता है जबकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अमेरिका का साथ दिया हो। ब्रिटिश सत्तारूढ़ वर्ग सुस्पष्ट विकल्प का सामना कर रहा हैः या तो अमेरिकी साम्राज्यवाद के आगे मुकम्मल ताबेदारी के रिश्ते को स्वीकार करे या फिर अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति-सन्तुलन के रूप में ताकत की यूरोपीय धुरी का निर्माण करने में जर्मनी और फ्रांस के साथ लगभग-बराबर की भूमिका निभाये। संभावना के आधार पर कहा जा सकता है कि ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग अपने खुद के साम्राज्यवादी हितों को साकार करने के लिए उपकरण के तौर पर यूरोपीय संघ खेमे का वरण करे। इराक युद्ध शुरू होने के महज हफ्ते भर पहले लिखते हुए पूरी तरह से प्रतिक्रियावादी लेकिन चतुर टिप्पणीकार और विश्लेषक मार्टिन वुल्फ ने कहा था, *"...श्री ब्लेयर की रणनीति के फलस्वरूप यूरोपीय एकता असल में उससे ज्यादा निकट हो सकती है जितना कि बहुत से लोगों को लगता है। ब्रिटेन अब अमेरिका और यूरोप के बीच एक पुल के रूप में नहीं रह गया है, बल्कि अब वह श्री ब्लेयर की पसन्द के चलते अमेरिकी लक्ष्य से बँध गया है। अगर उनकी स्वयं की पार्टी के बड़े हिस्से और देश की इच्छाओं के खिलाफ लिए गए इस फैसले को घोर विपत्ति लाने वाले फैसले के रूप में देखा जाता है तो ब्रिटेन की स्वयं को अमेरिका के साथ पंक्तिबद्ध करने की दूरगामी नीति विभंजन बिन्दु तक पहुंचने का इन्तजार कर रही होगी। इसका एक नतीजा श्री ब्लेयर के कैरियर की समाप्ति हो सकता है। दूसरा नतीजा ब्रिटिश अभिजन वर्ग (अर्थात ब्रिटिश सत्तारूढ़ वर्ग) का यह फैसला हो सकता है कि सुरक्षा अब बराबर जवाब देने वाले गठबन्धन के साथ होने में निहित है। जो कि, बदले में यूरोप की क्षमता और स्वतंत्र नीति का अनुसरण करने की उसकी इच्छा को बहुत अधिक बढ़ा देगी, इससे बनने वाली दुनिया को बहुत संभव है कि अमेरिका पसन्द न करे।"* (फाइनेंशियल टाइम्स, 12 मार्च, 2003)

श्री वुल्फ की उपर्युक्त टिप्पणी काफी विचारपूर्ण और दमखम वाली है। आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवादी ताकतों के इराकी प्रतिरोध योद्धाओं की ओर से होने वाले हर दिन के घातक हमले का निशाना बनने के साथ इराक के खिलाफ युद्ध बढ़ते पैमाने पर घोर विपत्ति का रूप धारण करता जा रहा है और इस तरह से एकमात्र संभावना बनती है कि यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विदेश नीति की आधारशिला में मूलभूत परिवर्तन और पुनःपंक्तिबद्धता के लिए कारण प्रदान करे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विदेश नीति अमेरिका के साथ उसका करीबी गठबन्धन और उसकी जी-हुजूरी रही हैइस नीति पर वह अगर द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के समय से नहीं तो 1956 के स्वेज संकट के समय से अवश्य ही जोरशोर से चलता रहा है।

अमेरिका और यूरोपीय संघ के बीच का विवाद सिर्फ नाटो पर केन्द्रित नहीं है। वह गंभीर मुद्दों की समूची श्रृंखला को अपने में समाहित किए हुए हैग्लोबल वार्मिंग पर क्योटो समझौते की अमेरिका की एकपक्षीय नामंजूरी से लेकर जैविक हथियारों पर मसौदा समझौते की उसकी नामंजूरी, व्यापक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के साथ-साथ बारूदी सुरंग सन्धि पर हस्ताक्षर करने से उसका इन्कार, अन्तरराष्ट्रीय फौजदारी अदालत के एनएमडी को लेकर आगे बढ़ने के निश्चय को उसकी नामंजूरी, मध्य-पूर्व की स्थिति, अमेरिकी प्रशासन का "बुराई की धुरी"उत्तर कोरिया, ईरान और इराकको पराजित करने के बारे में शब्दाडम्बर, यूरोपीय संघ की भ्रूण रूप में पल रही सुरक्षा महत्वाकांक्षाए, जिन्हें सिर्फ सहन ही नहीं किया जा रहा बल्कि जोरदार स्वागत भी हो रहा है और जिनका वाशिंगटन की तरफ से तीखा विरोध हो रहा है, और अमेरिकी व्यापार नीति में बढ़ते व्यापार संरक्षणवाद तक के मुद्दे। इसके बाद ईरान-लीबिया प्रतिबन्ध अधिनियम और हेल्म्स-बर्टन अधिनियम की तरह के अमेरिका के ऐसे घरेलू नियम-विधान हैं, जो कि लीबिया और क्यूबा में निवेश करने वाली विदेशी कम्पनियों को दंडित करने के प्रावधान के द्वारा यूरोप और जापान से बैर मोल लेते हैं। यूरोपीय और जापानी कम्पनियाँ बढ़ते पैमाने पर इन देशों में निवेश कर रही हैं और इस क्रम में वे अमेरिका की खुली अवहेलना कर रही हैं और उन अमेरिकी निगमों के सन्ताप का कारण बन रही हैं, जिन्हें इसके फलस्वरूप अकेले 1995 में ही 20 अरब डालर का घाटा उठाना पड़ा था। (27 मार्च, 1998 के फाइनेंशियल टाइम्स का सम्पादकीय देखें)

इसके बाद आती है, अमेरिका के दर्जन भर दूसरे देशों के समर्थन से डब्ल्यूटीओ के भीतर आनुवांशिक रूप से संशोधित (जीएम) फसलों पर यूरोपीय संघ की रोक के खिलाफ कार्यवाही शुरू करने के साथ जीएम फसलों को लेकर खुले संघर्ष की गहराती आशंकाजो कि वैरभाव उत्पन्न करने, यूरोप में अमेरिका विरोधी भावना को भड़काने और अमेरिका और यूरोपीय संघ के बीच के रिश्ते के और अधिक बिगड़ने का कारण बनने के लिए अभिशप्त है और इसके फलस्वरूप तुर्की-ब-तुर्की जवाबी हमले का चक्र शुरू हो जाएगा।

इसमें बोइंग और केटरपिलर जैसे बड़े अमेरिकी विनिर्माताओं को लाभ पहुँचाने वाले कर मुक्ति (टैक्स ब्रेक)विदेशी बिक्री निगम योजनाके खिलाफ डब्ल्यूटीओ की व्यवस्था और लगभग 1,800 अमेरिकी वस्तुओं को प्रभावित करने वाले चार अरब डालर मूल्य के यूरोपीय संघ के उन प्रतिबन्धों को जोड़ लीजिए जो कि अमेरिकी निर्यातकों को नुकसान पहुँचा सकते हैं। इस समय अमेरिका के ऊपर डब्ल्यूटीओ की छह अलग-अलग व्यवस्थाओं को भंग करने का आरोप है।

इस बात पर गौर करते हुए कि प्रमुख शक्तियों के बीच आर्थिक युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध के बहुत पहले ही शुरू हो गया था, मतलब ताड़ लेने वाले बुर्जुआ विश्लेषक बढ़ते पैमाने पर संरक्षणवाद का सहारा लेने पर टिप्पणी कर रहे हैं। बहुपक्षीय व्यापार उदारतावाद धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से खतरे में पड़ने जा रहा है। दोहा चक्र की व्यापार वार्ताएं कृषि को दी जाने वाली सब्सिडियों के मसले पर और इसके पहले की वार्ताएं भी दवाओं और विकासशील देशों के लिए व्यापार की शर्तों पर गतिरोध के कारण टूट गयी थीं। इन घटनाक्रमों से हताश होकर फिलिप स्टीफेंस ने **4 अप्रैल, 2002 के एफटी** में लिखा कि वह

ऊपरी ढांचा जिस पर **"प्रभावी बहुपक्षीय प्रबन्धन"** अन्ततः निर्भर करता था, बुश प्रशासन द्वारा विघटित किया जा रहा है। श्री स्टीफेंस विलाप करते हुए कहते हैं कि प्रमुख शक्तियों के बीच का आत्मविश्वास, जो कि व्यापार और पूँजी प्रवाहों के लिए इतने निर्णायक महत्व का है, नष्ट होता जा रहा है, क्योंकि हम *"अब ऐसी दुनिया में रहते हैं जहाँ पर अमेरिका के राष्ट्रपति जर्मनी और फ्रांस के अपने समकक्षियों का फोन सुनना भी गवारा नहीं करेंगे।"* वह आगे लिखते हैं, *"इसे दूसरे ढंग से भी देखें, हमें एक बार पुनः याद दिलाया गया है कि अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के चलायमान हिस्से को साझी महत्वाकांक्षा और विश्वास की चिकनाहट की लगातार जरूरत होती है। एटलांटिक के उस पार अमेरिकियों और यूरोपीयों को एक-दूसरे के ऊपर चिल्लाते हुए सुनकर मेरे मन में यह आशंका घर कर जाती है कि कहीं हम व्यवस्था की चालक शक्तियों के महाविनाश की ओर तो नहीं बढ़ रहे हैं। विश्व अर्थव्यवस्था 1970 के दशक से पहले ही एक ही समय में घटित होने वाले पहले उतार का सामना कर रही है। अमेरिकी विदेश नीति के एकला चलो के सिद्धान्त के कारण उत्पन्न होने वाली अनिश्चितता उसे मन्दी में डुबो सकती है।"*

आखिरी वाक्य से यह स्पष्ट है कि कमोबेश सभी बुर्जुआ लेखकों की तरह श्री स्टीफेंस चीजों को बेतरतीबी के साथ देखते हैं। अति उत्पादन के संकट और इसके फलस्वरूप पैदा होने वाली मन्दी के व्यापार और दूसरे संघर्षों को जन्म देने की बजाय दूसरी वाली बात को पहली वाली बात के कारण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जो भी हो, श्री स्टीफेंस अपनी इस टिप्पणी में पूरी तरह दुरुस्त हैं कि *"हम व्यवस्था की चालक शक्तियों के महाविनाश की ओर बढ़ रहे हैं"*अग्रणी साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच आने वाले समय में सर्वाधिक डरावने व्यापार युद्ध और टकराव के लिए आश्चर्यजनक सुभाषित।

मानो यह सब काफी न हो, यूरोपीय संघ ने एकपक्षीय तौर पर लोकतांत्रिक कांगो गणराज्य में चल रहे संघर्ष में नाटो को शामिल किए बगैर हस्तक्षेप करने का फैसला किया। 15 जुलाई, 2003 के एफटी के मुताबिक *"... वाशिंगटन को सन्देह है कि फ्रांस ने ही अमेरिकी प्रभाव से मुक्त होकर दुनिया में उलझ पड़ने के लिए यूरोपीय संघ को आगे बढ़ाया।"* इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि यूरोपीय संघ खनिज समृद्ध कांगो को लेकर अमेरिका के साथ गंभीरतापूर्वक संघर्ष कर रहा है, जबकि बाल्कन के क्षेत्र में अपनी पकड़ को मज़बूत बनाता जा रहा है जहाँ पर नाटो के नेतृत्व वाली कोसोवो में 25 हजार और बोस्निया में 12 हजार सेनाओं में से उसके हिस्से की सेनाएं 80 प्रतिशत हैं। इन घटनाक्रम से चिन्तित अमेरिका ने 3 जून, 2003 को अगले वर्ष बोस्निया में 'शान्ति बहाली' की कमान अपने हाथ में लेने की यूरोपीय संघ की योजनाओं पर रोक लगा दी। अमेरिका ने बहाने के तौर पर सुरक्षा कारणों और युद्ध अपराधियों के साथ चल रही समस्याओं का उल्लेख किया।

इस सब के पीछे विश्व की अग्रणी मुद्रा की स्थिति के लिए यूरो और डालर के बीच सर्वाधिक तीखा संघर्ष चल रहा है, जिस पर कमोबेश गौर नहीं किया गया। यह ऐसा संघर्ष है जो कि चाय की मेज पर सौहार्दपूर्ण तरीके से हल होने वाला नहीं है। अन्तिम विश्लेषण में इस तरह के मामले ताकत के द्वारा हल किये जाते हैं, ठीक यही वजह है कि यूरोपीय संघ अपना खुद का सैन्य-औद्योगिक कांप्लेक्स बनाने में व्यस्त है।

यूरोपीय संघ के सैन्य-औद्योगिक कांप्लेक्स का निर्माण

अमेरिकी धौंसपट्टी और दबंगई को देखते हुए यूरोपीय संघ यूरोपीय पूँजीपति वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाने, अमेरिका पर उसकी निर्भरता को कम करने और साम्राज्यवादी संकट से प्रेरित साम्राज्यवादी खेमों के बीच के आसन्न गलाकाटू संघर्ष के लिए अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के उद्देश्य से तरह-तरह के उपाय कर रहा है।

युद्ध सामग्री के क्षेत्र में, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अमेरिका ने पिछले दशक के दौरान विलयों की श्रृंखला के जरिये तीन दैत्याकार युद्ध सामग्री विनिर्माताओंबोइंग, लाकहीड मार्टिन और रेथेऑन का निर्माण किया है, यूरोप ने भी अपनी ओर से पिछले पांच वर्षों के दौरान युक्ति संगतिकरण (Rationalisation) के जरिये दो भीमकाय प्रतिरक्षा निगमोंब्रिटेन में बीएई सिस्टम्स और यूरोप में ईएडीएस का निर्माण किया है। इनमें से दूसरे वाले निगम का निर्माण जर्मन कंपनी दासा, स्पेनिश कंपनी कासा और फ्रांसीसी कंपनी एरो स्पेटिएल के विलय के जरिये किया गया। युद्ध-सामग्री तैयार करने वाले इन पांच इजारेदार निगमों में से प्रत्येक का राजस्व 56 अरब डालर से अधिक है। बीएई और ईएडीएस अपने अमेरिकी समकक्षियों के साथ होड़ करने की स्थिति में हैं, और अगर उनका विलय हो जाता है, जिसकी संभावना पूरी-पूरी है, तो वे अपने अमेरिकी प्रतिद्वंद्वियों को तगड़ी चुनौती देने की स्थिति में हो जाएंगे। वे एयरबस में पहले से ही साझीदार हैं (ईएडीएसका स्वामित्व 80 प्रतिशत और बीएई का 20 प्रतिशत है) और एक-दूसरे के साथ कई महत्वपूर्ण नागरिक एवं सैनिक परियोजनाओं में सहयोग करते हैं। ईएडीएस के पास 13 हजार कर्मचारी हैं और यह ब्रिटेन की तीसरी सबसे बड़ी कम्पनी है।

लॉकहीड मार्टिन के नए सी-13 जे हर्कुलिस और बोइंग के ज्यादा बड़े और ज्यादा महंगे ट्रांसपोर्टर सी-17 के जवाब में एयरबस कंसोर्टिअम ए400एम ट्रांसपोर्टर का निर्माण कर रहा है। रेथेआन-निर्मित अत्याधुनिक मध्यम दूरी की हवा से हवा में मार करने वाली मिसाइल, जिसे आरएएफ समेत 23 वायुसेनाओं ने खरीदा है, के जवाब में मीटिअर कंसोर्टिअम अपनी स्वयं की मिसाइल विकसित कर रहा है। इस सबसे बढ़कर, ब्रिटिश सरकार ने, जो कि आम तौर पर सर्वाधिक यूरो-शंकालु और सर्वाधिक अमेरिका-हितैषी मानी जाती है, संसद में 16 मई, 2000 को प्रतिरक्षा मंत्री जेआफ हून के बयान के जरिये यूरोपीय मीटिअर मिसाइलों के साथ यूरोपीय कंसोर्टिअम द्वारा विकसित किये जा रहे यूरो फाइटर को सुसज्जित करने के लिए पांच अरब पाउंड मूल्य के पैकेज की घोषणा कीयह सब पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन और उनके रक्षा मंत्री विलियम कोहेन, जो कि ब्रिटेन को रेथेआन (त्मजीमवद) मिसाइल खरीदने के लिए राजी करने की कोशिश कर रहे थे और सौदे को सिरे चढ़ाने के लिए हर तरह के प्रलोभनों की पेशकश कर रहे थे, की ओर से पड़ रहे दबाव के बावजूद किया गया।

उल्लेखनीय तौर पर, ब्रिटिश सरकार के फैसले को गति देने के लिए मीटिअर कंसोर्टिअम ने कई विज्ञापन जारी किये। सरकार के फैसले को प्रभावित करने के उद्देश्य से जारी किये गए विज्ञापनों में से एक में विमान चालक को इस कैप्शन के साथ दिखाया गया था: *"उसने फॉकलैंड्स, कुवेत और कोसोवो के लिए अपनी जान को जोखिम में डाला। वह आखिरी चीज जिसकी उसे जरूरत है वह है एरिजोना का खतरा।"*

सन्देश साफ था : यह कि टुकसन, एरिजोना में बनी रेथेआन मिसाइलों से लैस यूरोफाइटर का लड़ाई में मीटिअर से कोई जोड़ नहीं है। हथियार उद्योग में इस तरह के कथन मुश्किल से ही पाए जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि नागरिक विमानों के निर्माता सामान्यतया अपने प्रतिद्वंद्वियों के विमान की सुरक्षा पर इस डर से सवाल नहीं खड़ा करते कि जनता की नजर में उद्योग की विश्वसनीयता ही सन्दिग्ध न हो जाए।

यूरोप अपने स्वयं के तीन लड़ाकू विमान बना रहा है। यूरोफाइटर के अतिरिक्त स्वीडिश ग्रिपेन और फ्रांसीसी राफेल बनाये जा रहे हैं। इस विश्वास के सबसे ऊपर होने के चलते कि यूरोपीय विमान यूरोपीय मिसाइल से लैस होने चाहिए, यह चिन्ता घर कर गई है कि अमेरिकी मिसाइलों पर निर्भरता यूरोफाइटर के लिए निर्यात की संभावना को खत्म कर सकती है। लिहाजा, यूरोफाइटर को मीटिअर से लैस करने का फैसला किया गया।

नाटो से स्वतंत्र शक्ति खड़ा करने के यूरोपीय संघ के प्रयासों से अमेरिका इस कदर चिन्तित हो गया है कि उसने यूरोपीय संघ की आरआरएफ का मुकाबला करने के लिए नाटो रिएक्शन फोर्स (एनआरएफ) कही जाने वाली अपने स्वयं की प्रतियोजनाओं का मसौदा तैयार किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य यह है कि दूसरी वाली को दुनिया में शान्ति बनाए रखने के कर्तव्यों को पूरा करने के लिए मुक्त कर दिया जाए। यह प्रस्ताव अमेरिका द्वारा नाटो के नवम्बर 2002 के सम्मेलन में आगे बढ़ाया गया।

इस प्रकार यह पूरी तरह स्पष्ट है कि यूरोपीय संघ में समूहबद्ध यूरोपीय पूँजीपति वर्ग आपूर्ति को सरल और कारगर बनाने और अपने प्रतिरक्षा उद्योग के व्यापक पुनर्गठन के जरिये अमेरिकी तोड़ का दुर्जेय औद्योगिक सैनिक कांप्लेक्स बनाने में व्यस्त है। इसके अलावा वह अपनी सशस्त्र सेनाओं को आधुनिक बनाने में, उन्हें निशाने पर वार करने वाले हथियारों से लैस करने में, उन्हें आसानी से तैनात करने योग्य बनाने में और उन कमजोरियों को दूर करने में व्यस्त है, जिनसे वह कोसोवो युद्ध के दौरान बड़े कष्टप्रद ढंग से अवगत हुआ था। दूसरे शब्दों में वह अपनी साझी सुरक्षा और विदेश नीति को उस सक्षम प्रतिरक्षा उद्योग और नई टेक्नोलॉजी से सहारा देकर प्रभावी बनाने में व्यस्त है। इराक को लेकर यूरोपीय संघ में पड़ी फूट के कारण उत्पन्न हुए अस्थायी झटकों के बावजूद विकास के इस क्रम का जारी रहना तय है।

अन्य क्षेत्रों में तीखी प्रतियोगिता

सैनिक क्षेत्र की इस गतिविधि के समानान्तर यूरोपीय संघ प्रत्येक दूसरे क्षेत्र में दुर्द्धर्ष लड़ाई छेड़े हुए है और अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती दे रहा है। यूरोपीय संघ की एयरबस अमेरिका की बोइंग के साथ 65 अरब डालर (45 अरब पाउंड) के सालाना वैश्विक सिविलियन जेट लाइनर बाजार के नेतृत्व के लिए भयंकर लड़ाई में उलझी हुई है।

मार्च 2002 के आखिर में यूरोपीय संघ ने अमेरिका की ओर से होने वाले विरोध के बावजूद अपनी गैलीलियो उपग्रह नौसंचालन (नेवीगेशन) प्रणाली के विकास के साथ आगे बढ़ने का फैसला किया। यूरोपीय संघ की प्रणाली, जो कि पेंटागन की ग्लोबल पोजीशनिंग सिस्टम (जीपीएस) के साथ होड़ करेगी, का उद्देश्य अंटार्कटिका से लेकर उत्तरी ध्रुव तक पृथ्वी पर 10 मीटर के भीतर की वस्तुओं के बारे में ठीक-ठीक ब्यौरा देना है, और यह अमेरिकी प्रणाली से स्वतंत्रता को सुनिश्चित करेगी। चूंकि इस प्रणाली की वाणिज्यिक और सैनिक दोनों तरह की उपयोगिता है इसलिए यूरोपीय संघ उस अमेरिकी सेना की सदिच्छा पर निर्भर रहने की इच्छा नहीं रखता, जिसने पहले खाड़ी युद्ध के दौरान जीपीएस सेवा स्थगित कर दी थी। फ्रांस के राष्ट्रपति शिराक ने खुले शब्दों में यह कहा था कि गैलीलियो के बिना यूरोप अमेरिका की प्रजा बना रहेगा। यूरोपीय संघ की उस बैठक की अध्यक्षता करने वाले मंत्री फ्रांसिस्को अल्वारेज-कासकोस, जिसमें अपनी स्वयं की उपग्रह प्रणाली के साथ आगे बढ़ने का फैसला किया गया, ने कहा, *"वास्तव में मुद्दे की बात यह नहीं कि यह नागरिक परियोजना है या फिर सैनिक, अलबत्ता यह है कि क्या यूरोप पूरी तरह सम्प्रभु बनने जा रहा है या वह 35 करोड़ उपभोक्ताओं वाला अधीनस्थ बाजार बन जाएगा,"* वह आगे जोड़ते हैं कि स्वयं की प्रतिरक्षा करने को लेकर यूरोप के मन में **कोई ग्रंथि नहीं है**। (23 मार्च, 2002 का एफटी देखें)। दूसरी तरफ अमेरिका ने यह चिन्ता जाहिर की है कि यूरोपीय परियोजना *"नाटो गठबन्धन के लिए गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत कर सकती है।"*

अमेरिकी एकपक्षीयता और अफगान युद्ध के संयोजन ने प्रिडेटर टोही विमान योजनाओं, स्मार्ट मिसाइलों और जमीन पर स्थित विशेष बलसब के सब सैटेलाइट टेक्नोलॉजी का प्रयोग कर रहे थेके अन्तर सम्बन्धित संकुल (complex) के जरिये इस बात के चौंकाने वाले सबूत मुहैया कराये कि अन्तरिक्ष कायदे से और सच्चे अर्थों में पूर्ण विकसित हो गया है। भारी महत्व के इस सबक को सीखने से यूरोपीय भला कब चूकने वाले थे, उन्होंने महसूस किया कि चूंकि यह टेक्नोलॉजी बहुत काम की है इसलिए उन्हें अवश्य ही उस तक स्वतंत्र रूप से पहुँच बनानी होगी। और जिस एकमात्र ढंग से वे इसे हासिल कर सकते थे वह था अपने संसाधनों को एकजुट करना क्योंकि कोई भी इकलौता यूरोपीय देश अपने बलबूते अन्तरिक्ष टेक्नोलॉजी के लिए पैसा नहीं खर्च कर सकता था। इसके प्रकट सैनिक उपयोगों के अलावा यह टेक्नोलॉजी शीघ्र ही हवाई यातायात नियंत्रण, सड़क जाम प्रबन्धन, ट्रेनों और रोलिंग स्टॉक की ट्रैकिंग, समुद्री मार्गों और खुले समुद्रों में जहाजों की आवाजाही की निगरानी के लिए निर्णायक महत्व की हो जाएगी, या यह कहना शायद ठीक रहेगा कि पहले ही महत्वपूर्ण हो गई है।

इस टेक्नोलॉजी की जबर्दस्त संभावना ही ऐसी है कि अमेरिका ने इस क्षेत्र में सभी प्रतिद्वंद्वियों को खत्म करने के लिए हरचन्द कोशिश की। इसी लक्ष्य को हासिल करने के क्रम में 1996 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने अमेरिकी सिस्टम से किसी को भी रेडियो सिग्नल निशुल्क उपलब्ध कराने का निर्णय लिया, इस प्रकार दूसरे किसी के लिए भी, खासकर यूरोपीय संघ के लिए प्रतिद्वंद्वी नेटवर्क, सृजित करने को जाहिरा तौर पर निरर्थक बना दिया। यूरोपीय मूर्ख नहीं थे, क्योकि अगर जीपीएस को एकमात्र नेटवर्क बने रहने दिया जाता तो हरेक वैश्विक पोजीशनिंग केवल अमेरिका द्वारा ही प्रभावी बनाई जा सकती थी। और इसका परिणाम यह होता कि मिसाल के लिए अगर अमेरिका यूरोपीयों द्वारा की जाने वाली सैनिक या नागरिक विमान बिक्री को अवरुद्ध करना चाहता तो उसे बस यह करना पड़ता कि विमान की पोजिशनिंग सिस्टम में जीपीएस एविओनिक्स के प्रयोग की मनाही कर देता। यूरोपीय और अन्य देशों के लिए यह आर्थिक,

सुरक्षा और टेक्नोलॉजिकीय दासता के अधीन आ जाने के बराबर होता, कोई आश्चर्य नहीं कि इसे स्वीकार करने के लिए यूरोपीय संघ तैयार नहीं है।

रॉकेट लांचिंग की उन सुविधाओं, जिन्हें यूरोप ने फ्रेंच गुयाना में स्थापित किया था और उसके स्वयं के एरियेन राकेट एवं पोजीशनिंग टेक्नोलॉजी, जो कि अमेरिकी टेक्नोलॉजी के टक्कर की है, की वजह से अमेरिका गैलीलियो परियोजना को नष्ट करने में नाकाम रहा। उपर्युक्त यूरोपीय सुविधाएं तीन दशकों में उसी प्रकार व्यवस्थित ढंग से और श्रमसाध्य तरीके से निर्मित की गई हैं, जैसे कि एयरबस निर्मित की गई थी। अब जबकि जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन ने परियोजना को अपना समर्थन देने की घोषणा कर दी है, अमेरिका कभी भी इस सिस्टम को नष्ट नहीं कर सकता।

मई 2003 के आखिर में यूरोपीय संघ की सरकारों के अमेरिकी जीपीएस से होड़ करने के लिए 3.4 अरब यूरो के गैलीलियो सैटेलाइट नेवीगेशन नेटवर्क को विकसित करने के लिए अन्तिम समझौता करने के महज एक दिन बाद यूरोपीय सरकारों ने यूरोप की अन्तरिक्ष तक स्वतंत्र पहुँच के बने रहने की गारंटी देने के लिए सर्वसम्मति से एरियन रॉकेट कार्यक्रम को पांच वर्ष की अवधि में एक अरब यूरो (725 मिलियन पाउंड) के वित्तपोषण से संकट से उबारने का फैसला किया।

और प्रत्येक अन्य क्षेत्र में भी स्थिति यही है।

यूरोपीय संघ का और अधिक एकीकरण

28 फरवरी, 2002 का दिन यूरोप के भविष्य पर सम्मेलन के उद्घाटन का गवाह बना, जिसमें यूरोपीय संघ को अमेरिका के बराबर की वैश्विक शक्ति में रूपान्तरित करने के लिए "संवैधानिक सन्धि" और गहनतर एकीकरण का आह्वान किया गया! इस जमावड़े का उद्देश्य यूरोपीय संघ की संस्थाओं में सुधार करना था ताकि उन्हें इस लायक बनाया जा सके कि 2004 में 10 नए सदस्यों के प्रवेश (इस पर दिसम्बर 2002 में कोपनहेगन सम्मेलन में पहले ही सहमति बन चुकी थी) पर वे तालमेल बना कर चल सकें, और आगे के विशदीकरण की लहर के लिए रास्ता बना सकें, जो कि रोमानिया, बुल्गारिया, कभी युगोस्लाव गणतंत्र का घटक रहे चुके विभिन्न देशों के साथ-साथ तुर्की को भी समाहित करेगी। इस तरह के घटनाक्रम को देखते हुए यह बात दूर की कौड़ी नहीं जान पड़ती कि रूस सदस्यता के लिए आवेदन कर सकता है और निकट भविष्य में ही यूरोपीय संघ के सदस्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। विशेषकर, रूस की सैनिक शक्ति को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता हैयह एक ऐसा तरीका होगा जिसे अपनाकर यूरोपीय संघ बड़ी आसानी से अमेरिकी सैनिक शक्ति का मुकाबला करने लायक हो जाएगा। यूरोपीय संघ के रहस्योद्घाटक नाटक के अग्रणी पात्र उस उपक्रम की महत्ता से भली-भान्ति अवगत हैं, जिसे वे शुरू कर रहे हैं।

सम्मेलन की कार्यवाही की शुरुआत करते हुए उसके अध्यक्ष फ्रांस के पूर्व राष्ट्रपति जिस्कार द एस्तैं ने दो-टूक शब्दों में कहा था कि सम्मेलन को हर हाल में यूरोप को एक ऐसी ताकत में बान्धना होगा जो कि अमेरिका के सामने खड़े होने का माद्दा रखती हो।

श्री एस्तैं ने कहा, *"अगर हम सफल रहे तो यूरोप को दुनिया में अपनी भूमिका बदलनी पड़ेगी। उसे केवल आर्थिक शक्ति के रूप में ही नहीं, जो कि वह पहले से ही है, बल्कि उस राजनीतिक शक्ति के रूप में सम्मान मिलेगा और उसे गौर से सुना जाएगा, जो कि पृथ्वी पर मौजूद सबसे बड़ी शक्ति की बराबरी पर बात किया करेगी।"* उन्होंने आगे जोड़ा, *"अगर हम नाकाम रहते हैं तो हममे से किसी के भी, यहाँ तक कि सबसे बड़ी ताकत के पास भी इस दुनिया की बड़ी ताकतों से निपटने के लिए पर्याप्त वजन नहीं होगा।"*

सम्मेलन के पीछे की योजना यह है कि एकल मुद्रा के साथ ऐसा यूरोपीय संघ बनाया जाए, जिसके पास अपनी स्वयं की सैनिक शाखा, सदस्य देशों की शक्तियों की हदबन्दी और यूरोपीय परिषद की भूमिका के साथ कूटनयिक मशीनरी, न्याय की यूरोपीय अदालत और सहायतार्थ खड़े किए गए दर्जनों शक्तिशाली नियामक निकायों सहित यूरोपीय संसद हो। यह सम्मेलन एकल मुद्रा यूरो के शुभारंभ पर बुलाया गया था, जो कि 31 दिसम्बर, 2001 की मध्यरात्रि को अस्तित्व में आई थी। यूरो के शुभारंभ के मौके पर पूर्व इतालवी प्रधानमंत्री और वर्तमान में आयोग के अध्यक्ष रोमानो प्रोटी ने यह आलंकारिक सवाल पूछा थाः *"क्या हम सब के तईं यह बात साफ है कि हम एक ऐसी शक्ति निर्मित करना चाहते हैं जो विश्व शक्ति बनने की ख्वाहिश पाल सकेमहज ट्रेडिंग ब्लाक के रूप में ही नहीं बल्कि राजनीतिक सत्ता के रूप में भी?"* एक वर्ष बाद प्रत्येक को यह बात समझ लेनी चाहिए, अगर उन्होंने पहले नहीं समझा है तो, कि यह ठीक वही शक्ति है, जिसके लिए यूरोपीय संघ की अग्रणी शक्तियाँ आकांक्षी हैं। वे अपने इस प्रयास में सफल होंगी या नहीं इसे तो आने वाला समय ही बता सकता है।

यूरोपीय संघ के भीतर निकटतर एकीकरण के साथ-साथ यूरोपीय पूँजीपति वर्ग के दूरदर्शी विचारक और प्रतिनिधि आग्रह कर रहे हैं कि यूरोपीय संघ रूस को अपने और करीब लाए, वहीं अमेरिका अपनी ओर से इस बाबत यूरोपीय संघ के प्रयत्नों को सफल नहीं होने देने और रूस को अपनी ओर मिलाने के लिए हर मुमकिन कोशिश कर रहा है। लन्दन के सामरिक अध्ययन के अन्तरराष्ट्रीय संस्थान के प्रतिरक्षा विश्लेषक क्रिस्टोफर लैंगटन कहते हैं कि हालांकि यूरोपीय संघ अपनी सैन्य क्षमताओं की कमी पर विलाप करता है, लेकिन वह इसे रूस के एयरलिफ्ट ट्रांसपोर्टेशन से बड़ी आसानी से हासिल कर सकता है, जो कि वह बुनियादी साजो-सामान है जिसकी उसके पास कमी है। रूसी पूँजीपति वर्ग की वर्तमान समय की चाहे जो विवशताएं हों और अमेरिका के साथ मधुर सम्बन्ध बनाए रखने की जाहिरा तौर पर इच्छा भी क्यों न हो लेकिन उसके दूरगामी हित और भौगोलिक स्थिति उसे अमेरिका के बजाय यूरोपीय संघ के और निकट लाने के लिए बाध्य है।

तीन साम्राज्यवादी खेमे बन रहे हैं

उपर्युक्त पूर्वानुमान सच साबित होगा या नहीं, इस समय हमारे पास इस बारे में यकीन के साथ कुछ कहने के लिए कोई साधन नहीं है क्योंकि जे.ए.हाब्सन के शब्दों में निश्चितता के साथ भविष्य की किसी एक व्याख्या को प्रस्तुत करने के लिए **"स्थिति बेहद-बेहद जटिल है, विश्व शक्तियों के खेल अत्यन्त अगणनीय हैं।"** बहरहाल, जो निश्चित है वह यह है कि सोवियत संघ और समाजवादी देशों के पूर्वी खेमे के पतन के समय से विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के हितों की बुनियादी असंगति सतह पर आ गई है, यह कि तीन शक्तिशाली एवं होड़रत साम्राज्यवादी

खेमे उभर रहे हैंजिनका नेतृत्व उत्तरी अमेरिका मुक्त व्यापार क्षेत्र (नाफ्टा) के इर्द-गिर्द समूहबद्ध अमेरिकी साम्राज्यवाद, जर्मन साम्राज्यवाद के नेतृत्व तले यूरोपीय संघ के देश और जापानी साम्राज्यवाद के नेतृत्व तले एशिया-प्रशान्त घेरे के पास है। उपर्युक्त खेमे भूमिका बनाते हुए पहले एक-दूसरे के प्रभाव क्षेत्रों का अतिक्रमण करेंगे और अन्तिम उपाय के तौर पर लड़-भिड़कर मसले का निपटारा करेंगे। इन तीन खेमों के बीच विश्व प्रभुत्व के लिए क्रुद्ध और उन्मादी संघर्ष चल रहा है, जो कि स्वयं को शान्तिपूर्ण रूपों में प्रकट करता है, लेकिन यह वास्तव में ऐसा रूप भी धारण कर सकता है जो कि शान्तिपूर्ण होने से कोसों दूर हों, क्योंकि, *"युद्ध अन्य उपायों (अर्थात, बलात उपायों) द्वारा जारी रहने वाली राजनीति है,"* और *"शान्तिपूर्ण गठबन्धन युद्धों के लिए जमीन तैयार करते हैं और अपनी बारी में युद्धों में से जन्म लेते हैं, पहला दूसरे को नियमित करता है, विश्व अर्थशास्त्र और विश्व राजनीति के भीतर साम्राज्यवादी जुड़ावों और रिश्तों के उसी एक जैसे आधार के बीच से बारी-बारी से संघर्ष के शान्तिपूर्ण और गैर-शान्तिपूर्ण रूपों का जन्म होता है।"* (साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्थापृष्ठ.112)

घटनाएं तेजी से ऐसी दिशा में आगे बढ़ रही हैं, जो कि उस अन्तर-साम्राज्यवादी व्यापार युद्ध की संभावना को ज्यादा से ज्यादा बलवती बनाती है, जो कि वास्तविक युद्ध के पूर्वांग के तौर पर मौजूदा प्रभाव क्षेत्रों, कच्चे मालों के स्रोतों और माल एवं पूँजी निर्यात के लिए बाजारों के पुनर्बंटवारे के प्रति लक्षित होता है, **बशर्ते इसे क्रान्ति द्वारा रोका न जाए।** यह बात इसी सन्दर्भ में कही जा रही है कि हमें पूरी दुनिया में सिर उठा रहे साम्राज्यवादी नेतृत्व और साम्राज्यवाद प्रेरित समस्त युद्धों और सशस्त्र संघर्षोंहत्यारे खाड़ी युद्ध से लेकर युगोस्लाविया के खिलाफ नाटो के जाति-संहारक हमलावर युद्ध से होते हुए, अफगानिस्तान के लोगों के खिलाफ वर्तमान युद्ध के साथ-साथ इराक की जनता के खिलाफ आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद द्वारा छेड़े गए युद्ध तकको इसी रूप में देखना होगा कि उनका एकमात्र उद्देश्य मध्य-पूर्व से लेकर मध्य-एशिया तक फैले विशाल क्षेत्र की आश्चर्यजनक तेल सम्पदा पर एकाधिकार जमाना है। उक्त सभी युद्धों में साम्राज्यवादी देशों के विभिन्न समुच्चय न केवल इन क्षेत्रों की जनता के खिलाफ लड़ रहे हैं बल्कि प्रत्येक साम्राज्यवादी शक्ति अपने लिए सर्वाधिक लाभप्रद स्थिति प्राप्त कर लेने की भरसक कोशिश भी कर रही है। इस सन्दर्भ में, यह मानना पड़ेगा कि अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू बुश उस वक्त किसी लेनिनवादी की भान्ति बोले थे, जब उन्होंने जनवरी 2002 में अमेरिकी कांग्रेस में संघीय सरकार का सन्देश देना शुरू किया, जिसका पहला वाक्य थाः "हमारी अर्थव्यवस्था मन्दी की चपेट में है और हमारा देश युद्ध में।" अकेले इस वाक्य में उन बुर्जुआ उदारवादियों और पूँजीवाद के दूसरे पैरोकारों द्वारा उड़ेले गए करोड़ों शब्दों के मुकाबले ज्यादा लेनिनवाद समाहित है, जो कि पाखंड से भरी शब्दावली और पवित्र ख्वाहिशों के साथ हमें साम्राज्यवाद की दशाओं के तहत शान्तिपूर्ण दुनिया का भरोसा दिलाते हैं। अति उत्पादन के असाध्य संकट से संचालित साम्राज्यवाद एक बार फिर इस आशा के साथ सशस्त्र संघर्ष का सहारा लेने के लिए विवश है कि युद्ध करोड़ों मनुष्यों की जान लेते हुए, अकूत मात्रा में सम्पत्ति और उत्पादक क्षमता का ध्वंस करते हुए इजारेदार पूँजीवाद को संघर्ष की समाप्ति पर युद्ध से बेशुमार मुनाफा पीटने और पूँजी की लाभप्रदता को बहाल करने में सक्षम होगा। साम्राज्यवाद के लिए हालात इतने खुशगवार नहीं भी हो सकते क्योंकि इस तरह के युद्ध के अगले दिन और इस तरह के युद्ध की धूल और राख के बीच से प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप हुई सर्वहारा क्रान्तियों के मुकाबले भी ज्यादा शक्तिशाली विजयी सर्वहारा क्रान्तियाँ उभर कर आ सकती हैं।

बहरहाल, वर्तमान समय में जो बात महत्वपूर्ण है वह यह कि अति उत्पादन का संकट साम्राज्यवाद को युद्ध की ओर हाँक रहा है। सामूहिक साम्राज्यवाद के काउत्स्की के सिद्धान्त के हिमायतियों की परीकथाओं और लोरियों से मीठी नीन्द में सोने की बजाय अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन का फर्ज बनता है कि वह साम्राज्यवादी देशों के सर्वहारा के साथ-साथ उत्पीड़ित लोगों को भी साम्राज्यवादी यथार्थ की वीभत्सता के बारे में, साम्राज्यवाद का खात्मा किये बगैर सभी तरह के युद्ध को खत्म करने की असंभवता के बारे में बताये। कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह कर्तव्य बनता है कि वह आने वाले युद्ध के लिए सभी देशों के सर्वहारा वर्ग को तैयार करे, उसे इस तरह के युद्ध का लाभ उठाकर साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए तैयार करे। वर्तमान परिस्थितियों में सभी साम्राज्यवादी देशों के सर्वहारा वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह हर मुमकिन तरीके से उस युद्ध का विरोध करे, जिसे आंग्ल-अमेरिकी साम्राज्यवाद इराक की जनता के खिलाफ चला रहा है, इराक और अफगानिस्तान से साम्राज्यवादी फौजों की वापसी की माँग करे, और इन देशों में साम्राज्यवादी कब्जाधारी शासन-व्यवस्थाओं के खिलाफ लड़ रही ताकतों को हर तरह का राजनीतिक, नैतिक और भौतिक समर्थन प्रदान करे।

अवसरवाद के खिलाफ लड़ाई

साम्राज्यवाद और साम्राज्यवादी युद्धोन्माद के खिलाफ संघर्ष से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है अवसरवाद के खिलाफ संघर्ष का सवाल और अवसरवाद की आर्थिक जड़ों को समझने की जरूरत। साम्राज्यवादी देशों के मजदूर वर्ग में अवसरवाद कोई सांयोगिक परिघटना नहीं है, इसके उलट साम्राज्यवादी देशों के पूँजीपति वर्ग द्वारा समूची दुनिया की लूट-खसोट से हासिल किए गए अति-लाभ में इसकी गहरी आर्थिक जड़ें हैं। इस लूट-खसोट के एक हिस्से का प्रयोग मजदूरों के ऊपरी संस्तरकुलीन श्रमिकोंको रिश्वत देने के लिए किया जा सकता है और इस प्रकार मज़दूर वर्ग में फूट को बल प्रदान किया जाता है। *"बुर्जुआकृत मजदूरों" का यह संस्तर अपनी जीवन-शैली में पूर्णरूपेण निम्न-बुर्जुआ होता है और उसकी आमदनी का आकार और उसका विश्व दृष्टिकोण* **पूँजीपति वर्ग के प्रमुख सामाजिक समर्थन...मजदूर आन्दोलन में पूँजीपति वर्ग के असली एजेंट,** *पूँजीपति वर्ग के श्रमिक पैरोकार, सुधारवाद और सामाजिक अन्धराष्ट्रवाद के असली वाहक के रूप में काम करता है। सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच गृह-युद्ध में वे बगैर चूके, और कोई छोटी-मोटी संख्या में नहीं, पूँजीपति वर्ग के पक्ष में, 'कम्युनार्डों' के खिलाफ वर्साई वालों के पक्ष में खड़े होते हैं।"* (वही) लेनिन आगे जोड़ते हैं : *"जब तक इस परिघटना की आर्थिक जड़ों को समझा नहीं जाता और उसके राजनीतिक एवं सामाजिक महत्व को आत्मसात नहीं किया जाता तब तक कम्युनिस्ट आन्दोलन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान और आसन्न सामाजिक क्रान्ति की तरफ एक कदम भी नहीं उठाया जा सकता।"*

यह बात जोर देकर कह लेने दें कि पहले विश्व युद्ध के समय से ही इस अभिजन श्रमिक के राजनीतिक प्रतिनिधि ब्रिटेन में लेबर पार्टी और पश्चिमी यूरोप में सामाजिक जनवाद रहा है। यह हमेशा से प्रतिक्रान्तिकारी ताकत रही है और इसी रूप में बनी हुई है। इस झुकाव के व्यक्ति मजदूर वर्ग की तरफ आकर मिल सकते हैं, पर समग्रता में सामाजिक जनवाद घरेलू और विदेश नीति के प्रत्येक महत्वपूर्ण सवाल पर हमेशा ही साम्राज्यवाद के पक्ष में खड़ा रहेगा।

खाड़ी और बाल्कन युद्ध, अफगानिस्तान और इराक के युद्ध और ट्रेड यूनियन नेताओं से लेकर सामाजिक जनवाद के नेताओं तक के अवसरवादियों का दृष्टिकोण लेनिन की उपर्युक्त टिप्पणी के सहीपन का सुस्पष्ट सबूत प्रस्तुत करता है। हमारे अपने देश ब्रिटेन में आर्थर स्कारगिल और उनके एक या दो कामरेडों के अपवाद को छोड़कर किसी स्तर के एक भी ट्रेड यूनियन नेता ने युगोस्लाविया के खिलाफ साम्राज्यवादी युद्ध या दस वर्षों से इराक के ऊपर रोजाना बमबारी की भर्त्सना नहीं की है। आज, जबकि अमेरिका के साथ-साथ ब्रिटिश लेबर बुर्जुआ सरकार इराकी जनता के खिलाफ बर्बर युद्ध छेड़े हुए है, ट्रेड-यूनियन का अधिकतर नेतृत्व इस बर्बरतापूर्ण प्रयत्न को कम से कम मौन समर्थन देने में तो व्यस्त है। सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्तों के प्रति थोड़ी सी भी निष्ठा रखने वाला कोई नेतृत्व इस तरह के लुटेरे साम्राज्यवादी युद्ध को छेड़े जाने से रोकने के लिए अपने स्तर पर हरसंभव कोशिश करता। परन्तु, ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व पर काबिज अभिजन श्रमिक अपने समस्त विशेषाधिकार एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के लोगों के साम्राज्यवादी शोषण और लूट-खसोट से प्राप्त करते हैं। ऐसे में हैरत की बात नहीं कि यह नेतृत्व किसी भी तरह की साम्राज्यवाद विरोधी गतिविधि को संचालित करने में अक्षम है। यूरोप के कम्युनिस्ट आन्दोलन का यह कर्तव्य है कि वह मज़दूर वर्ग के सामने इस सच्चाई को पेश करे कि सामाजिक जनवाद, सर्वहारा वर्ग का मित्र होना तो बहुत दूर, वह उसका घातक शत्रु है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त वर्णन की रोशनी में कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद सभी प्रमुख अन्तरविरोधोंउत्पीड़ित राष्ट्रों और साम्राज्यवाद के बीच के अन्तरविरोध, श्रम और पूँजी के बीच के अन्तरविरोध और विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच के अन्तरविरोधको अभूतपूर्व स्तर तक तीखा बना रहा है।

इसने मानवता के सम्मुख विकल्प रखे हैं : या तो क्रान्ति या फिर युद्ध और बर्बरता। सर्वहारा वर्ग के बीच इस बात का प्रचार-प्रसार करना हर हालत में हमारा कर्तव्य बनता है : *"...मनहूस और अटल सत्य यह है कि साम्राज्यवादी युद्ध, और उस साम्राज्यवादी दुनिया से बच पाना असंभव है जो कि अनिवार्य रूप से साम्राज्यवादी युद्ध को जन्म देती है,* **बोल्शेविक संघर्ष और बोल्शेविक क्रान्ति** *के सिवाय और किसी प्रकार उस नरक से बच पाना असंभव है।"(लेनिन :* 14 अक्तूबर, 1921)

साफ-साफ विकल्प के सामने खड़े सर्वहारा वर्ग के सामने क्रान्ति का लेनिनवादी सिद्धान्त और संगठन की लेनिनवादी कार्यनीति और पद्धति मुक्ति के एकमात्र उपलब्ध रास्ते को प्रस्तुत करती है : **"या तो स्वयं को पूँजी की दया पर रखो, जोड़-गाँठकर दयनीय वजूद कायम रखो और गहरे फिर और गहरे डूबते जाओ या फिर नये हथियार को अपनाओयही वह विकल्प है जिसे साम्राज्यवाद सर्वहारा की विशाल आबादी के सामने रखता है। साम्राज्यवाद मज़दूर वर्ग को क्रान्ति तक लाता है"**(स्तालिन, कलेक्टेड वर्क्स 6, पृष्ठ 74-75)

मुनाफे की हवस में साम्राज्यवाद मानवता का सामना इस दुविधा से करा रहा है : **"या तो समस्त संस्कृति को कुर्बान कर दो या फिर क्रान्तिकारी उपायों द्वारा पूँजीवाद के जुए को उतार फेंको, पूँजीपति वर्ग के प्रभुत्व का खात्मा करो और समाजवादी समाज और स्थायी शान्ति का वरण करो।"** (लेनिन, रोटी और शान्ति के लिए, दिसम्बर 1917) जब साम्राज्यवाद सभी अन्तरविरोधों को अधिकतम सीमा तक तीखा बनाता है, जब वह मानवता के विशाल हिस्से के साथ धृष्ट व्यवहार करता है, ठीक उसी वक्त वह मजदूर वर्ग और उत्पीड़ित लोगों को साम्राज्यवाद के क्रान्तिकारी तख्तापलट पर अमल करने के लिए निश्चित रूप से प्रेरित भी कर रहा होता है।

पिछले तीन दशकों के दौरान समाजवाद की दिशा में गति के असाधारण उलटाव के बावजूद, संघर्ष और घटनाओं के यंत्रणादायी क्रम के समस्त टेढ़े-मेढ़े रास्तों के बावजूद दुनिया की कोई भी ताकत दुनिया के पैमाने पर सर्वहारा क्रान्ति की विजय को रोक नहीं सकती।

"साम्राज्यवाद सर्वहारा की सामाजिक क्रान्ति की पूर्व सन्ध्या है।"(साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था के फ्रांसीसी और जर्मन संस्करणों की प्रस्तावना में लेनिन।)

('ललकार', सितम्बर-अक्टूबर 2003 से साभार)

(अनु.कामता प्रसाद)

"जहां संकल्पों के बैरिकेड खड़े हो रहे हैं
जहां समझ की बंकरें खुद रही हैं
जहां चुनौतियों के परचम लहराये जा रहे हैं
वहां तुम्हारी तैनाती है
अगर तुम युवा हो!"

इंकलाबी छात्रों-युवाओं की त्रैमासिक पत्रिका

आह्वान

कैम्पस टाइम्स

सम्पादकीय कार्यालय : 'आह्वान कार्यालय', कल्याणपुर, गोरखपुर-273 001
एक प्रति : आठ रुपए, वार्षिक : 32 रुपए (डाकव्यय सहित 40 रुपए)
email : ahwancampustimes@rediffmail.com

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए एक आम कार्यक्रम

"समूची पार्टी और समूचे राष्ट्र के समस्त कार्य के लिए आम कार्यक्रम के बारे में" का विश्लेषण

• चेङ यूएह

चीन में समाजवाद की समस्याओं से लगातार जूझते हुए, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए लगातार प्रयत्नशील संशोधनवादियों से मोर्चा लेते हुए और विश्व पटल पर ख्रुश्चेवी संशोधनवादियों पर लगातार प्रत्याक्रमण करते हुए माओ त्से-तुङ ने व्यवहार और चिन्तन की एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरने के बाद सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की सैद्धान्तिक पूर्वपीठिका तैयार की। समाजवादी संक्रमणकालीन आर्थिक मूलाधार और अधिरचना में मौजूद पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारक तत्वों की गतिकी को समझने के बाद माओ ने यह मार्ग निकाला कि समाजवाद के दौर में वर्ग संघर्ष का संचालन किस प्रकार किया जायेगा और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्नशील नये-पुराने बुर्जुआ तत्वों और उनके आधारों को नष्ट करते हुए कम्युनिज्म की ओर प्रयाण करने की आम दिशा क्या होगी। इसी चिन्तन और प्रयोग के दौरान "सर्वहारा वर्ग के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व के अन्तर्गत सतत क्रान्ति" और "अधिरचना में क्रान्ति" जैसी अवधारणाएं सामने आयीं और विकसित हुईं।

फरवरी 1966 में पहले 'सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुप' के गठन के साथ ही मानो सर्दियों के अन्त की घोषणा कर दी गई। '7 मई निर्देश' के द्वारा शिक्षा में क्रान्ति' विषयक सूत्र पेश करके माओ ने वसन्त के वज्रनाद के बाद, गर्मियों का ताप पैदा करने का काम शुरू कर दिया, जिसे '16 मई निर्देश' और नये सांस्कृतिक क्रान्ति ग्रुपों के गठन से एक नया संवेग मिला। यथास्थिति के पोषकों और यथास्थिति के आलोचकों के बीच दो लाइनों का संघर्ष विश्वविद्यालयों- कालेजों और संस्कृति के दायरों से आगे बढ़कर कल-कारखानों और गांवों तक फैल गया। 29 मई को सिनहुआ विश्वविद्यालय में रेडगार्डों की पहली टुकड़ी गठित हुई। 16 जुलाई को 66 वर्षीय माओ ने तूफानी याङ त्से नदी का विशाल पाट तैरकर पार करके प्रतीकात्मक रूप से चीनी जनता को धारा के विरुद्ध खड़े होने और तूफानों से मोर्चा लेने का सन्देश दिया। एक अगस्त को पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के प्लेनम के बाद 5 अगस्त को माओ ने "हेडक्वार्टर को ध्वस्त करो" नामक अपना ऐतिहासिक "बड़े चित्राक्षरों वाला पोस्टर" जारी किया और पार्टी के नेतृत्व में जड़ जमाये बैठे पूँजीवादी पथगामियों पर सीधे हल्ला बोलने का सन्देश दिया। इसके तीन दिन बाद ही चीनी पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने निर्णय लेकर वह इतिहास-प्रसिद्ध सोलह सूत्री सर्कुलर जारी किया जिसे सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का पहला कार्यक्रमपरक, ठोस दस्तावेज माना जाता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के तीसरे दशाब्दी वर्ष के अवसर पर हमने नवम्बर 1996 के अंक से इस क्रान्ति के चुने हुए दस्तोवेजों और लेखों के प्रकाशन का सिलसिला शुरू किया था। अब तक हम 'सोलहसूत्री सर्कुलर', 'सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे' (पार्टी अखबारों के सम्पादकमंडल द्वारा), 'बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में' (चाङ चुन-चियाओ), 'पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं' (चेङ चिह-स्तजू), 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति अमर रहे' ('लाल झण्डा' का सम्पादकीय), 'एक युगान्तरकारी दस्तावेज' (16 सूत्री सर्कुलर के प्रकाशन की दूसरी वर्षगांठ पर प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट', 'पूँजीवादी पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग है' (फाङ काङ), 'कम्युनिस्टों को सर्वहारा वर्ग के अग्रणी तत्व होना चाहिए' (प्रमुख अखबारों के सम्पादकीय विभागों का लेख), 'सतत क्रान्ति के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त का अध्ययन करो' (चाओ चाङ), 'समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम' (चि पिङ), 'इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है' (हुङ यू), 'केन्द्रीय अध्ययन कक्षा को रिपोर्ट' (वाङ हुङ-वेन) तथा 'सर्वहारा अधिनायकत्व के सिद्धान्त का भली-भान्ति अध्ययन करो' का प्रकाशन कर चुके हैं। इसके अलावा सांस्कृतिक क्रान्ति तथा माओकालीन चीन में मार्क्सवाद पर जार्ज थामसन के लेख भी हमने छापे हैं। इन तथा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के कुछ अन्य महत्वपूर्ण दस्तावेजों को 'राहुल फाउण्डेशन' द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित किया जा रहा है।

सम्पादक

जनता द्वारा सुनाये गये फैसलों को उलट देने के लिए बहाई जा रही दक्षिणपंथी विचलनवादी बयार के खिलाफ महान संघर्ष लगातार नयी-नयी जीतें हासिल करता जा रहा है। पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी* द्वारा प्रस्तुत किये गए "तीन निर्देशों को कुंजीभूत कड़ी के रूप में अपनाने" के संशोधनवादी कार्यक्रम की अध्यक्ष माओ द्वारा, समूची पार्टी, समूची सेना और समूचे देश की जनता द्वारा तीखी आलोचना की जा रही है। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया हैः **"क्या! 'तीन निर्देशों को कुंजीभूत कड़ी के रूप में अपनाइए'! स्थायित्व और एकता का मतलब वर्ग संघर्ष को रद्द करना नहीं होता; वर्ग संघर्ष मुख्य कड़ी है और शेष सभी कुछ इस पर निर्भर करता है।"** अध्यक्ष माओ की यह शिक्षा कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष और पार्टी की बुनियादी लाइन को नकारने में, सर्वहारा की तानाशाही का विरोध करने में और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करने में "तीन निर्देशों को कड़ी के रूप में अपनाने" के प्रतिक्रियावादी सारतत्व का मूलभूत रूप से और साफ-साफ उल्लेख करती है।

कुछ लोगों का एक समय यह मानना था कि "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाना" केवल "सूत्रीकरण" का प्रश्न है। आइये, हम पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी के उकसावे पर

लिखे गए एक लेख पर नजर दौड़ाते हैं। लेख का शीर्षक था, "समूची पार्टी और समूचे राष्ट्र के समस्त कार्य के लिए आम कार्यक्रम के बारे में"(यहाँ; संक्षिप्त रूप के लिए "आम कार्यक्रम")। खुल्लम-खुल्लम ढंग से सर्वतोमुखी पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए कार्यक्रम के रूप में पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी द्वारा परोसे गए "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" के कार्यक्रम को यह पूरी तरह से बेनकाब कर देता है।

I.

"आम कार्यक्रम" अगले 25 वर्षों में पार्टी के लिए संघर्ष के उद्देश्य के रूप में "चार आधुनिकीकरणों" के क्रियान्वयन के प्रस्तुतिकरण के साथ शुरू होता है और फिर यह "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" का प्रस्ताव रखता है। लेख कहता है : "तीन निर्देश वर्तमान समय में समूची पार्टी, समूची सेना और समूचे राष्ट्र के समस्त कार्य के लिए न केवल आम कार्यक्रम बल्कि अगले 25 वर्षों के दौरान शानदार लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष की समूची अवधि में विस्तृत कार्य योजना भी हैं।" यह सामान्यीकरण सुस्पष्ट ढंग से दिखाता है कि पार्टी के उस घाघ पूँजीवादी पथगामी* द्वारा परोसी गई "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" की योजना वर्ग संघर्ष को कुंजीभूत कड़ी के रूप में अपनाने के बारे में अध्यक्ष माओ के निर्देशों का प्रतिकार करने और हमारी पार्टी के बुनियादी कार्यक्रम और बुनियादी लाइन का निषेध करने के खिलाफ पूरी तरह से लक्षित है।

आगामी 25 वर्षों समेत समाजवाद की समूची ऐतिहासिक अवधि में समूची पार्टी और समूचे देश की जनता के लिए बुनियादी कार्यभार क्या है? हमारी पार्टी का संविधान अपने "प्रथम अध्यायआम सिद्धान्त" में साफ-साफ उल्लेख करता है: "चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का बुनियादी कार्यक्रम है पूँजीपति वर्ग और दूसरे सभी शोषक वर्गों को पूर्णतया उखाड़ फेंकना; पूँजीपति वर्ग की तानाशाही की जगह पर सर्वहारा की तानाशाही कायम करना और पूँजीवाद के ऊपर समाजवाद की जीत हासिल करना। पार्टी का अन्तिम लक्ष्य कम्युनिज्म को साकार करना है।" हमारी पार्टी के इस बुनियादी कार्यक्रम को पूरा करने के लिए अध्यक्ष माओ ने समाजवाद की समूची ऐतिहासिक अवधि के लिए पार्टी की बुनियादी कार्यदिशा (लाइन) प्रस्तुत की है, यह है: **"समाजवादी समाज की काफी लम्बी ऐतिहासिक अवधि होती है। समाजवाद की ऐतिहासिक अवधि में वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध और वर्ग संघर्ष अभी भी बने रहते हैं; समाजवादी रास्ते और पूँजीवादी रास्ते के बीच संघर्ष मौजूद होता है और पूँजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा बना रहता है। हमें इस संघर्ष की दीर्घकालिक और जटिल प्रकृति की पहचान करनी होगी। हमें अपनी चौकसी बढ़ानी ही होगी। हमें समाजवादी शिक्षा संचालित करनी पड़ेगी। हमें वर्ग अन्तरविरोधों और वर्ग संघर्ष को ठीक तरह से समझना और हल करना होगा; अपने और दुश्मन के बीच के अन्तरविरोधों और जनता के बीच के अन्तरविरोधों में फर्क करना होगा और उन्हें ठीक तरह से हल करना होगा। नहीं तो हमारी तरह का समाजवादी देश अपने विपरीत में बदल जाएगा और पतित हो जाएगा; और वहाँ पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो जाएगी। अब से आगे हमें खुद को इस बात की याद हर साल, हर महीने और हर दिन दिलाते रहना होगा ताकि हम इस समस्या की अपेक्षाकृत गंभीर समझदारी बनाये रख सकें और हमारे पास मार्क्सवादी-लेनिनवादी लाइन हो।"** लिहाजा; समूची पार्टी और समूचे देश की जनता के लिए बुनियादी कार्यभार, न केवल वर्तमान समय में बल्कि अगले 25 वर्षों समेत समाजवाद की समूची ऐतिहासिक अवधि के दौरान भी, किसी और चीज के लिए नहीं बल्कि हमारी पार्टी के बुनियादी कार्यक्रम को साकार करने और उसकी बुनियादी लाइन के अमल के लिए संघर्ष करना है। क्या हमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास करना चाहिए? क्या हमें इस शताब्दी के अन्त से पहले दो चरणों में कृषि, उद्योग, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा और विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में चौतरफा आधुनिकीकरण के काम को पूरा कर लेना चाहिये? निस्सन्देह, हमें ऐसा करना चाहिए! बहरहाल; यह महज ऐसा कार्यभार है जिसे हमें अपनी पार्टी के बुनियादी कार्यक्रम को साकार करने के क्रम में पूरा करना चाहिए। हालांकि, यह शानदार कार्यभार है पर यह पार्टी का बुनियादी कार्यभार नहीं है; हमारी पार्टी के समूचे कार्यभार की तुलना में तो यह और भी कम है। "चार आधुनिकीकरणों" को पहले-पहल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने के कार्यभार के सम्बन्ध में योजना के तौर पर सामने रखा गया था। बहरहाल, जबर्दस्त झांसापट्टी खड़ी करते हुए "आम कार्यक्रम" वर्तमान और अगले 25 वर्षों दोनों के ही समस्त कार्य के लिए प्रमुख आधार के रूप में "चार आधुनिकीकरणों" के कर्यान्वयन को प्रस्तुत करता है, यह ऐसा आधार है जिस पर हमारे समस्त कार्य अवश्य ही आधारित होने चाहिए। यह पूरी तरह से दर्शाता है कि पार्टी के उस घाघ पूँजीवादी पथगामी की निगाह में वर्तमान समय में एकमात्र कार्यभार उत्पादन और निर्माण को बनाये रखना है; वर्ग संघर्ष, सर्वहारा क्रान्ति और सर्वहारा तानाशाही की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बाद यह हमारी पार्टी के बुनियादी कार्यक्रम को पूरी तरह से नकारता है और बुनियादी कार्यभार और समूची पार्टी सारे देश की जनता के लिए आगे बढ़ने की अवस्थिति के साथ मुकम्मल ढंग से हेरफेर करता है।

प्रमुख आधार प्रस्तुत कर चुकने के बाद; ऐसा आधार जिसके लिए वर्ग संघर्ष और समाजवादी क्रान्ति की तरफ तनिक भी ध्यान देने की जरूरत नहीं पड़ती; "आम कार्यक्रम" इस बात का हवाला देता है कि "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाना" न केवल वर्तमान के बल्कि अगले 25 वर्षों समेत भविष्य के भी "समस्त कार्यों के लिए आम कार्यक्रम" है। इस प्रकार, यह बेहूदगी से सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धान्त जैसे प्रश्नों पर अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं को इस तरह से लेता है मानो वे कोई ऐसी बातें हों जो कि केवल "चार आधुनिकीकरणों" को हासिल करने के उद्देश्य की सेवा करती हों। यह अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं को पूरी तरह से तोड़ना-मरोड़ना है। वे लोग जो सार-संग्रहवाद और वाग्छल का सहारा लेते हैं; द्वंद्ववाद के विरोधी होते हैं और द्वंद्वात्मक तर्क की तरफ बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते लेकिन पार्टी का वह पूँजीवादी पथगामी और उसका "आम कार्यक्रम" तो औपचारिक तर्क या विवेचन का उल्लेख तक नहीं करता। इस बात की आड़ लेते हुए कि "एकीकृत समग्र को काट कर अलग-अलग नहीं किया जा सकता।" वह मनमाने ढंग से "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" का प्रस्ताव रखता है और आनन-फानन में इसे आगामी 25 वर्षों में समूची पार्टी और समूचे देश के "समस्त कार्य के

*यहाँ इशरा देङ श्याओ पिङ की ओर है। सं.

लिए आम कार्यक्रम" में बदल देता है। क्या इसे दूसरों पर थोपा नहीं जाता? ठीक इसी हथकंडे का इस्तेमाल करते हुए पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष का निषेध करता है; पार्टी की बुनियादी लाइन को खारिज करता है और एक ऐसा संशोधनवादी कार्यक्रम गढ़ता है जो कि बुनियादी तौर पर अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन से एकदम उलट है और जिसका अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं से कोई लेना-देना नहीं।

यह महज इत्तफाक नहीं है कि "आम कार्यक्रम" की शुरुआत और अन्त "चार आधुनिकीकरणों" के क्रियान्वयन के आह्वान के साथ होता है। यहाँ भारी महत्व का प्रश्न उठता है, यानि कि चीन को अगले 25 वर्षों समेत भविष्य में किस ऐतिहासिक रास्ते पर चलना चाहिए? हम मानते हैं कि चीन अब ऐतिहासिक विकास की महत्वपूर्ण अवधि में है: अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन पर अटल रहकर एकदम आखिर तक समाजवादी क्रान्ति को चलाते रहना है और ज्यादा समृद्ध महान समाजवादी देश का निर्माण करना है तथा क्रमशः कम्युनिज्म की ओर कूच करना है या संशोधनवाद को व्यवहार में उतारकर पुरानी व्यवस्था की बहाली करनी है और सोवियत सामाजिक-साम्राज्यवाद के घिसे-पिटे ढर्रे पर चल पड़ना है? आने वाले कई दशकों का समय ऐसा कालखंड होगा जो कि दो रास्तों और दो प्रकार के भविष्य के बीच उग्र संघर्ष के लिए याद किया जाएगा। चीनी जनता और दुनिया के लोगों के बुनियादी हितों के लिए हमें पहली तरह के भविष्य के लिए और दूसरे के खिलाफ लड़ना ही होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पार्टी की बुनियादी लाइन एकमात्र सही दिशा है, जो कि सर्वहारा वर्ग और क्रान्तिकारी जनता की जीवन-रेखा है। यही वजह है कि अध्यक्ष माओ ने बार-बार इस बात का उल्लेख किया है: **"वर्गों और वर्ग-संघर्ष को कभी मत भूलो;"** और पार्टी की बुनियादी लाइन के बारे में **"हर साल, हर महीने और हर दिन हमें स्वयं को याद दिलाते रहना होगा।"** चूँकि पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी पार्टी की बुनियादी लाइन की जगह "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" को रख देता है और कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष का निषेध करता है, अतः तय है कि वह स्वाभाविक रूप से दूसरी तरह के भविष्य को प्राप्त करना चाहता है और पहले वाले का विरोध करता है। वस्तुतः "चार आधुनिकीकरणों" का उसका तथाकथित क्रियान्वयन और कुछ नहीं, बल्कि पूँजीवाद की चौतरफा पुनर्स्थापना का खाका है। इस संशोधनवादी लाइन के खिलाफ हमारी समूची पार्टी, समूची सेना और सारे देश की जनता को अवश्य ही, ईंट का जवाब पत्थर से की तर्ज पर संघर्ष चलाना होगा।

II.

क्या "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाना" वास्तव में सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धान्त के अध्ययन को समाहित करता है? यह पूरी तरह झूठा और भ्रामक है। जनता के लिए संशोधनवादियों द्वारा अपनाई जाने वाली चालबाजियों को समझने के लिए सिर्फ इस बात की ओर एक निगाह डालने की जरूरत है कि "आम कार्यक्रम" किस तरह से सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धान्त के प्रश्न पर अध्यक्ष माओ की शिक्षा को तोड़-मरोड़कर पेश करता है और उसका विरोध करता है।

वर्ष 1974 के आखिरी दिनों में अध्यक्ष माओ ने सिद्धान्त के प्रश्न पर इस बात का उल्लेख करते हुए एक महत्वपूर्ण निर्देश जारी किया: **"लेनिन ने पूँजीपति वर्ग के ऊपर तानाशाही लागू करने की बात क्यों की थी? इस प्रश्न को स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। इस प्रश्न पर स्पष्टता का अभाव संशोधनवाद तक ले जाएगा। यह समूचे राष्ट्र को बता दिया जाना चाहिए।"** समाजवादी व्यवस्था की बात करते हुए अध्यक्ष माओ ने कहा: **"एक शब्द में; चीन समाजवादी देश है। मुक्ति से पहले वह कमोबेश पूँजीवादी देश की तरह था। अभी भी यहाँ पर आठ स्तरों वाली वेतन प्रणाली लागू है; प्रत्येक व्यक्ति को वितरण उसके काम के मुताबिक होता है और विनिमय मुद्रा के जरिये होता है;** और **यह सब मुश्किल से ही पुराने समाज से भिन्न है। जो बात भिन्न है वह यह है कि स्वामित्व की व्यवस्था बदल गई है।"** अध्यक्ष माओ इंगित करते हैं: **"वर्तमान समय में हमारे देश में माल प्रणाली का प्रचलन है; जैसा कि आठ स्तरों वाले वेतनमान और इसी तरह की अन्य बातों से स्पष्ट है, वेतन प्रणाली भी असमान है। इन चीजों को केवल सर्वहारा की तानाशाही के तहत नियंत्रित किया जा सकता है। इसलिए अगर लिन प्याओ जैसे लोग सत्ता में आ जाते हैं तो उनके लिए पूँजीवादी व्यवस्था खड़ी करना बिल्कुल आसान होगा। लिहाजा; हमें मार्क्सवादी-लेनिनवादी रचनाओं का और अधिक अध्ययन करना चाहिए।"** अध्यक्ष माओ की इन शिक्षाओं की मुख्य विशेषता संशोधनवाद का मुकाबला करने और उसकी रोकथाम करने के सिलसिले में बुर्जुआ अधिकारों को नियंत्रित करने की आवश्यकता और महत्व पर उसके बल देने में निहित है। इसके अलावा यह हमारे लिए सर्वहारा की तानाशाही के तहत अधिरचना और आर्थिक मूलाधार दोनों में ही क्रान्ति को जारी रखने की ओर इशारा करती है। बहरहाल; सिद्धान्त के प्रश्न पर शिक्षा के बारे में "आम कार्यक्रम" क्या कहता है? यह अध्यक्ष माओ की शिक्षा की मुख्य विषयवस्तु, यानि, बुर्जुआ अधिकारों को सीमित करने के प्रश्न को पूरी तरह से उठाकर ताक पर रख देता है और इसके बारे में एक शब्द कहना भी जरूरी नहीं समझता। नए पूँजीपति वर्ग को जन्म देने वाली जमीन और हालात के रूप में बुर्जुआ अधिकारों का प्रश्न; मुख्य खतरे के रूप में संशोधनवाद का प्रश्न, पार्टी के भीतर दो लाइनों के बीच संघर्ष का प्रश्न और पूँजीवादी पथगामियों से निपटने का प्रश्नये सारी बातें "आम कार्यक्रम" में सिरे से गायब हैं। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि तथाकथित "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाना" सिद्धान्त का लक्ष्य सर्वहारा तानाशाही के सिद्धान्त के प्रश्न पर अध्यक्ष माओ की शिक्षा को तोड़-मरोड़ कर पेश करने और उसे नष्ट करना है।

सर्वहारा की तानाशाही के सिद्धान्त की वास्तविक अन्तर्वस्तु को खत्म कर देना पूँजीवादी पथगामियों की बुर्जुआ प्रकृति को प्रकट करता है। अध्यक्ष माओ ने असल नुक्ते पर उंगली रखते हुए हाल ही में इंगित किया है: **"समाजवादी क्रान्ति शुरू होने के साथ उनकी स्वयं ही तीखी आलोचना हो रही है। कृषि के सहकारी रूपान्तरण के समय पार्टी में ऐसे लोग थे जिन्होंने इसका विरोध किया और जब बुर्जुआ अधिकारों की आलोचना करने का समय आया तो उन्होंने रोष प्रकट किया। आप समाजवादी क्रान्ति को अंजाम दे रहे हैं और फिर भी यह नहीं जानते कि पूँजीपति वर्ग कहाँ बैठा हुआ है। वह ठीक कम्युनिस्ट पार्टी में बैठा हुआ हैसत्ता में बैठे हुए लोग पूँजीवादी रास्ते को अपना रहे हैं। पूँजीवादी पथगामी अभी भी पूँजीवादी रास्ते पर हैं।"** अध्यक्ष माओ का यह

मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी द्वारा की गयी पार्टी लाइन की गलतियों और निर्णयों को उलटने के लिए उसके द्वारा बहाई गयी दक्षिणपंथी विचलनवादी बयार के विचारधारात्मक उद्‌भव और वर्ग मूल में निहित कारणों को महत्वपूर्ण ढंग से इंगित करता है। इसकी ठीक-ठीक वजह यह है कि पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी इस बात को लेकर भयभीत है कि बहुत संभव है समाजवादी क्रान्ति उसकी तीखी आलोचना का कारण बने; उन बुर्जुआ अधिकारों को सीमित करे जिन्हें वे पसन्द करते हैं और उनके बुर्जुआ रवैये और विश्वदृष्टिकोण को प्रभावित कर दे। इसीलिए वह "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" का सिद्धांत परोसने, कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष को अपनाने का विरोध करने, सिद्धान्त के प्रश्न पर अध्यक्ष माओ की शिक्षा को तोड़-मरोड़कर पेश करने और उसके साथ छेड़छाड़ करने और पार्टी के अन्दर एवं बाहर दोनों ही जगहों पर पूँजीपति वर्ग के हितों की हिफाजत करने के सिलसिले में वर्ग संघर्ष के पूरी तरह खत्म हो जाने के सिद्धान्त की हिमायत करने के लिए इन्तजार नहीं कर सकता। वे लोग, जो कि "कम्युनिस्टं" का साइन बोर्ड तो लटकाये रखते हैं लेकिन वास्तव में पूँजीपति वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी करते हैं; मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी धार के सामने पड़ने पर इस बात को लेकर डर जाते हैं कि उनका वर्ग शीघ्र ही मिट जाएगा। वे हर सम्भव तरीके से मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी सारतत्व को विकृत करने और उसे नख-दन्तविहीन बनाने, उसकी क्रान्तिकारी धार को कुन्द करने और उसे पूँजीपति वर्ग की जरूरतों के अनुकूल बनाने की हमेशा कोशिश करते हैं। क्या पार्टी के उस पूँजीवादी पथगामी और उसके "आम कार्यक्रम" ने यही कारनामा नहीं किया है।

क्या चीजें यहीं पर आकर रुक जाती हैं? नहीं। वे लोग, जो कि कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष को अपनाने से इन्कार करते हैं और वर्ग संघर्ष के पूरी तरह से खत्म हो जाने के सिद्धान्त की हिमायत करते हैं; हमेशा से केवल पूँजीपति वर्ग के खिलाफ सर्वहारा के संघर्ष को, न कि सर्वहारा के खिलाफ बुर्जुआ अभियानों को "खत्म कर देना" चाहते रहे हैं। यह तथ्य कि वर्ग संघर्ष का विरोध करते हुए "आम कार्यक्रम" सर्वहारा पर जोरदार हमला बोलता है, वर्ग संघर्ष की इस अभिलाक्षणिक विशेषता को दूसरी किसी भी चीज के मुकाबले ज्यादा बेहतर ढंग से दर्शाता है।

हमारी पार्टी का बुनियादी सिद्धान्त और बुनियादी व्यवहार हमें बताता हैः समाजवाद के समूचे ऐतिहासिक कालखंड का प्रधान अन्तरविरोध सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध होता है; मुख्य खतरा संशोधनवाद है; क्रान्ति का विषय पूँजीपति वर्ग है और निशाने पर हैं पार्टी में सत्ता पर बैठे वे लोग जो कि पूँजीवादी राह अपना रहे हैं। लेकिन इसके बारे में "आम कार्यक्रम" भला क्या कहता है? अति "वाम" विरोध के झंडे को लहराते हुए यह कार्यक्रम कहता है कि "वर्तमान समय में मुख्य समस्या मार्क्सवाद का विरोध करने वाले कुछ ऐसे वर्ग शत्रुओं की समस्या है जो कि लिन प्याओ की विरासत को आगे बढ़ाते हैं; हमेशा हमारे क्रान्तिकारी नारों को उठा लेते हैं और फिर उन्हें तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करते हैं और उन्हें पुंसत्वविहीन बना देते हैं"; यह कि वे "पार्टी के अच्छे काडरों और उन्नत आदर्श व्यक्तित्वों को मंच से बाहर फेंक देते हैं।" यह तो यहाँ तक कहता है कि "यह संघर्ष दो वर्गों, दो रास्तों और दो दिशाओं के बीच के वर्तमान संघर्ष की सान्द्र अभिव्यक्ति है।"

"आम कार्यक्रम" यहाँ "मार्क्सवाद का विरोध करने वाले वर्ग शत्रुओं" की शब्दावली का प्रयोग करता है लेकिन जानबूझकर इसकी वर्गीय अन्तर्वस्तु को छिपा कर रखता है। इसका इशारा किसी तरफ है? पार्टी के पूँजीवादी पथगामियों की तरफ? नहीं। "आम कार्यक्रम" न केवल पार्टी के पूँजीवादी पथगामियों की अवधारणा के बारे में उसी तरह से खामोश है जैसे कि आह क्यू अपने सिर पर उभरे चकत्तों के बारे में रहता है, बल्कि यह दूसरों को भी इसका उल्लेख करने से रोकता है। क्या इसका इशारा जमीन्दारों, धनी किसानों, प्रति क्रान्तिकारियों, बुरे तत्वों और पुराने एवं नये बुर्जुआ तत्वों की तरफ है? नहीं; ऐसा भी नहीं है। क्योंकि "आम कार्यक्रम" साफ-साफ कहता है कि इन लोगों को "मार्क्सवाद का विरोध करने वाले वर्ग शत्रुओं" की अवधारणा में सम्मिलित नहीं किया गया है।

इनकी नजर में वर्ग संघर्ष पर डटे रहना "तीन निर्देशों को कुंजीभूत कड़ी मानने" और इस "एकीकृत समग्र जिसे अलगाया नहीं जा सकता" के खिलाफ जाना है। इस कसौटी पर कसा जाये तो "क्रान्तिकारी नारों को पुंसत्वहीन बना देने वाले" "वर्गशत्रु" वे चीनी कम्युनिस्ट हैं जो अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन पर डटे रहते हैं और वे मार्क्सवादी भी जो कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष को दृढ़ता के साथ अपनाते हैं। बुर्जुआ प्रतिक्रियावादी रवैया अपनाते हुए वे ऐसे सभी क्रान्तिकारी लोगों के ऊपर वर्गशत्रु होने का ठप्पा लगा देते हैं, जो पूँजीपति वर्ग के ऊपर सर्वहारा की तानाशाही पर डटकर अमल कर रहे हैं। वे ऐसा अपने लेखन और व्यवहार दोनों से करते हैं। वे लिन प्याओ की धुर-दक्षिणपंथी संशोधनवादी लाइन को अति "वाम" के रूप में वर्णित करते हैं। इस तरह वे ऐसे संशोधनवाद की आलोचना करने वाले सभी क्रान्तिकारी लोगों को हमले का निशाना बनाने के लिए "लिन प्याओ के लबादे को ओढ़ना" जैसी शब्दावली को प्रयोग में ला सकते हैं। यह दक्षिणपंथी अवसरवाद है। वे महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और लिन प्याओ एवं कन्फ्यूशियस की आलोचना करने के आन्दोलन की भर्त्सना कर सकते हैं और बेशकीमती खजाने के रूप में ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की संशोधनवादी लाइन को अपना सकते हैं। तथाकथित "लिन प्याओ की विरासत को आगे बढ़ाने" (ल्यू शाओ-ची की विरासत को बिल्कुल भी नहीं बढ़ाने!) और "हमारे क्रान्तिकारी नारों को हथियाने, उन्हें तोड़-मरोड़ कर ओजहीन बनाने" हु फेङ की तरह के इस शब्दाडम्बर की नए भू-स्वामियों, धनी किसानों, प्रतिक्रान्तिकारियों, बुरे तत्वों, पुराने और नए बुर्जुआ तत्वों द्वारा; मगरूर पूँजीवादी पथगामियों और ऐसे लोगों द्वारा सराहना की जा सकती है; जो कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के फैसलों का उलट देना और उसके साथ हिसाब बराबर कर लेना चाहते हैं। यह बात उन्हें खुशी से भर देती है क्योंकि यह उनके दिल की बात है।

"आम कार्यक्रम" इसके अलावा वर्ग संघर्ष एवं दो लाइनों के बीच के संघर्ष को भी यह आरोप लगाते हुए हमले का निशाना बनाता है कि वे "हमारी पार्टी के परिष्कृत काडरों और उन्नत आदर्श व्यक्तित्वों को मंच से बाहर फेंक देते हैं।" यह मात्र कपोल कल्पना और कुत्साप्रचार है। पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी ने एक बार कहा थाः "पुराने कार्यकर्ताओ और अनुभवी काडरों के लिए समुचित नीतियों को क्रियान्वित किया जाना चाहिए क्योंकि एकदफा आन्दोलन शुरू हो

जाने पर यह प्रायः उन्हें चोट पहुँचाता है।" "आम कार्यक्रम" में कहे गए शब्दों की यहाँ से नकल उतारी गयी है। "एक दफा आन्दोलन शुरू हो जाने पर" की शब्दावली हमारी पार्टी द्वारा विगत में लाइन के सम्बन्ध में लड़ी गई सभी महत्वपूर्ण लड़ाइयों पर लागू होती है; और इन सभी संघर्षों का पूर्णतया निषेध कर दिया गया है। पूछा जा सकता हैः क्या यह सही है कि चेन तू-सिङ, ली ली सान, चु चिङ-पाइ, लो चांङ-लुंङ, वांङ मिङ और चांङ कुओ ताओ की आलोचना करने का अर्थ काओ कांङ, पेंङ ते-हुआई, ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की आलोचना करने पर; "एक बार आन्दोलन शुरू हो जाने पर", सभी अनुभवी काडर और पुराने कार्यकर्ता "आहत" हो गये थे। क्या उन सभी लोगों ने "पार्टी के परिष्कृत काडरों और उन्नत आदर्श व्यक्तित्वों को मंच से बाहर फेंक दिया"? क्या यह अध्यक्ष माओ के नेतृत्व में हमारी पार्टी द्वारा चलाई गई महान सांस्कृतिक क्रान्ति समेत राजनीतिक आन्दोलनों की श्रृंखला को तोड़ना-मरोड़ना और कुत्साप्रचार नहीं है? यहाँ, "आम कार्यक्रम" अध्यक्ष माओ और उनकी सर्वहारा क्रान्तिकारी दिशा की ओर निशाना साधकर अपनी प्रतिक्रियावादी विशेषताओं को पूरी तरह उघाड़ कर रख देता है। हम कहते हैंः "एक बार आन्दोलन के शुरू हो जाने पर," यह तय है कि यह लोगों को "आहत" करेगा। लेकिन वे लोग जिन्हें यह "प्रायः आहत" करता है अनुभवी पुराने काडर और कार्यकर्ता नहीं होते, बल्कि वे लोग होते हैं संशोधनवादी दिशा के "पुराने" सरदार और वह गलत लाइन होती है जिसे वे आगे बढ़ाते हैं। अगर हम उनकी गलत लाइन के खिलाफ संघर्ष नहीं चलाते तो हमारी पार्टी विकसित नहीं हुई होती और न ही वह समूचे राष्ट्र के लोगों को जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में विजयोल्लास के साथ प्रवेश करने के लिए ले गई होती और हम इस लायक नहीं हुए होते कि कम्युनिज्म की तरफ लगातार आगे बढ़ते रह सकें। इसकी ठीक-ठीक वजह यह है कि "एक बार आन्दोलन के शुरू हो जाने पर" वह संशोधनवादी लाइन को "चोट" पहुँचाएगा, जिसके बारे में पार्टी के पश्चातापरहित पूँजीवादी पथगामी सोचकर दुखी होते हैं और फैसलों को उलटना तथा हमारी पार्टी के इतिहास को फिर से लिखना चाहते हैं। बहरहाल; इसे तो महज मन के लड्डू ही बने रहना है!

पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी उन्मत्त होकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के फैसलों को उलटने की कोशिश करता है और उसके साथ हिसाब-किताब बराबर करता है तथा अपने "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को मानने" के द्वारा सभी क्षेत्रों में पुनर्स्थापना सम्बन्धी गतिविधियों को चलाने का प्रयास करता है। वह "फिर से मेल बैठाने" के लिए बारम्बार चिल्लाकर माँग करता है। "फिर से मेल" कैसे बिठाया जाये? "आम कार्यक्रम" साफ-साफ कहता हैः "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" के द्वारा "सभी क्षेत्रों में कामों को पुनः व्यवस्थित करना" आवश्यक है। "फिर से मेल बैठाने" की जरूरत उद्योग, कृषि, संचार और परिवहन, वित्त एवं व्यापार, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी, संस्कृति, शिक्षा और स्वास्थ्य, साहित्य एवं कला, सेना के साथ-साथ पार्टी में भी है। **बाप रे बाप!** नौ प्रमुख "पुनः समायोजन"! आर्थिक मूलाधार से लेकर अधिरचना तक; पार्टी के भीतर से लेकर उसके बाहर तक, इलाकों से लेकर केन्द्र तक सबकी स्थिति खराब है और उसे "पुनः समायोजित" करना होगा; और छोटी से छोटी चीज को भी फन्दे से बच निकलने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। हम भी कहते हैं कि कतिपय क्षेत्रों में कुछ कार्य पुनः समायोजित किये जाने चाहिए, लेकिन इसका उद्देश्य अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन, सिद्धान्त और नीतियों को और ज्यादा क्रियान्वित करना और अपना काम बेहतर ढंग से निपटाना होना चाहिए। तब फिर वह सर्व-समावेशी "पुनः समायोजन" क्या है; जिसे कि पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी करना चाहता है? शिक्षा; विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, साहित्य एवं कला और स्वास्थ्य की तरह के क्षेत्रों में पंच फैसलों को उलटने के लिए चली दक्षिणपंथी विचलनवादी बयार को शिकस्त देने के संघर्ष के जरिये हम बिल्कुल साफ-साफ देख चुके हैं कि वह सांस्कृतिक क्रान्ति के पंच फैसलों को उलट देने और उसके साथ दुश्मनी निकालने तथा ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की संशोधनवादी लाइन के पास वापस जाने के लिए "पुनः समायोजन" को उपयोग में लाना चाहता है। चौतरफा "पुनः समायोजन" के आह्वान के जरिये वह वास्तव में प्रतिशोध लेने के लिए पूरी शक्ति से जवाबी हमला शुरू करना चाहता है, जिसका मतलब हर तरफ से पूँजीवाद की पुनर्स्थापना करना होता है।

अगर, जैसा कि "आम कार्यक्रम" कहता है, कुछ लोग "संशोधनवाद विरोधी बैनर को लहराते हुए संशोधनवादी आचरण करते हैं और पुनर्स्थापना विरोधी बैनर को लहराते हुए पुनर्स्थापना को कार्यान्वित करते हैं;" तो यह पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी और "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को मानने" के उसके "आम कार्यक्रम" आत्म-रूपचित्र से अधिक कुछ नहीं है।

III.

राजनीति एवं अर्थशास्त्र के बीच के और क्रान्ति एवं उत्पादन के बीच के रिश्ते के प्रश्न पर भी "आम कार्यक्रम" अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं को पूरी तरह से तोड़ मरोड़ कर पेश करता है और उसके साथ छेड़छाड़ करता है। आर्थिक क्षेत्र में वर्ग संघर्ष और समाजवादी क्रान्ति का कोई उल्लेख नहीं करके यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को उत्पादक शक्तियों के संशोधनवादी सिद्धान्त को दायरे में ले जाता है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं, हालांकि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की प्रणाली के समाजवादी रूपान्तरण का काम हमारे देश में मुख्यतया पूरा कर लिया गया है लेकिन यह काम अभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है। यहाँ तक कि उन क्षेत्रों में भी जहाँ पर समाजवादी रूपान्तरण का काम चलाया जा रहा है; रूपान्तरण और रूपान्तरण विरोध के बीच और पुनर्स्थापना और पुनर्स्थापना विरोध के बीच तीखा संघर्ष अभी भी बना हुआ है। मनुष्यों और वितरण के बीच के सम्बन्धों के विषय में समाजवादी क्रान्ति को गहरा बनाते जाने का प्रश्न अभी बना हुआ है। लिहाजा; समाजवादी निर्माण के काम को अंजाम देते हुए हमें अवश्य ही उत्पादन के सम्बन्ध में विभिन्न समस्याओं को हल करने की कोशिश करनी चाहिए और अधिरचना में क्रान्ति को बेहतर तरीके से चलाने के लिए काम करना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि हमें अवश्य ही कुंजीभूत कड़ी के रूप में वर्ग संघर्ष को आत्मसात करना चाहिए, क्रान्ति को आत्मसात करना और उत्पादन को बढ़ाना चाहिए। चूंकि आम कार्यक्रम "**क्रान्ति को आत्मसात करो और उत्पादन को बढ़ाओ"** की सही नीति का विरोधी है इसलिए यह महान सांस्कृतिक क्रान्ति पर पूरी शक्ति से हमला करता है। "आम कार्यक्रम" कहता है कि सांस्कृतिक क्रान्ति

के शुरू होने के समय से केवल राजनीति की तरफ न कि अर्थशास्त्र की तरफ, केवल क्रान्ति की ओर न कि उत्पादन की ओर ध्यान दिया जा रहा है। जो कोई भी उत्पादन पर पकड़ बनाने की जरूरत का उल्लेख करता है और आर्थिक निर्माण का बेहतरीन काम करता है, उसे 'उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त' को बढ़ावा देने और संशोधनवाद पर अमल करने का दोषी ठहरा दिया जाता है। उत्पादक शक्तियों के संशोधनवादी सिद्धान्त का समर्थन करने के सिलसिले में इस तरह का हमला "आम कार्यक्रम" के प्रतिक्रियावादी रवैये को सुस्पष्ट ढंग से बेनकाब कर देता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के समय से क्रान्तिकारी जनता ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ द्वारा प्रचारित उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त की आलोचना समेत उनकी संशोधनवादी दिशा की क्रान्तिकारी जन आलोचना पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा को लागू करती आई है। इस तरह की जन आलोचना पूँजीवादी पुनर्स्थापना को चूर-चूर कर देने के लिए सर्वहारा द्वारा चलाया जा रहा वर्ग संघर्ष है। "केवल राजनीति पर न कि अर्थशास्त्र पर, केवल क्रान्ति पर न कि उत्पादन पर ध्यान दिया गया है," के रूप में "आम कार्यक्रम" इसी चीज की झूठी निन्दा करता है। बहरहाल, बहुतेरे जीवन्त तथ्य दर्शाते हैं कि महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति चीन की उत्पादक शक्तियों के विकास में शक्तिशाली प्रेरक शक्ति का काम कर रही है। संशोधनवादी दिशा और उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त की जनता की आलोचना ने समाजवादी उत्पादन के विकास को बड़े पैमाने पर बढ़ावा दिया है और ठोस नतीजे प्रदान किये हैं। क्या जन समूहों के लिए ल्यू शाओ-ची एवं लिन प्याओ और उनकी तरह के लोगों के ऊपर "संशोधनवादी" और "उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त को बढ़ावा देने वाले" का ठप्पा लगाना सही है? पूरी तरह से सही है। ये दोनों ठप्पे बिल्कुल उपयुक्त हैं और उन्हें हटाया नहीं जाना चाहिए! लेनिन ने ठीक ही कहा हैः "**संशोधनवाद का निषेध अपने स्वयं के संशोधनवाद पर पर्दा डालने की ओर लक्षित होता है।**" पार्टी के उस मगरूर पूँजीवादी पथगामी और उसके "आम कार्यक्रम" द्वारा उत्पादक शक्तियों के संशोधनवादी सिद्धान्त की आलोचना का निषेध ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ की विरासत को आगे बढ़ाने, उत्पादक शक्तियों की प्रतिक्रान्तिकारी संशोधनवादी लाइन और सिद्धान्त को लगातार आगे बढ़ाते जाने की ओर लक्षित है।

यह कहना कि हम "सिर्फ राजनीति की तरफ लेकिन अर्थशास्त्र की ओर नहीं, सिर्फ क्रान्ति की ओर लेकिन उत्पादन की ओर ध्यान नहीं" देते हैं; और कुछ नहीं बल्कि काले एवं सफेद और सही एवं गलत के बीच भ्रम उत्पन्न करना है। पूछा जा सकता है जब 80 करोड़ लोग अपने स्वयं के प्रयत्नों पर निर्भर रहकर अपना खुद का खाद्यान्न उपजाते हैं और अपना स्वयं का कपड़ा तैयार करते हैं और आत्मनिर्भरता के आधार पर स्वतंत्र राष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली स्थापित करते हैं; और जब वे साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद द्वारा खड़े किये गए आर्थिक अवरोधों और भयादोहन को चूर-चूर कर देते हैं; तो क्या वे "अर्थशास्त्र की तरफ ध्यान नहीं देते" और "उत्पादन की ओर ध्यान नहीं देते"? जन समूहों द्वारा उपजाये गए खाद्यान्नों को खाकर, जनसमूहों द्वारा तैयार किये गए कपड़ों को पहनकर और जनसमूहों द्वारा निर्मित घरों में रहकर भी इस तरह की वाहियात बातें होती हैं कि "अर्थशास्त्र और उत्पादन की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया जाता"। यह वास्तव में हमारी पार्टी और एक लम्बे समय से औद्योगिक और कृषि उत्पादन की अगली कतार में जूझ रहे विशाल जनसमूहों और काडरों के खिलाफ निर्लज्ज कुत्साप्रचार है!

मार्क्सवाद और उत्पादक शक्तियों के संशोधनवादी सिद्धान्त के बीच अन्तर इस प्रश्न को लेकर नहीं है कि उत्पादन पर पकड़ कायम रखना और आर्थिक निर्माण के क्षेत्र में अच्छा काम करना आवश्यक है या नहीं। मार्क्सवाद हमेशा से उत्पादक शक्तियों के विकास को भारी महत्व देता आया है; लेकिन इसके साथ-साथ उसका यह कहना भी रहा है कि उत्पादक शक्तियों के विकास को उत्पादन सम्बन्धों और अधिरचना में सुधार से अलग नहीं किया जा सकता और यह कि केवल क्रान्ति पर पकड़ बनाये रखकर ही उत्पादन को बढ़ावा देना संभव होगा। और उत्पादन सम्बन्धों में समायोजन उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा। मनुष्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्पादक शक्ति है। जब तक सर्वहारा की राजनीति कमान में रखी जाती है और समाजवाद के लिए मनुष्य का उत्साह सामाजिक दशाओं के तहत पूरी तरह से जाग्रत होता है; तब तक उत्पादन तेज रफ्तार से बढ़ेगा। अलबत्ता, उत्पादक शक्तियों का सिद्धान्त अधिरचना और उत्पादन सम्बन्धों में वर्ग संघर्ष और समाजवादी क्रान्ति को समाप्त कर देता है। वह उत्पादन के विकास को एकमात्र निर्णायक चीज मानता है। यह है इस मसले का मूल प्रश्न। अगर हम, जैसा कि पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी हिमायत करता है; स्वयं को वर्ग संघर्ष और क्रान्ति पर ध्यान दिये बगैर केवल उत्पादन और निर्माण के प्रति समर्पित कर देते हैं और संशोधनवाद को व्याप्त होने और पूँजीवाद को बहाल होने देते हैं; तो विकसित अर्थव्यवस्था, उत्पादन और "चार आधुनिकीकरण" सर्वहारा और श्रमजीवी जनता का उत्पीड़न करने वाली और उसे गुलाम बनाने वाली भौतिक ताकतें बन जाएंगे। यही वजह है कि; अक्टूबर क्रान्ति की विजय के बाद लेनिन ने पार्टी और जनता को बार-बार याद दिलाया था कि **"हमारे ध्यान और गतिविधियों का 90 फीसदी हिस्सा इस बुनियादी मसलेपूँजीपति वर्ग को उखाड़ फेंकने, सर्वहारा की राजनीतिक सत्ता स्थापित करने और पूँजीवादी पुनर्स्थापना की समस्त संभावनाओं को समाप्त करने पर केन्द्रित है और उसे ऐसा होना चाहिए।"**

जब पार्टी का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी और उसका "आम कार्यक्रम" दूसरे लोगों को "अर्थशास्त्र की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं देने" और "उत्पादन की तरफ तनिक भी ध्यान नहीं देने" के लिए इतने उत्साह के साथ हमले का निशाना बनाता है तो क्या उसकी दिलचस्पी वास्तव में समाजवादी उत्पादन में होती है? नहीं! उसकी एकमात्र दिलचस्पी पूँजीवादी उत्पादन में; उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों को खतरे में डालने और उत्पादक शक्तियों में होती है। उसकी निगाह में, "उत्पादन के क्षेत्र में बढ़िया काम करना" वास्तव में उस चीज की बहाली करने की ओर लक्षित होता है; जो कि पूँजीवाद से ताल्लुक रखती है। यह बात "आम कार्यक्रम" के उपक्रम प्रबन्धन पर लिखे हिस्से से स्पष्ट रूप से उद्घाटित होती है। "आम कार्यक्रम" कहता हैः "उत्पादन और टेक्नोलॉजी के विकास का अनुसरण करते हुए, नियम-कानून ज्यादा से ज्यादा सख्त होते जाएंगे; लोगों के लिए इन नियम-कानूनों का सख्ती से पालन करना लाजिमी हो जाएगा।" "ऐसा केवल पूँजीवादी समाज में ही नहीं होता, बल्कि समाजवादी समाज में भी होता है और भविष्य के कम्युनिस्ट समाज में भी ऐसा ही होगा।"

उपर्युक्त विचार नियम-कानूनों के वर्गीय चरित्र का पूर्णतया निषेध करते हैं और समाजवाद एवं कम्युनिज्म और पूँजीवाद के बीच के सारभूत अन्तर की अनदेखी करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं; नियम और कानून उत्पादन में मानव सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करते हैं और उनकी साफ-साफ वर्गीय प्रकृति होती है। पूँजीवादी समाज में आर्थिक क्षेत्रों के नियम-कानून मजदूर वर्ग और श्रमजीवी जनता का उत्पीड़न करते हैं और उसे लूटते-खसोटते हैं। हम समाजवादी देश हैं, जिसका मालिक मजदूर वर्ग और श्रमजीवी जनता है। हम समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास के मुआफिक पड़ने वाले नियम-कानूनों को बनाने में मजदूर वर्ग और श्रमजीवी जनता पर निर्भर रहने के पक्ष में हैं। हम अराजकता का विरोध करते हैं; और इसके अलावा बुर्जुआ तानाशाही को अमल में लाकर मज़दूरों और श्रमजीवी जनता के "नियंत्रण, पाबन्दी और दमन" के भी खिलाफ हैं। "आनशान लोहा एवं इस्पात कम्पनी का संविधान", जिसे अध्यक्ष माओ ने व्यक्तिगत रूप से मंजूरी प्रदान की थी; उन बुनियादी सिद्धान्तों को ठोस तरीके से व्यक्त करता है, जिनका समाजवादी उपक्रमों के नियम-कानूनों को अनुसरण करना चाहिए। फिर भी; "आम कार्यक्रम" इस बारे में कुछ नहीं कहता; इसके बजाय वह "बढ़ते पैमाने पर सख्त होते जाते" नियम-कानूनों को तैयार करने की जरूरत पर हाय-तौबा मचाता है। पूँजीवाद के आर्थिक क्षेत्रों में नियम-कानून वाकई बेहद सख्त और कठोर होते हैं। मजदूर शौचालय जाने में जो समय लगाते हैं उसे भी ध्यान में रखा जाता है और अगर वे दी गयी समय-सीमा से ज्यादा वक्त लगाते हैं तो उन्हें नाना तरीकों से दंडित किया जाता है। अलबत्ता; "आम कार्यक्रम" इस तरह के नियम-कानूनों को वर्ग और समय से परे किसी चीज के रूप में देखता है और यह दावा करता है कि ऐसा केवल पूँजीवादी समाज में ही नहीं बल्कि समाजवादी और कम्युनिस्ट समाजों में भी होता है। अगर यह पूँजीवाद की बहाली के लिए आह्वान नहीं, तो फिर क्या है? अगर यह मजदूर वर्ग और श्रमजीवी जनता के ऊपर तानाशाही के लिए चीख-पुकार मचाना नहीं है, तो फिर क्या है? अगर हम इसे पार्टी के उस पूँजीवादी पथगामी के दूसरे कथनों और कृत्यों से जोड़ें तो हम और भी ज्यादा स्पष्टता के साथ यह देख पाएंगे कि वह कारण जिसकी वजह से वह "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" का प्रस्ताव रखता है और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को भी कुंजीभूत कड़ी" मानता है; यह है कि वह "सफेद बिल्ली और काली बिल्ली के बीच के अन्तर की उपेक्षा करने" और साम्राज्यवाद एवं मार्क्सवाद के बीच के अन्तर की उपेक्षा करने की अपनी संशोधनवादी लाइन पर अमल करना चाहता है। यह ऐसी लाइन है जो कि वास्तव में पूँजीवाद को पसन्द करती है न कि समाजवाद को।

"कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" को मार्क्सवादी शब्दावली में पेश किया गया है और इसे सारसंग्रहवादी बाजीगरी द्वारा गढ़ा गया है। यह छल-छद्म से भरा और प्रतिक्रियावादी संशोधनवादी कार्यक्रम है। इसके अलावा "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" को प्रचारित करने के साधन के तौर पर "आम कार्यक्रम" इस अभिलाक्षणिक विशेषता को भी प्रतिबिम्बित करता है। यह काफी बड़ा गड़बड़झाला है जो कि सैद्धान्तिक रूप से बहुत ही खराब, कार्यनीति में बहुत बुरा; विखण्डनकारी; तर्क में दिग्भ्रमित करने वाला और विचारधारा में परस्पर विरोधी है। लेकिन यह "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" के प्रतिक्रियावादी सारतत्व को और अधिक समझने और उसकी आलोचना करने में हमारी मदद करता है। इस बिन्दु पर, नकारात्मक उदाहरण द्वारा यह मूल्यवान शिक्षण सामग्री प्रदान करता है।

"कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" की गहराई से आलोचना करना हमारे लिए मार्क्सवाद का समर्थन करने, संशोधनवाद का मुकाबला करने, समाजवाद से जुड़े रहने और पूँजीवाद का विरोध करने में भारी महत्व का है। कोई राजनीतिक कार्यक्रम लम्बा शोध-प्रबन्ध या महज सामान्य रूपरेखा हो सकता है। लेकिन यह चाहे लम्बा शोध-प्रबन्ध हो या संक्षिप्त रूपरेखा; यह निरपवाद रूप से इस सैद्धान्तिक प्रश्न से जुड़ा रहता है कि व्यवहार में मार्क्सवाद पर अमल करना है या संशोधनवाद पर। इसमें यह प्रश्न भी समाहित है कि सर्वहारा की राजनीतिक पार्टी के सैद्धान्तिक आधार को बनाये रखना है या उसका विरोध करना है। सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के शिक्षकों ने सर्वहारा के राजनीतिक कार्यक्रम की सैद्धान्तिक प्रकृति और शुद्धता को सदैव ही भारी महत्व प्रदान किया है, सभी तरह के अवसरवादी और संशोधनवादी कार्यक्रमों के खिलाफ समझौताविहीन संघर्ष में सदैव दो-टूक रवैया अपनाया है और राजनीतिक और विचारधारात्मक तौर पर उनकी गहरी और मुकम्मल आलोचना की है और सर्वहारा के क्रान्तिकारी ध्येय के लिए सही दिशा को इंगित किया है। **गोथा कार्यक्रम** की आलोचना करते हुए मार्क्स ने कहा थाः **"यह मेरा कर्तव्य है कि मैं उस कार्यक्रम को मान्यता नहीं दूँ; यहाँ तक कि कूटनीतिक खामोशी के द्वारा भी नहीं; जो कि मेरी राय में पार्टी का मनोबल गिराने वाला पूरी तरह से आपत्तिजनक कार्यक्रम है।"** उस समय जब अवसरवादी ड्यूहरिंग पार्टी के सैद्धान्तिक आधार का विरोध करने के लिए उभर कर सामने आया तो एंगेल्स ने उसकी आलोचना करने का इरादा किया, और मार्क्स की सहायता से उन्होंने दृढ़तापूर्वक **"इस पाजीड्यूहरिंग से निपटने के लिए हर चीज को दरकिनार कर दिया।"** मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक आधार से जुड़े सवाल पर हमें अवश्य ही गंभीर जुझारू रुख अपनाना चाहिए। ऐसा इसलिए कि सैद्धान्तिक आधार के प्रश्न पर त्रुटिपूर्ण विचार या नारे प्रायः मार्क्सवाद से पूर्णतया गद्दारी करने; संशोधनवाद के बुरे रास्ते की ओर ले जाते हैं। जब ख्रुश्चेव ने "शान्तिपूर्ण संक्रमण" की संशोधनवादी लाइन प्रस्तुत की तो अध्यक्ष माओ ने धारदार शब्दों में इंगित किया थाः **"क्या अक्टूबर क्रान्ति अभी भी अच्छी हालत में है? क्या इसे अभी भी दूसरे सभी देशों के लिए आदर्श के तौर पर लिया जा सकता है? सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की 20वीं कांग्रेस में पेश की गई ख्रुश्चेव की रिपोर्ट कहती है कि राजनीतिक सत्ता संसदीय रास्ते के जरिये हथियाई जा सकती है। तात्पर्य यह हुआ कि दूसरे देशों को अक्टूबर क्रान्ति से सीखने की जरूरत नहीं। एक दफा इस दरवाजे के खुल जाने पर लेनिनवाद से मूलतः पिंड छुड़ा लिया जाएगा।"** जब ल्यू शाओ-ची ने समाजवादी शिक्षा आन्दोलन के दौरान तथाकथित "चार स्वच्छों और चार अस्वच्छों के बीच के अन्तरविरोध" को प्रस्तुत किया, तो अध्यक्ष माओ को लगा कि यह प्रधान अन्तरविरोध के रूप में सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच अन्तरविरोध को खारिज करने और इस सैद्धान्तिक प्रश्न की अनदेखी करने का प्रयास है कि समाजवादी समाज में अभी भी वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध और वर्ग संघर्ष बने हुए हैं।

(शेष पृष्ठ 81 पर)

चीन में माओवादियों को पर्चे बाँटने पर तीन वर्ष की जेल

जब दो उदारवादी लेखकों ल्यू जियाओबो और यू जी को चीनी पुलिस ने पिछले वर्ष थोड़े समय के लिए हिरासत में लिया था तो दुनियाभर के मीडिया में इसकी निंदा का शोर मच गया था। इन लेखकों द्वारा इराक पर अमेरिकी हमले का समर्थन करने के कारण बुर्जुआ मीडिया की आँखों में वे और भी बड़े नायक थे। लेकिन विरोध के दमन के एक और भी बड़े मामले को पूंजीवादी मीडिया ने चुपचाप दबा दिया है। इसमें हैरानी की कोई बात नहीं है क्योंकि यह असली कम्युनिस्टों द्वारा चीन के नकली कम्युनिस्ट शासकों के विरोध का मामला है।

पिछले वर्ष 21 दिसम्बर को चीन के झेंगझाउ शहर में चार माओवादियों पर इसलिए मुकदमा चलाया गया क्योंकि उन्होंने ऐसे पर्चे बाँटे थे जिनमें चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना की निन्दा करते हुए "समाजवादी राह" की ओर वापसी के लिए जनता का आह्वान किया गया था। ये पर्चे माओ त्से-तुङ के निधन की 28वीं बरसी पर झेंगझाउ के एक पार्क में आयोजित कार्यक्रम में बाँटे गये थे। दो माओवादियों, झांग झेंगयाओ और झांग रुक्वान को मानहानि का दोषी ठहराया गया और 24 दिसम्बर 2004 को तीन वर्ष के कारावास की सजा सुना दी गई।

चीन में बड़ी संख्या में लोगों ने इन माओवादियों के प्रति एकजुटता दिखाई। चीनी शासकों के घोर दमनकारी तंत्र के कारण खुलकर सामने आने वाले लोग तो कम ही थे लेकिन अनेक चीनी वामपंथी वेबसाइटों पर न केवल इस घटना की तीखी निंदा की गई बल्कि उस पर्चे और उसके संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद को भी जारी किया गया।

झेंगझाउ पिछले कुछ वर्षों में रैडिकल माओवाद का केंद्र बन गया है। पिछले कई वर्षों में यहां मजदूरों के अनेक बेहद जुझारू विरोध प्रदर्शन हुए हैं और माओ की जन्मतिथि के मौके पर पुलिस के साथ माओवादियों की लगभग हर साल झड़पें होती रही हैं।

बाजार समाजवाद की माला जपते हुए चीनी शासक वर्ग अंधाधुंध पूंजीवादी विकास की जिस राह पर बढ़ रहा है उसके चलते चीन में वर्ग-अन्तरविरोध दिन-ब-दिन तीखे होते जा रहे हैं। माओ को बदनाम करने की तमाम कोशिशों के बावजूद मजदूर वर्ग के ये गद्दार चीनी जनता के दिलों से उस क्रान्तिकारी अतीत की यादों को नष्ट कर पाने में नाकाम रहे हैं जब अध्यक्ष माओ के नेतृत्व में चीनी जनता समाजवाद के निर्माण की गौरवशाली राह पर आगे बढ़ रही थी। आज भी चीन में अनेक भूमिगत माओवादी संगठन काम कर रहे हैं इसके संकेत छिटपुट खबरों में मिल जाते हैं। तिएन आन-मेन चौक पर हुए जिस विशाल प्रदर्शन को पश्चिमी शैली के लोकतंत्र समर्थकों के प्रदर्शन के रूप में बुर्जुआ मीडिया पेश करता रहता है, उसमें भी बड़े पैमाने पर माओवादी कार्यकर्ता शामिल थे। माओ की तस्वीरें लिए हुए प्रदर्शनकारियों की तस्वीरों को बुर्जुआ मीडिया में तो बड़ी सफाई से गायब कर दिया गया है लेकिन कुछ क्रान्तिकारी अखबारों में उन्हें प्रकाशित किया गया था। कुछ वर्ष पूर्व ऐसी खबरें आई थीं कि चीन के अनेक देहाती इलाकों में किसानों ने अपने कम्यून भंग करने की सरकारी कोशिशों का प्रतिरोध किया और अनेक इलाकों में माओ त्से-तुङ की मूर्तियां लगाने की एक लहर सी चल पड़ी है।

माओ त्से-तुङ ने कहा था कि अगर पूंजीवादी पथगामी तख्ता पलट करके सत्ता हथियाने में कामयाब भी हो गये तो वे एक पल भी चैन से नहीं बैठ पायेंगे। झेंगझाउ की घटना पानी में डूबे विशाल हिमखंड का सतह पर दिखता हुआ छोटा सा सिरा भर है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में तपकर निकली चीन के क्रान्तिकारियों की पीढ़ी को पार्टी से भले ही निकाल दिया गया हो, पर वह खत्म नहीं हो सकती।

हम यहां झेंगझाउ में बाँटे गये उस पर्चे का संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्पादक

माओ त्से–तुङ हमेशा हमारे नेता रहेंगे!

माओ त्से–तुङ के निधन की 28वीं बरसी पर जारी वक्तव्य

अध्यक्ष माओ हमें छोड़कर गये, तब से 28 वर्ष बीत चुके हैं। पिछले 28 वर्षों में, हमारी पार्टी के भीतर के पूँजीवादी पथगामियों की अगुवाई में प्रतिक्रियावादी ताकतों ने राज्य और पार्टी की सत्ता पर कब्जा कर लिया है और राज्य की परिसंपत्तियों का आपस में बँटवारा कर लिया है। इसी बीच, वे माओ त्से-तुङ अैर उनकी समाजवादी विरासत के बारे में गहरी नफरत और जहर फैलाने में जुटे रहे हैं। उन्होंने माओ त्से-तुङ पर हमला करने और उन्हें बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। इसके लिए उन्होंने पार्टी के तरह-तरह के प्रस्ताव गढ़ने, आधिकारिक दस्तावेज और रिपोर्टें जारी करने, और सरकारी समाचार माध्यमों में लेख तथा संपादकीय छपवाने जैसे हथकंडों का इस्तेमाल किया है। और तो और, माओ त्से-तुङ पर कीचड़ उछालने के लिए उन्होंने "डेमोक्रेसी वॉल" पर पोस्टर लगवाने, अफवाहों और घुमा-फिराकर कही गयी बातों, निजी संस्मरणों और विदेशी पत्रकारों को इंटरव्यू जैसे घटिया तौर-तरीकों का भी इस्तेमाल किया है।

लेकिन चीनी जनता की भारी बहुसंख्या, जो, आबादी के 95 प्रतिशत से ज्यादा है, खासकर मजदूर और किसान, हमेशा माओ त्से-तुङ के साथ खड़े रहेंगे। माओ त्से-तुङ के नेतृत्व में, पार्टी, सरकार और सेना के काम का निर्देशन करने वाला बुनियादी सूत्र थाजनता की तहेदिल से सेवा करो। उन्होंने सभी पार्टी सदस्यों और सभी कैडरों का बार-बार आह्वान किया कि हमेशा जनदिशा पर अमल करें और 95 प्रतिशत जनता के पक्ष में खड़े हों। उन्होंने जोर देकर कहा था

कि : “जन दिशा पर अमल करना मार्क्सवाद का बुनियादी उसूल है।” जीवनभर, अपनी अंतिम साँस तक, वे जनता की मुक्ति के लिए लड़ते रहे।

अपने प्रत्यक्ष अनुभव से चीनी जनता ने यह समझा कि माओ त्से-तुङ और वह एक-दूसरे के साथ नजदीकी से जुड़े हैं, अच्छे और बुरे समय में, जीत और हार में! जब माओ त्से-तुङ उनके नेता थे, तो चीनी जनता देश की स्वामी थी और उसे अनुल्लंघनीय लोकतांत्रिक अधिकार हासिल थे। चीनी जनसमुदाय आत्मविश्वास और आशाओं से भरा सुखी जीवन जी रहा था और बेहतर भविष्य सुनिश्चित लग रहा था। लेकिन माओ त्से-तुङ के निधन के बाद चीन के मेहनतकश वर्ग को बुर्जुआ वर्ग ने रातोरात सत्ता से हटा दिया। अब वे अपने देश के स्वामी नहीं रह गये हैं।

“चीनी विशेषताओं के साथ समाजवाद” वाले इस समाज में धन का मतलब है ताकत और सामाजिक हैसियत। संपत्ति के ध्रुवीकरण ने मेहनतकश लोगों को गरीबी में धकेल दिया है। परिणामस्वरूप, वे उस सामाजिक हैसियत और उन सभी अधिकारों को खो चुके हैं जो पहले उन्हें हासिल थे। अब वे सम्मानित समाजवादी श्रमिक नहीं हैं; इसके बजाय, अब उन्हें जिंदा रहने के लिए अपनी श्रमशक्ति को माल की तरह बेचना पड़ता है। वे ऐसे औजार बन गये हैं जिन्हें पूँजीपति आसानी से खरीद सकते हैं। मेहनतकश लोगों का एक हिस्सा तथाकथित राजकीय स्वामित्व वाले उद्यमों में काम करता है, लेकिन ‘राजकीय स्वामित्व’ शब्द का वास्तविक अर्थ पूँजीपतियों का स्वामित्व हो गया है क्योंकि पूरे राज्य पर पूँजीपति वर्ग का स्वामित्व है। श्रमिक अब अपने लिए काम नहीं कर रहे; वे पूँजीपति वर्ग के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करने के लिए काम कर रहे हैं। मेहनतकश लोगों का दूसरा हिस्सा बड़े और छोटे पूँजीपतियों का गुलाम बना दिया गया है। उन्हें और भी क्रूर शोषण-उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। इसके अलावा, दसियों करोड़ मजदूर और किसान बार-बार छँटनी और अपनी जगह-जमीन से उजड़ने के कारण किसी तरह से गुजारा कर रहे हैं। वे लगातार काम की तलाश में यहाँ से वहाँ भटकते रहते हैं और बस जिंदा रहने के लिए जूझते रहते हैं। अपने और अपने परिवार के गुजारे के लिए उनके पास अपने श्रम के सिवा और कुछ नहीं है।

काम के अधिकार की अब कोई गारंटी नहीं है। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सांस्कृतिक गतिविधियों, खेलकूद और कानूनी सहायता के बाजारीकरण के परिणामस्वरूप अपने बच्चों को स्कूल भेजने के अधिकार, स्वास्थ्य सुविधाएं पाने का अधिकार, पेंशन का अधिकार और वृद्धावस्था से जुड़े अन्य अधिकार, सांस्कृतिक, मनोरंजनपूर्ण और खेलकूद संबंधी गतिविधियों में हिस्सा लेने का अधिकार, और यहां तक कि कानूनी संरक्षण का अधिकार भी उनसे छीना जा चुका है। और तो और, पूँजीपति वर्ग द्वारा किये जा रहे अंधाधुंध विकास के कारण होने वाली संसाधनों की बर्बादी और पर्यावरण प्रदूषण के कारण मेहनतकश जनता स्वस्थ भोजन, साफ पानी और हवा तक का अधिकार खो चुकी है। गरीबी ने उन पर अकथनीय दुख-तकलीफों का पहाड़ लाद दिया है।

इस तरह, साफ तौर पर एक रेखा खींची जा चुकी है। माओ त्से-तुङ चीनी मेहनतकश वर्ग के नेता हैं; वह 95 प्रतिशत से अधिक चीनी जनता के नेता हैं। साम्राज्यवादी, संशोधनवादी और बुर्जुआ तथा चीन के भीतर और बाहर की सभी प्रतिक्रियावादी ताकतें, माओ त्से-तुङ का विरोध करती हैं और उनसे नफरत करती हैं, जबकि जनता उनसे प्यार करती है। उनके निधन के बाद से जितना समय बीतता जा रहा है, उनके दुश्मन उतने ही तीखेपन से उनका विरोध कर रहे हैं, और जनता उतनी ही ज्यादा गहराई, अडिगता, सच्चाई और उत्कटता के साथ उनसे प्यार करती है। यह वाकई हास्यास्पद है कि माओ त्से-तुङ का विरोध करने वाले और जनता के खिलाफ खड़े लोग माओ त्से-तुङ पर फैसला सुनाते हैंबेशक जनता इसे सिरे से खारिज कर चुकी है। पिछले कुछ वर्षों में चीन में बार-बार उभरने वाली “माओ त्से-तुङ के ताप” की लहर ने माओ त्से-तुङ पर फैसला सुनाने वाले दो आधिकारिक “प्रस्तावों” को पुरजोर ढंग से गलत साबित कर दिया है। ये “प्रस्ताव” चीनी जनता और दुनिया की जनता को कतई मंजूर नहीं हैं।

देङ सियाओ-पिङ, जिआंग जेमिन और उस जैसे लोग खुद को चीनी सुधारों का मुख्य सूत्रधार कहते हैं, या “तीन प्रतिनिधित्वों का सिद्धान्त” प्रस्तुत करने पर गर्व करते हैं, लेकिन उनके कारनामों पर नजदीकी से निगाह डालने से साफ हो जायेगा कि वे सिर्फ साम्राज्यवाद और बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐतिहासिक व्यवहार और पिछले 28 वर्षों की नंगी सामाजिक सच्चाइयों ने हमारी आँखें खोल दी हैं और हमारी वर्ग चेतना को ऊपर उठाया है। हमारी पार्टी के भीतर बैठे बुर्जुआ तत्व चीनी बुर्जुआ वर्ग का सिर और रीढ़ की हड्डी हैं।

ये बेहद स्वार्थी लोग हैं और पूँजीवादी राह को आगे बढ़ाने में जुटे हुए हैं। ये पार्टी के बाहर के औसत पूँजीपति से ज्यादा खतरनाक, निर्मम, लालची और धूर्त हैं।

जरा देखिए कि बीस से कुछ ज्यादा वर्षों की अपेक्षाकृत छोटी सी अवधि में क्या हुआ है। पार्टी के भीतर के बड़े और छोटे पूँजीवादी पथगामी और उनके परिवार के सदस्य सबके सब करोड़पति, और कुछ तो अरबपति बन गये हैं। इस बात से कौन इंकार करेगा कि समाजवाद तथा “तीन प्रतिनिधित्वों” के बारे में उनकी लंबी-चौड़ी बातें सफेद झूठ के सिवा और कुछ नहीं है। दरअसल वे जो चाहते हैं, वह है पूँजीवाद, क्योंकि सिर्फ पूँजीवाद उनके लिए तमाम किस्म के फायदे लेकर आएगा। वे समाजवाद और जनता के दुश्मन हैं।

लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आखिरकार चीनी कम्युनिस्ट पार्टी माओ त्से-तुङ द्वारा स्थापित और उनके नेतृत्व में खड़ी हुई पार्टी है जिसकी लंबी क्रान्तिकारी परंपरा है। यह वह पार्टी है जिसने ख्रुश्चेव के संशोधनवाद के खिलाफ दृढ़तापूर्ण संघर्ष चलाया और सांस्कृतिक क्रान्ति की आग में तपकर निखरी। और यही वजह है कि जिस तरह पार्टी में पूँजीवादी पथगामी हैं उसी तरह समाजवादी राह के राही भी हैं, खासकर ग्रासरूट स्तर पर। पार्टी सदस्यों की आम कतारों में, और निचले स्तर के कैडर में, भारी बहुसंख्या पार्टी के संशोधनवादी नेताओं से क्षुब्ध है। उनमें से कुछ अब इसे और बर्दाश्त नहीं कर सकते। वे मौजूदा नेतृत्व को खुली चुनौती देने के लिए सामने आ गये हैं, लेकिन ज्यादा लोग अपनी और अपने परिवारों की सुरक्षा के लिए अभी चुप रहना

ही बेहतर समझते हैं। हमें विश्वास है कि संशोधनवादी गुट जिस तरह निजीकरण की राह पर बढ़ा चला जा रहा है उसके तेज होने के साथ ही चीन में वर्ग अंतरविरोध और तीखे होंगे, और जनसमुदाय निश्चित रूप से और भी व्यापक पैमाने पर अपने संघर्ष को तेज करेंगे। जब देशभर में अंतरविरोधों का विकास और जनता के संघर्ष चरम पर पहुँचेंगे, तो पार्टी, सरकार और सेना के भीतर के वे लोग जिन्होंने संशोधनवाद की असली प्रकृति को समझ लिया है, इसके विरुद्ध दृढ़ संघर्ष चलायेंगे, और माओ त्से-तुङ के झंडे को ऊँचा उठाने तथा चीन में समाजवाद के लिए लड़ाई को फिर से शुरू करने के वास्ते एक बार फिर सर्वहारा वर्ग की कतारों में आकर शामिल हो जायेंगे। जब तक इस दुनिया में वर्गों और वर्ग संघर्ष का अस्तित्व है, माओ त्से-तुङ जीवित रहेंगे, वे हमेशा शोषित और उत्पीड़ित वर्गों के नेता बने रहेंगे। जैसा कि चीनी क्रान्ति के समूचे इतिहास ने बार-बार साबित किया है, जब तक क्रान्तिकारी जनता दृढ़ कदमों से माओ त्से-तुङ के दिखाए रास्ते पर चलती रहेगी, उसका संघर्ष जीत से जीत की ओर बढ़ता जायेगा। जनता का संघर्ष हमारे विश्वास और हमारी शक्ति का अक्षय स्रोत है।

('बिगुल' से साभार)

पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लिए एक आम कार्यक्रम

(पृष्ठ 78 का शेष)

उन्होंने इंगित कियाः **"अगर आने वाले दर्जनों वर्षों में अपनी पार्टी के इस मूलभूत सिद्धान्त और व्यवहार को भूल गए, तो हम गुमराह हो जाएंगे।"** जब लिन प्याओ ने "अन्तर्जात प्रतिभा के सिद्धान्त" (Theory of innate genius) का अपना संशोधनवादी सैद्धान्तिक कार्यक्रम परोसा तो अध्यक्ष माओ ने बिना देर किये उसकी प्रतिक्रियावादी प्रकृति को उघाड़ कर रख दिया। उन्होंने इंगित कियाः यह सवाल कि **"क्या इतिहास का निर्माण नायकों द्वारा किया जाता है या गुलामों द्वारा";** क्या मनुष्य का ज्ञान (और योग्यता भी जो कि ज्ञान की कोटि में आती है) अन्तर्जात होता है या जन्म के बाद हासिल किया हुआ; और क्या हमें अतीन्द्रियवाद के प्रत्ययवादी सिद्धान्त को बनाये रखना चाहिए या प्रतिबिम्बन के भौतिकवादी सिद्धान्त को; यह दो वर्गों, दो लाइनों और दो तरह के विश्व दृष्टिकोणों से सम्बन्धित सही और गलत का प्रमुख प्रश्न है। उन्होंने मार्क्सवादी रवैया अपनाने और लिन प्याओ के संशोधनवाद के साथ स्पष्ट विभाजक रेखा खींचने के लिए समूची पार्टी का आह्वान किया। आज; जबकि पार्टी के भीतर का वह मगरूर पूँजीवादी पथगामी "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" का प्रस्ताव रखता है तो यह सूत्रीकरण के सीधे-सादे प्रश्न से नहीं बल्कि इस प्रश्न से जुड़ा हुआ है कि क्या हमें सर्वहारा की तानाशाही को सुदृढ़ बनाना चाहिए या पूँजीवाद को बहाल करना चाहिये अगर हमें मार्क्सवाद की मर्यादा बचाये रखनी है और सर्वहारा वर्ग की पार्टी के सैद्धान्तिक आधार की हिफाजत करनी है और उसे बदले या विरूपित किये जाने से बचाना है तो हमें अवश्य ही लड़ना होगा और "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" की भ्रान्ति की मुकम्मल आलोचना करनी होगी। हमारा मानना है कि जनता के फैसलों को उलटने की दक्षिणपंथी विचलनवादी बयार पर जवाबी हमला बोलने के संघर्ष और "कुंजीभूत कड़ी के रूप में तीन निर्देशों को अपनाने" की सम्पूर्ण आलोचना के जरिये हमारी पार्टी और सर्वहारा का क्रान्तिकारी ध्येय निश्चित रूप से और भी अधिक तेजी से आगे बढ़ेगा तथा और भी ज्यादा बड़ी जीतें हासिल करेगा।

हाङकी *पत्रिका के अंक चार (1976) में प्रकाशित लेख*

(पृष्ठ 54 का शेष)

कोतोव्स्की जी. (1964) **एग्रेरियन रिफार्म्स इन इण्डिया,** प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को,

पटनायक, उत्सा (1988), "एसर्टेनिंग दि इकोनॉमिक कैरेक्टरिस्टिक्स ऑफ पीजेण्ट क्लासेज इन देमसेल्व्स इन रूरल इण्डियाः ए मेथडोलॉजिकल एण्ड इम्पिरिकल एक्सरसाइज," **दि जर्नल ऑफ पीजेण्ट स्टडीज,** वर्ष 15, अंक 3,

(1990), एग्रेरियन रिलेशंस एण्ड एकुमुलेशनः **दि मोड ऑफ प्रोडक्शन डिबेट इन इण्डिया,** आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

रुद्रा अशोक, ए. माजिद और बी.डी तालिब (1969), "बिग फार्मर्स ऑफ पंजाबः सम प्रिलिमिनरी फाइण्डिंग्स ऑफ सैम्पल सर्वे", **इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, वर्ष 4, अंक 39,**

थार्नर डेनियल (1967), "कैपिटलिस्ट स्टरिंग्स इन रूरल इण्डिया," **स्टेट्समैन,** नवम्बर 1, 2, 3 और 4

(दि इण्डियन जर्नल ऑफ लेबर इकोनॉमिक्स, वर्ष 44, अंक4, 2001 से साभार)

अनुवादः सत्यम

नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मेहनतकशों का इंकलाबी मासिक अखबार

एक अंक : 3 रु. वार्षिक : 36 रु.
(डाकव्यय सहित 40 रुपए)

प्राप्त करने के लिए लिखें :

जनचेतना, डी-68, निरालानगर
लखनऊ-226020

उत्तर-आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान'

● मीरा नन्दा

विज्ञान की पुस्तकों के रूप में वेद

1996 में ब्रिटेन के विश्व हिन्दू परिषद ने चिकने पृष्ठों वाली एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें रंग-बिरंगे कपड़े पहने हिन्दू संस्कार सम्पन्न कराते आदमियों और औरतों के तमाम आकर्षक चित्रों के साथ इस धर्म का सरस और बिलकुल साफ-सुथरा वर्णन था। 'एक्सप्लेनिंग हिन्दू धर्मा : ए गाइड फार टीचर्स' नाम की इस पुस्तक में ब्रिटिश स्कूल प्रणाली में मिडिल से लेकर हाई स्कूल स्तर तक "क्लासरूम में हिन्दू विचारों और विषयों पर प्रारम्भिक जानकारी देने के लिए अध्यापकों को सुझाव" दिये गये हैं। इस समय इस पुस्तक का दूसरा संस्करण चल रहा है, और इसके आखिरी कवर पृष्ठ पर प्रशंसात्मक समीक्षाओं को देखते हुए लगता है कि इसने स्वयं को ब्रिटिश स्कूल प्रणाली में बहु-प्रचलित शैक्षिक संसाधन के रूप में स्थापित कर लिया है।

यह 'गाइड' क्या "अध्यापन के सुझाव" देती है? यह ब्रिटिश अध्यापकों को सलाह देती है कि हिन्दू धर्म का परिचय "प्रकृति के शाश्वत नियमों" के रूप में दिया जाये जिन्हें पहले भारतीय ऋषियों ने खोजा और बाद में आधुनिक भौतिकी और जैविक विज्ञानों ने उनकी पुष्टि की। वैदिक पुस्तकों में निहित गणित, भौतिकी, खगोलशास्त्र, चिकित्सा और जैव विकास के सिद्धान्त का झूठा लेकिन आश्चर्यजनक रूप से साफ-सुथरा लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के बाद यह 'गाइड' अध्यापकों को अनुदेश देता है कि वैदिक धर्मग्रन्थों को "मात्र प्राचीन धार्मिक पुस्तकों के रूप में नहीं, बल्कि ऐसी पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत किया जाये जिनमें कई सत्यतापूर्ण वैज्ञानिक तथ्य हैं...हिन्दुओं के इन प्राचीन धर्मग्रंथों को वैज्ञानिक पुस्तकें माना जा सकता है" (जोर देकर)। प्रकृति की कार्यप्रणाली के बारे में वह सब कुछ जो आधुनिक विज्ञान हमें सिखाता है, वेदों में पाया जा सकता है और पदार्थ, ईश्वर, तथा मानव जाति के बारे में वह सब कुछ जो वेद हमें सिखाते हैं, आधुनिक विज्ञान से उनकी पुष्टि होती है। कहीं कोई द्वन्द्व नहीं है, कोई अन्तरविरोध नहीं है। आधुनिक विज्ञान और वेद मात्र "एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं।" यही हिन्दुत्व की वह छवि है जिसे विश्व हिन्दू परिषद और हिन्दुत्व के अन्य प्रचारक पूरी दुनिया में प्रोजेक्ट करना चाहते हैं। ब्रिटेन का मामला अकेला उदाहरण नहीं है। कनाडा और अमेरिका में भी इसी प्रकार वैदिक-आर्य भारत को विश्व सभ्यता और विज्ञान के "जन्मस्थान" के रूप में चित्रित करने के प्रयत्न हुए हैं। इनमें से तमाम प्रयत्न इन देशों की उदार और राजनीतिक दृष्टि से उचित बहु-सांस्कृतिक शिक्षा नीतियों का लाभ उठाते हैं। किसी संस्कृति के बारे में उस 'समुदाय के' स्वयं के विचारों को प्रस्तुत करने के श्रेष्ठ लक्ष्य के तहत तमाम पश्चिमी सरकारें अनजाने में हिन्दुत्व के प्रचार को धन मुहैया करा रही हैं।

लेकिन इस लेख में हमारी चिन्ता का विषय लम्बी दूरी का हिन्दुत्व (या "यांकी हिन्दुत्व", जैसा कि इसे कुछ लोग कहते हैं) नहीं है, हालांकि खतरनाक है ये। यह लेख यांकी हिन्दुत्व के वामपक्षी प्रतिरूप : प्रायः (लेकिन पूरी तरह नहीं) पश्चिम से निर्यातित उत्तर आधुनिक विचारों के बारे में ज्यादा है जो अनजाने में वैदिक विज्ञान के बारे में हिन्दुत्व के प्रचार को मजबूत कर बैठते हैं। पिछले दो दशकों के दौरान, एक बहुत ही फैशनेबल वर्ग, जिसे आधुनिक विज्ञान का "रैडिकल" समीक्षक माना जाता है। विज्ञान के ये आलोचनात्मक सिद्धान्त "उत्तर आधुनिकता" या "सामाजिक रचनावाद" के ठप्पे के तहत चलते हैं। ये सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान को अनिवार्यतः ज्ञानार्जन का पाश्चात्य, सशक्त और साम्राज्यवादी तरीका मानते हैं। भारतीय मूल के बुद्धिजीवियों ने, जिनमें से अनेक पश्चिम में रहकर काम कर रहे हैं, ज्ञानार्जन के गैर-पाश्चात्य तरीकों के विरुद्ध आधुनिक विज्ञान के उत्तर आधुनिक विवेचन को औपनिवेशिक "हिंसा" के एक स्रोत के रूप में विकसित करने में अग्रणी भूमिका निभाई है।

लेख में, मैं इस बात की पड़ताल करूंगी कि किस प्रकार उत्तर आधुनिक वामपंथ ने हिन्दुत्व के इस दावे को वैचारिक आधार प्रदान कर दिया है कि वेद आधुनिक विज्ञान का ही "दूसरा नाम" है। जैसा कि हम देखेंगे, उद्देश्य और सार्वभौमिक ज्ञान पर उत्तर आधुनिकतावादी हमलों ने सीधे-सीधे सभी परिप्रेक्ष्यों कोअपने प्रसंगानुसार और अपने स्वयं के स्तर परबराबर सत्य होने के हिन्दू राष्ट्रवादी नारे का शिकार बना दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वेदों और वेदान्तों के आध्यात्मिक ज्ञान में अनुभवसिद्ध विज्ञान की परम्परा पाये जाने का जोर-शोर से लेकिन झूठा दावा किया जा रहा है। वेदों के ऐसे वैज्ञानिकीकरण से भारत में प्रयोगसिद्ध और तार्किक परम्परा को वस्तुतः कोई बढ़ावा नहीं मिलता, जबकि इससे हिन्दुत्व के पवित्र ग्रंथों के आध्यात्मिक सन्देशों को अपूरणीय क्षति पहुँचती है। वेदों की रहस्यपूर्ण कथा (mythos) का विज्ञान के शब्दतत्व (logos) से घालमेल न सिर्फ वैज्ञानिक समुदाय के लिए बल्कि धार्मिक लोगों के लिए भी भारी चिन्ता का विषय होना चाहिए, क्योंकि यह विज्ञान और अध्यात्म दोनों का विरूपण है।

विज्ञान की उत्तर-आधुनिक मीमांसा किस प्रकार हिन्दुत्व के विज्ञान के रूप में वेदों के विचार से मिलती है, इसे समझने के लिए आइये विश्व हिन्दू परिषद के 'गाइड फॉर टीचर्स' के पीछे का तर्क समझते हैं।

इस 'गाइड' में दावा किया गया है कि हिन्दू धर्मग्रन्थों में "अनेक सच्चे वैज्ञानिक तथ्य" हैं और इसलिए उन्हें "वैज्ञानिक पुस्तकें माना जा सकता है।" आइये देखते हैं कि ये "सच्चे वैज्ञानिक तथ्य" क्या हैं। इसका प्रमुख प्रमाण है 'गुण' के सिद्धान्त की "वैज्ञानिक पुष्टि"। वेदान्त के इस अति महत्वपूर्ण विचार को मानते हुए कि पदार्थ और आत्मा का अलग-अलग अस्तित्व नहीं है बल्कि पदार्थ जगत का ताना बाना ही

आत्मा के सिद्धान्त से बुना हुआ है, 'गुण' सिद्धान्त बताता है कि पदार्थ आत्मिक/नैतिक गुण प्रदर्शित करता है। सभी सजीव या निर्जीव पदार्थों में समान रूप से तीन ऐसे गुण पाये जाते हैं : उच्चतर ज्ञान की तलाश करने वाली शुचिता और सौम्यता का गुण (सात्विक), अशुद्धता, तमस, अज्ञानता और निष्क्रियता का गुण (तामसिक), और सक्रियता, जिज्ञासा, सांसारिक लाभ का गुण (राजसिक)। विश्व हिन्दू परिषद की 'गाइड' का दावा है कि आधुनिक भौतिकी ने प्रकृति में तीन गुणों की उपस्थिति की पुष्टि की है। इसका प्रमाण? भौतिकी से पता चलता है कि परमाणु में धनात्मक, ऋणात्मक और उदासीन आवेश वाले तीन कण होते हैं जो तीन गुणों के समतुल्य हैं! परमाणु में अनिवार्य रूप से आध्यात्मिक/नैतिक गुणों के अस्तित्व के इस "वैज्ञानिक" प्रमाण से, इस गाइड में आगे विजेताभाव से निष्कर्ष निकाला गया है कि इससे उन सभी वैदिक विज्ञानों के सत्य की "वैज्ञानिक" पुष्टि होती है जिनमें 'गुण' की अवधारणा का प्रयोग किया जाता है (उदाहरण के लिए, आयुर्वेद)। हिन्दुत्व की वैज्ञानिक साख को 'प्रदर्शित करने' के बाद इस गाइड में ब्रिटिश स्कूली अध्यापकों को खुलकर सलाह दी गई है कि वे अपने विद्यार्थियों को बताएँ कि धर्म के शाश्वत नियमों और आधुनिक विज्ञान द्वारा खोजे गये नियमों में "कोई द्वन्द्व नहीं" है।

हिन्दुत्व प्रचार के सबसे बेतुके सूत्रों में एक यह है कि आधुनिक विज्ञान और हिन्दूवाद में कोई द्वन्द्व नहीं है। सच्चाई यह है कि आधुनिक विज्ञान के तरीकों से प्रकृति की कार्यप्रणाली के बारे में हमें जो भी पता है, उससे प्रकृति में किसी भी नैतिक रूप से महत्वपूर्ण गुण या शक्ति या किसी अन्य प्रकार की चेतना के होने की बिल्कुल पुष्टि नहीं होती, जैसा कि वैदिक ब्रह्माण्ड मीमांसा में बताया जाता है जो प्रकृति को दैवी चेतना का प्रतिबिम्ब मानती है। विज्ञान और हिन्दूवाद के बीच कोई द्वन्द्व न होने के ठीक विपरीत "प्रकृति को वैज्ञानिक रूप से समझने पर हिन्दू धर्म के 'शाश्वत नियम' पूरी तरह और सिरे से खारिज हो जाते हैं जहाँ पदार्थ और चेतना के बीच एक साम्य की शिक्षा दी जाती है।" यही कारण है कि हिन्दुत्व की सफाई देने वाले आधुनिक विज्ञान को "सिर्फ एक ही सत्य का दूसरा नाम" कहकर समेटते हुए इसके गले में पट्टा डालने को इतने उत्सुक हैंचरम चेतना का वह "एक सत्य" जो हिन्दुत्व के अपने प्राचीन ग्रंथों में है।

अगर हिन्दुत्व के प्रचारक ब्रिटेन में इस हद तक जा सकते हैं तो भारत में उनकी शक्ति की कल्पना करिये जहाँ केन्द्र सरकार और इसकी मीडिया, शिक्षा और शोध एजेन्सियों पर उनका नियंत्रण है। करीब आधे दशक पहले सत्ता में आने के समय से ही भारतीय जनता पार्टी की आधिकारिक नीति हर प्रकार के हिन्दू सिद्धान्त में हर प्रकार का विज्ञान तलाशने की रही है।

वस्तुतः भाजपा सरकार अमेरिका के सृष्टि रचना वैज्ञानिकों को भी पढ़ा सकती है। पुराने और नये सभी सृष्टिवादी अमेरिका के धर्मनिरपेक्ष स्कूलों में चोरी-छिपे ईसाई मत को घुसेड़ने की कोशिश कर रहे हैं। इसके लिए वे विज्ञान की व्याख्या इस तरीके से कर रहे हैं जो ईश्वर को एक स्वाभाविक घटना के रूप में आने देता है। इस "ईश्वरवादी विज्ञान" का उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था में सेन्ध लगाने वाले पच्चर का काम करना है। अमेरिका के सृष्टिवादियों के विपरीत जिन्हें अदालतों और विधायिकाओं से टक्कर लेनी पड़ती है, भारत सरकार स्वयं वैदिक विज्ञान का पच्चर थामे हुए है जिसका उद्देश्य (आधे अधूरे मन से अपनायी गयी) धर्मनिरपेक्षतावादी शिक्षा नीतियों को तहस-नहस करना है। वैदिक हिन्दुत्व को "विज्ञान" के रूप में पढ़ाकर, भारतीय राज्य और अभिजात वर्ग भारत को "धर्मनिरपेक्ष" और "आधुनिक" और सीमा पार के उन दकियानूसी इस्लामिक कट्टरपंथियों के विपरीत गंभीरता और दायित्व के प्रतिमान के रूप में चित्रित कर सकते हैं जो विज्ञान को अपने मदरसों से बाहर रखने की जिद करते हैं। "विज्ञान" का यह नामकरण कितना लाभदायक है, जबकि इसमें "धर्मनिरपेक्ष शिक्षा" के नाम पर ढेर सारी धार्मिक शिक्षा शामिल है।

सरकार के कृपापूर्ण संरक्षण में हिन्दुत्व की रणनीति अद्‌भुत रूप से काम कर रही है। पब्लिक और प्राइवेट कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में ज्योतिष एक शैक्षिक विषय के रूप में पनप रहा है, और इसका प्रयोग आगामी भूकम्पों तथा अन्य प्राकृतिक विपदाओं की भविष्यवाणी करने में हो रहा है। 'वास्तु शास्त्र' और वैदिक गणित जैसे "विज्ञानों" में शोध और शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान मिल रहे हैं। एक तरफ रक्षा मंत्रालय प्राचीन महाकाव्यों में उल्लिखित जादुई शक्तियों वाले हथियारों और उपकरणों का शोध और विकास प्रायोजित कर रहा है तो दूसरी ओर स्वास्थ्य मंत्रालय एड्स से लेकर यक्ष्मा (टीबी) तक सभी बीमारियों के लिए औषधि के रूप में बेचे जाने वाले गोमूत्र के शोध, विकास और विक्रय में निवेश कर रहा है। आस्था द्वारा उपचार (Faith-healing) और पुरोहित-कर्म अन्य "विज्ञान" हैं जिन्हें सार्वजनिक और निजी धन मिल रहा है। शेष संस्कृति में, हर प्रकार के चमत्कारों और अन्धविश्वासों को सार्वजनिक रूप से प्रभावशाली व्यक्तियों का वरदहस्त प्राप्त है जिनमें चुने गये संसद सदस्य तक सम्मिलित हैं।

दो प्रकार के दावे ऐसे हैं जो इस विचार का समर्थन करते हैं कि "वेद विज्ञान की पुस्तकें है!" पहले दावे में पूरे वैदिक संग्रह को आधुनिक विज्ञान से मिलता घोषित किया गया, जबकि दूसरा ज्योतिष शास्त्र, वास्तु, आयुर्वेद, भावातीत ध्यान आदि जैसी गूढ़ परम्पराओं को वैदिक प्रतिमानों के तहत वैज्ञानिक बताकर उनका पक्ष लेने पर केन्द्रित है। पहली धारा में आमूल विरोधी विचारों (उदाहरण के लिए 'गुण' का सिद्धान्त और आणविक कण) में समानता, सम्बन्ध और अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश है। यह धारा विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करती; यह किसी समय विशेष में पश्चिमी वैज्ञानिकों में प्रचलित भौतिकी या प्राणी-शास्त्र के किसी भी सिद्धान्त को हथिया लेती है और दावा करती है कि हिन्दू विचार "उसी तरह" हैं, या "उनका मतलब वही है" और "इसलिए" पूरी तरह आधुनिक तथा तर्कसंगत हैं। दूसरी धारा इससे कहीं ज्यादा रैडिकल है, क्योंकि यह असमान तत्वों के बीच समानता और अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की इस "पद्धति" को पूरी तरह तर्कसंगत तथा अद्वैतवादी वैदिक विचारधारा की परिधि में "वैज्ञानिक" बताती है। दूसरे शब्दों में दूसरी धारा धार्मिक विचारधारा पर प्रभुत्व कायम करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का तुलनात्मक अध्ययन करती हैः यह कहती है कि समानताओं और तुलनाओं पर आधारित "सीधा ज्ञान-चक्षु के समक्ष उद्घाटित" हिन्दू दर्शन वैदिक हिन्दूवाद की "सम्पूर्ण" विचारधारा में उतना ही वैज्ञानिक है जितना कि आधुनिक विज्ञान की विश्लेषणात्मक और प्रायोगिक पद्धति सभी धर्मों की "अपचयनवादी" (reductionist) विचारधारा के लिए है। एक वैधानिक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में सारसंग्रहवाद के ज्ञानसापेक्षवादी बचाव से न केवल पहली धारा को आड़ मिल जाती है, बल्कि इससे ऐसे उभरते

"वैकल्पिक विज्ञानों" जैसे "वैदिक भौतिकी" और "वैदिक सृष्टि रचना सिद्धान्त" के साथ-साथ ऐसे छद्म विज्ञानों जैसे वैदिक ज्योतिष, हस्तरेखाशास्त्र, भावातीत ध्यान और नये युग के आयुर्वेद (दीपक चोपड़ा स्टाइल) को भी काफी सहारा मिल जाता है।

इसके आगे मैं इस बात की पड़ताल करूंगी कि किस प्रकार विज्ञान के उत्तर आधुनिकतावादी और सामाजिक संरचनावादी (social constructionist) विचारकों ने वेदों की दोनों धाराओं को वैज्ञानिक साहित्य के रूप में सहयोग किया है।

लेकिन पहले स्पष्ट कर दूं कि उत्तर आधुनिकता से मेरा तात्पर्य क्या है।

उत्तर आधुनिकता एक भाव, एक व्यवस्था है। उत्तर आधुनिकतावाद की मुख्य पहचान यह है कि यह उस प्रबोधन के खिलाफ है जिसे आधुनिकता की रीढ़ माना जाता है। निश्चित तौर पर प्रबोधन की उत्तर आधुनिकता से ज्यादा कोई आसान पहचान नहीं है। मोटे तौर पर और आसान व्याख्या इस तरह की होगी : प्रबोधन एक सामान्य अभिवृत्ति है जिसे 17वीं और 18वीं शताब्दी में वैज्ञानिक क्रान्ति की दस्तक से पूर्व विकसित किया गया। इसका उद्देश्य आधुनिक विज्ञान के विकास द्वारा अन्धविश्वास और परम्पराओं के वर्चस्व तथा स्थापित धर्मों के स्थान पर आलोचनात्मक तर्क को सामने लाना है। प्रबोधन की परियोजना इस उम्मीद पर आधारित थी कि धर्मनिरपेक्ष वैज्ञानिक ज्ञान के विकास से न केवल मनुष्य जीवन की भौतिक स्थितियों बल्कि नैतिक और सांस्कृतिक स्थितियों का भी विकास होगा। जब मुख्य रूप से यूरोप और अमेरिका में प्रबोधन की चेतना विकसित हुई तो भारत, चीन, जापान, लातिन अमेरिका, मिस्र और पश्चिम एशिया के अन्य हिस्सों में भी बौद्धिक आन्दोलन इससे प्रभावित हुए। लेकिन गैर-पश्चिमी समाजों में उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के संयुक्त दबाव ने प्रबोधन की चेतना को कुन्द कर दिया।

विज्ञान द्वारा अज्ञान का अँधेरा दूर करने और इस दुनिया को बेहतर बनाने के इस विजयी भाव वाले दृष्टिकोण से उत्तर-आधुनिकतावादियों का मोहभंग हो चुका है। उनकी निराशा ने उन्हें रास्ता दिखाया कि वे ऐसे किसी सार्वभौमिक सत्य की संभावना तलाशें जिसे हर कोई, हर जगह स्वीकार करे। ऐसे सत्योन्मुख सार्वभौमिक "महाख्यानों" में प्रबोधन की आस्था के विपरीत, उत्तर आधुनिकतावादी स्थानीय परम्पाओं को प्राथमिकता देते हैं जो पूरी तरह तर्क और महत्वपूर्ण मानदंडों से नहीं अनुशासित होते बल्कि पवित्र, गैर-महत्वपूर्ण और अतार्किकता की भी गुंजाइश छोड़ते हैं। विज्ञान की सामाजिक रचनावादी विचारधाराएं विज्ञान के विरुद्ध उत्तर आधुनिकतावादियों की चिन्ता को पूरी करती हैं। सामाजिक रचनावाद की कई धाराएं हैं जिसमें एडिनबर्ग (स्काटलैण्ड) स्कूल का "स्ट्रंग प्रोग्राम" और पेरिस, फ्रांस के एक स्कूल से सम्बद्ध "एक्टर नेटवर्क" सम्मिलित हैं। यहाँ हमारा मतलब इन कार्यक्रमों के उलझे और दुरूह तर्कों से नहीं है। मूलतः इन कार्यक्रमों की मान्यता है कि आधुनिक विज्ञान, जिसे हम प्रकृति के बारे में निरपेक्ष सत्य की ओर उन्मुख मानते हैं, दरअसल प्रकृति को देखने का एक संस्कृति-उन्मुख तरीका मात्र है : अन्य संस्कृतियों के अन्य सभी विज्ञानों से न अच्छा, न बुरा। न सिर्फ एजेंडा, बल्कि समूची ज्ञान-सामग्री सामाजिक रूप से रचित है : जिन्हें आधुनिक विज्ञान के "तथ्य" माना जाता है, वे "पश्चिम की" रचनाएं हैं जिनमें पश्चिमी समाजों का प्रभावी हित और उनके सांस्कृतिक पूर्वाग्रह प्रतिबिम्बित होते हैं।

इसी तर्क का अनुसरण करते हुए, विज्ञान के भारतीय आलोचकों, खासकर आशीष नन्दी और वन्दना शिवा जैसे नव-गाँधीवादियों का अनुकरण करने वालों का तर्क है कि स्थानीय विज्ञान विकसित किया जाये जो भारतीय सभ्यता की परम्परा में है। रजनी कोठारी, वीणा दरस, क्लॉद एल्वेएर्स और शिव विश्वनाथन जैसे अन्य प्रख्यात बुद्धिजीवियों ने ज्ञान की इस सभ्यतात्मक विचारधारा के पीछे अपना जोर लगा दिया है। इस पहलू के भी "देशभक्तिपूर्ण विज्ञान" और पर्यावरणवादी तथा नारीवादी आन्दोलन में अनेक समर्थक हैं। उत्तर उपनिवेशवाद और सबआल्टर्न अध्ययन के फैशनेबल सिद्धान्त जिन्हें पार्थ चटर्जी, गायत्री स्पिवाक, होमी भाभा, दीपेश चक्रवर्ती और अन्य के लेखन से पूरी दुनिया में मानने वाले हो गये हैं, के साथ-साथ तार्किकीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण के विरुद्ध स्थानीय ज्ञान का समर्थन भी है। यहाँ उल्लिखित सभी बुद्धिजीवियों और आन्दोलनों की जड़ें सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण और महिलाओं के अधिकारों में हैंजो परम्परागत रूप से वामपंथी समूह के कार्य हैं।

विज्ञान पर सामाजिक रचनावादी और उत्तर आधुनिकतावादी हमले, सभी प्रमुख धर्मों में धार्मिक कट्टरपंथियों के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं क्योंकि अब वे सम्बद्ध क्षेत्रों में प्रकृति को समझने में हमारी प्रगति को देखते हुए अपनी आध्यात्मिकी को संशोधित करने की बाध्यता नहीं महसूस करते। लेकिन हिन्दूवाद ज्ञानसापेक्षवादी और व्यापक विचारधारा के साथ विशेष तादात्म्य प्रदर्शित करता है जिसे उत्तर आधुनिकतावादी पसन्द करते हैं। दो खंडों वाले इस पर्चे के शेष भाग में, मैं हिन्दू धर्ममण्डन और संकरता की उत्तर आधुनिकतावादी विचारधारा (भाग 1) और वैकल्पिक विज्ञानों (भाग 2) के बीच आमतौर पर पाये जाने वाले साम्य की पड़ताल करूंगी।

आज के हिन्दू प्रचारक 19वीं शताब्दी के उन नव-हिन्दू राष्ट्रवादियों के उत्तराधिकारी हैं जिन्होंने रूढ़िवादी हिन्दूवाद की चेतना-केन्द्रित आध्यात्मिकी को आधुनिक विज्ञान के कपड़ों में सजाने की परम्परा शुरू की। परिणामस्वरूप नव-हिन्दू बुद्धिजीवी (जानबूझकर या अनजाने में) संस्कृत पंडितों की पीढ़ी दर पीढ़ी का वह प्रख्यात झुकाव प्रदर्शित कर रहे थे जिसमें धार्मिक संस्कारों, प्रकृति की शक्तियों और मनुष्य की नियति के बीच समानता और परस्पर सम्बन्ध बताया जाता है।

ज्ञान की उत्तर आधुनिक विचारधाराओं ने विभिन्न विरोधाभासी विश्वदर्शनों के बीच साम्य दिखाने की इस "पद्धति" का पुनर्वास किया है और उन्हें भिन्न-भिन्न परम्पराओं के संकरण की स्वतंत्रता दे दी है। उत्तर आधुनिकताावदी सहमत हैं कि चूंकि इस पदार्थ जगत का सत्य ज्ञेय नहीं है, ज्ञान की सभी प्रणालियाँ इस प्रकार एक दूसरे के बराबर हैं कि सभी सामाजिक रचनाएं हैं। चूंकि वे सभी समान रूप से स्वेच्छाचारी हैं, और कोई भी दूसरे से ज्यादा वस्तुपरक नहीं है, उन्हें आपस में मिलाया जा सकता है और तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है जिससे कि वे मनुष्य की आवश्यताओं को पूरा करते हुए उन्हें अपने सांस्कृतिक जगत में भली प्रकार से रहने दें। उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य से, परमाणु भौतिकी के शब्दों में "गुण" सिद्धान्त को विश्व हिन्दू परिषद द्वारा उचित ठहराया जाना कोई चिन्ता की बात नहीं है : यह सिर्फ दो सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के बीच "संकरता" का उदाहरण है, पूर्व और पश्चिम, परम्परा और आधुनिकता का एक मेल। वस्तुतः आधुनिकतावादी मानदंडों से तो हमें

इस संकरता की चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए, बल्कि हमें उस "सकारात्मकतावादी" और "आधुनिकतावादी" अक्खड़पन का विरोध करना चाहिए जिसकी माँग है कि गैर-पश्चिमी संस्कृतियों को प्राकृतिक विज्ञानों में ज्ञान की वृद्धि के आलोक में अपने पारम्परिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान के तत्वों को छोड़ या बदल देना चाहिए। आइये देखें कि संकरता का यह दृष्टिकोण किस प्रकार वैदिक विज्ञान की हिन्दुत्व रचना से घालमेल करता है।

यह एक सुविदित तथ्य है कि हिन्दुत्व अपने उदार-मंत्र"सत्य एक है, विद्वान लोग उसी को अलग-अलग नाम से पुकारते हैं" का प्रयोग आत्मतुष्टि के साधन के रूप में करता है। अब्राहमिक धर्म दूसरों को बहला-फुसला कर और शारीरिक बल के प्रयोग द्वारा उनका धर्म-परिवर्तन करते हैं। इसके विपरीत हिन्दुत्व दूसरों के सिद्धान्तों को हिन्दुत्व के स्वयं के शाश्वत ज्ञान में निहित "एक ही सत्य के अनेक नाम" बताकर उन्हें अपने में समाहित कर लेता है। बाहरी तत्वों, मतभेद रखने वालों या नई शुरुआत करने वालों को मात्र मामूली अन्तर वाला घोषित कर दिया जाता है, उस परम और सार्वभौमिक सत्य का मामूली और निकृष्ट भिन्न रूप जो वैदिक हिन्दुओं को अनन्त काल से ज्ञात है। ईसाइयत और इस्लाम कम से कम दूसरे धर्मों की मौलिक भिन्नता और अलगाव को स्वीकार तो करते हैं, जबकि वे भारी हिंसा और मारकाट की कीमत पर भी उनका धर्मान्तरण करने की कोशिश करते हैं। हिन्दुत्व अन्य धर्मों की विशिष्टता और भिन्नता को मानने से इनकार कर देता है जबकि यह अपनी महान "सहनशीलता" का दावा करता है। हिन्दुत्व की "सहनशीलता" स्वयं की महानता से इसके आत्ममोह के लिए एक छद्म रूप मात्र है।

प्राचीन हिन्दुत्व ने विजय की इस निष्क्रिय-आक्रामकता को धार्मिक सिद्धान्तों तक सीमित रखा जबकि नव हिन्दू बुद्धिजीवियों ने विजय की इस प्रणाली को आधुनिक विज्ञान के धर्मनिरपेक्ष ज्ञान तक पहुंचा दिया है। आधुनिक विज्ञान को वेदों के आध्यात्मिक सत्य का 'मात्र दूसरा नाम' कहने की परम्परा बंगाल पुनर्जागरण से शुरू हुई। समकालीन हिन्दुत्व इसी परम्परा का अनुकरण कर रहा है।

वैदिक विज्ञान आन्दोलन 1893 में शुरू हुआ जब स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) ने शिकागो में विश्व धर्म सभा को सम्बोधित किया। उस प्रसिद्ध भाषण में, उन्होंने हिन्दूवाद को न सिर्फ अन्य सभी धर्मों की चरम परिणति बल्कि समस्त विज्ञान की भी चरम परिणति के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की। विवेकानन्द ने दावा किया कि केवल अद्वैत वेदान्त का अद्वैतवाद ही प्राकृतिक विज्ञान के अन्तिम लक्ष्य को पूरा कर सकता है, जिसे वह जगत का सृजन और पोषण करने वाली ऊर्जा के परम स्रोत की तलाश मानते थे।

विवेकानन्द के बाद दूसरे बंगाली, राष्ट्रवादी से बदलकर आध्यात्मवादी बने, श्री अरविन्द (1872-1950) आये। अरविन्द ने जैव विकास का एक दैवीय सिद्धान्त प्रस्तावित किया जो जैव विकास को उस विश्व-आत्मा का चमत्कारपूर्ण करतब मानता है जो धीरे-धीरे चेतना के उच्चतर स्तर में अपनी स्वयं की सार्थकता प्राप्त करता है, पदार्थ से लेकर आदमी तक और आदमी से लेकर भविष्य के सन्तुलनपूर्ण 'सुपरमाइंड' तक। अब डार्विन के विकासवाद के स्थान पर "जातिह्रास" को प्रस्तावित करने वाले वैदिक सृष्टि रचना विज्ञान के नये-नये सिद्धान्त उन हरे कृष्णा वालों द्वारा काफी गंभीरता से प्रस्तावित किये जा रहे हैं जो अपने सारे स्कैंडलों और अपनी विलक्षणताओं के बावजूद हिन्दुत्व के प्रति निष्ठावान हैं।

विवेकानन्द और अरविन्द ने जो चिंगारी पैदा की, वह आज तक राष्ट्रवादी कल्पना को उद्दीप्त करती रही है। 19वीं और 20वीं शताब्दियों का नव-हिन्दू साहित्य, विशेषकर दयानन्द सरस्वती, एस. राधाकृष्णन और विवेकानन्द के अनेक अनुयायियों की रचनाएं एक 'वैज्ञानिक' धर्म के रूप में हिन्दुत्व के गुणगान से भरी पड़ी हैं। जवाहर लाल नेहरू जैसे धर्मनिरपेक्ष विचारधारा वाले व्यक्ति भी इस विचार के वशीभूत रहे कि वैदिक हिन्दुत्व की मूल शिक्षाएं आधुनिक विज्ञान के अनुरूप हैं, लेकिन ये बाद में धीरे-धीरे अन्धविश्वासों के जड़ जमा लेने से भ्रष्ट हो गईं। अनगिनत गुरू और स्वामी शिक्षा देने लगे कि वेद "विज्ञान का ही दूसरा नाम" मात्र हैं और समस्त विज्ञान वेदों की शिक्षाओं को ही पुष्ट करता है। हिन्दुत्व का यह वैज्ञानिक संस्करण, प्रमुख रूप से महेश योगी और उनके जैसे तमाम लोगों द्वारा स्थापित अनेक आश्रमों और योग केन्द्रों द्वारा पश्चिम की ओर बढ़ चुका है। 'विज्ञान के रूप में वेदों' के इन सारे गुणगानों में समानता और समरूपता खोजने की एक ही बौद्धिक रणनीति अपनायी जाती है। इन सभी में आधुनिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान, क्वांटम यांत्रिकी, जीवविज्ञान और परा-मनोविज्ञान तथा अन्य सहायक विज्ञानों से अत्यन्त अटकल भरे सिद्धान्त लागू किये जाते हैं। वे इच्छानुसार चुनी गयी संस्कृत की पाठ्य-सामग्रियों में इन विज्ञानों को पढ़ते हैं, और उनका अर्थ व्याख्याकार की कल्पना से तय होता है। वे दावा करते हैं कि संस्कृत की पुस्तकों में उल्लिखित वस्तुएं और प्रक्रियाएं आधुनिक ब्रह्माण्ड-विज्ञान, क्वांटम भौतिकी या जीवविज्ञान में व्यक्त विचारों "जैसे", "उन्हीं जैसे" या "प्रकारान्तर से वही" हैं। इस प्रकार इधर थोड़ा सा ब्रह्म है तो उधर थोड़ी सी क्वांटम यांत्रिकी, दोनों को परस्पर परिवर्तनीय माना जाता है; "ऊर्जा" जो कि भौतिकी में एक निश्चित गणितीय संरचना वाली वैज्ञानिक शब्दावली है, "चेतना" के अर्थ में बदल जाती है; न्यूटन के क्रिया और प्रतिक्रिया के नियमों को कर्म और पुनर्जन्म के नियमों की जगह रखा जाता है; परामनोविज्ञान और "पौधों के गुप्त जीवन" को समस्त पदार्थों में आत्मा के भिन्न-भिन्न स्तर की उपस्थिति के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है; "जैव विकास" को ब्रह्म की आत्म-अभिव्यक्ति इत्यादि बताया जाता है। शब्द वैज्ञानिक होते हैं, लेकिन विषयवस्तु धार्मिक होती है। न तो वैज्ञानिक अवधारणाओं और न ही धार्मिक विचारों के तारतम्य का कोई ध्यान किया जाता है। दो सम्पूर्ण चीजों को तोड़ा जाता है, बड़ी सफाई से इच्छानुसार सम्बन्ध और परस्पर साम्य स्थापित किये जाते हैं। ज्ञान की दो धाराओं को एक-दूसरे के बराबर घोषित किया जाता है, और आपस में परिवर्तनीय भी। इस पूरे घालमेल को सुसंगति देने वाली एकमात्र प्रेरक शक्ति, एकमात्र विचार के केन्द्र में हिन्दुत्व को तर्कपूर्ण विचार-विमर्श और रहस्य के पर्दे से बाहर निकाले जाने से बचाने की भारी चिन्ता होती है। वैदिक विज्ञान विशुद्ध और सहज अन्ध सांस्कृतिक भक्ति से प्रेरित है।

एक उचित सवाल पूछा जा सकता है कि इन सब बातों का उत्तर आधुनिकता से क्या सम्बन्ध है। आखिरकार, नव हिन्दूवाद का दो शताब्दियों पुराना इतिहास है और जिस सादृश्यमूलक तर्क पर वैदिक विज्ञान के दावे आधारित हैं, उसका इतिहास न जाने कितना पुराना है।

स्पष्ट है कि नव-हिन्दूवाद की शुरुआत उत्तर आधुनिकतावाद से

नहीं हुई। और न ही हिन्दुत्व उन्नति और विकास के प्रति आधुनिकतावादी आकर्षण से "पार पाने" और "उससे आगे जाने" के उत्तर आधुनिकतावादी तत्परता का साझीदार है। इसके विपरीत, नव-हिन्दूवाद और हिन्दूत्व प्रतिक्रियावादी आधुनिकतावादी आन्दोलन हैं जो एक परम्परावादी, गहन प्रति-धर्मनिरपेक्ष और अनुदारवादी सामाजिक एजेण्डा के लिए एक प्रकार के बुद्धिहीन और खतरनाक तकनीकी आधुनिकीकरण को लागू करने पर तुले हुए हैं। फिर भी, वे विज्ञान के उत्तर आधुनिक दर्शन के साझीदार हैं जो "वैदिक विज्ञान" कहे जाने वाले विज्ञान, आध्यात्मिकता, रहस्यवाद और विशुद्ध अन्धविश्वास के इस प्रकार के विरोधाभासी घालमेल का गुणगान करता है।

उन आधुनिकतावादियों के लिए जो अज्ञानता और अन्धविश्वास दूर करने के लिए प्रबोधन की उम्मीद में साझीदार होते हैं, आधुनिक विज्ञान का महत्व इसकी वस्तुपरकता और सार्वभौमिकता में होता है। आधुनिकतावादी मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान ने एक ऐसी आलोचनात्मक परम्परा विकसित की है जो प्रकृति के बारे में हमारी परिकल्पनाओं को अत्यधिक कठिन अनुभवसिद्ध परीक्षणों से गुजारने और उन परिकल्पनाओं को खारिज करने का आग्रह करती है जो सत्यापित नहीं हो पातीं। आधुनिकतावादी के लिए प्रकृति की कार्यप्रणाली की व्याख्या करने में विज्ञान की सफलता का अर्थ अन्य संस्कृतियों में विज्ञान का तार्किक दायित्व है कि तदनुरूप संशोधन किया जाय कि किस स्तर का साक्ष्य विज्ञान के रूप में स्वीकार्य है, किस प्रकार का तर्क उचित है, और तर्कसंगत ज्ञान को मात्र विश्वास से अलग करके कैसे पहचानें। इसके अलावा, आधुनिक विज्ञान ने अलौकिक और परीक्षण से न गुजर सकने वाले कारणों जैसे सृष्टिकर्ता ईश्वर, अथवा किसी सर्वव्यापी आत्मा की आवश्यकता के बिना प्रकृति की कार्यप्रणाली की व्याख्या करने का रास्ता दे दिया है।

लेकिन उत्तर आधुनिकतावादी के लिए, विज्ञान में यह आधुनिकतावादी आस्था सिर्फ यूरोप निर्भरता और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रतीक है। उत्तर आधुनिकतावादी के लिए, दूसरी संस्कृतियाँ अपने ब्रह्माण्ड रचना विज्ञानों को संशोधित करने या तथ्यों को आधुनिक विज्ञान के अनुरूप करने के लिए उनकी पड़ताल की नयी प्रक्रियाएं अपनाने के तार्किक दबाव में नहीं होती हैं। प्रकृति का एक अनोखा और सार्वभौमिक रूप से वैध लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के ठीक विपरीत, आधुनिक विज्ञान के 'तथ्य' प्रकृति के बारे में तथ्य रचने वाले तमाम तरीकों में से एक तरीका मात्र हैं, जो कि अन्य संस्कृतियों के लिए भी उतने ही वैध हैं। प्रकृति स्वयं में इस पर वर्गीकरण और अर्थ आरोपित किये बिना नहीं जानी जा सकती जो सांस्कृतिक रूपकों और प्रतिमानों से प्राप्त होते हैं। प्रकृति दर्शन के सभी तरीके समान हैं क्योंकि सभी समान रूप से संस्कृति के प्रति प्रतिबद्ध है। सत्य और हमारी मान्यताओं पर आधुनिक विज्ञान का कोई विशेष दावा नहीं है, क्योंकि यह उसी प्रकार पश्चिम की सांस्कृतिक रचना है जैसे अन्य विज्ञान अपनी-अपनी संस्कृतियों की रचना हैं।

विज्ञान का यह दृष्टिकोण विज्ञान के अनेक अमेरिकी और यूरोपीय दर्शनों से प्राप्त हुआ है, जो मुख्य रूप से टॉमस कुन, पॉल फेयेराबेन्द, डब्ल्यू. ओ. क्विन, लुड्‌विग विट्‌गेंस्टाइन और मिशेल फूको से सम्बन्धित हैं। विज्ञान का यह दृष्टिकोण 1980 के शुरुआती दशक की कुख्यात "वैज्ञानिक चेतना" की बहसों के बाद से ही विज्ञान के भारतीय विद्वानों में लोकप्रिय हो रहा है। उसी समय आशीष नन्दी, वन्दना शिवा और उनके समर्थक ज्योतिष शास्त्र, चेचक की दवा में देवी पूजा, मासिक धर्म और (बाद में) सती के विरुद्ध भी घोर वर्जना भाव सहित स्थानीय ज्ञानों और परम्पराओं के समर्थन में आ गये। अगले दो दशकों में, भारत के विद्वत्समाज के लेखन में यह आम बात हो गयी कि आधुनिक विज्ञान को आस्था की घोषणा करने का एक तरीका मात्र माना जाये जो मात्र सामूहिक आस्था से सत्य को छांट निकालने की किसी अन्य परम्परा से बिल्कुल भिन्न नहीं है। तर्कवाद एक बेहूदा शब्द हो गया और प्रबोधन, उपनिवेशवाद की "बौद्धिक हिंसा" के लिए स्थानापन्न शब्द हो गया।

इस सापेक्षवादी दर्शन को मानने वालों के अनुसार, आधुनिक विज्ञान और पारम्परिक विज्ञानों के बीच यह आर-पार की सांस्कृतिक लड़ाई क्रमशः अधिक और कम वस्तुपरक ज्ञान के बीच की लड़ाई नहीं है। बल्कि यह दुनिया के दो विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टिकोणों के बीच की लड़ाई है जिनमें से कोई भी स्वयं में सत्य का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकता। दरअसल, तमाम रैडिकल नारीवादी और उत्तर-औपनिवेशिक आलोचक इससे भी आगे जाते हैं; वे मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान अपने मार्ग से भटककर दमन और शोषण की सत्ता में बदल गया है। वे चाहते हैं कि गैर-पश्चिमी लोग न केवल विज्ञान का प्रतिरोध करें बल्कि अपने व्यापक पारम्परिक विज्ञानों के साथ इसका मुकाबला करके इसमें सुधार भी करें।

जब पारम्परिक संस्कृतियों को आधुनिक ज्ञान के कम से कम कुछ तत्वों को अनिवार्य रूप से अपनाना पड़ता है तो क्या होता है? ऐसे मामलों में, उत्तर आधुनिकतावादी ठीक वैसी ही 'संकरता' की सिफारिश करते हैं जैसा कि हमने वैदिक विज्ञानों के मामले में देखा है जिनमें, उदाहरण के लिए, उप-परमाण्विक कणों को गुण के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जाता है, या जहाँ क्वांटम ऊर्जा को "शक्ति" "जैसा" बताया जाता है, या जहाँ "कर्म" को "उसी प्रकार" जीव विज्ञान का निर्धारक बताया जाता है जैसे कि जेनेटिक कोड आदि। उत्तर आधुनिक दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न वस्तुओं को विचारों के बीच साम्यता और समतुल्यता दिखाने की इस "पद्धति" में कुछ भी अतार्किक या अवैज्ञानिक नहीं है चाहे दोनों के बीच गंभीर अन्तरविरोध हों। इस दृष्टि से, समस्त विज्ञान का आधार रूपक और उपमाएं हैं जो प्रभावी संस्कृतियों और सामाजिक शक्ति को दृढ़ करते हैं और प्रकृति के सभी "तथ्य" दरअसल प्रभावी संस्कृति के चश्मे से प्रकृति की व्याख्याएं हैं। इस दृष्टि से हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा आधुनिक विज्ञान के "तथ्यों" के हिन्दूवाद द्वारा मुहैया कराये गये प्रभावी सांस्कृतिक मॉडलों से साम्य दर्शाकर इनकी पुनर्व्याख्या की इच्छा बिलकुल तर्कसंगत है। चूंकि ज्ञान की कोई भी प्रणाली सत्य को इसके वास्तविक रूप में जानने का दावा नहीं कर सकती, चूंकि सबसे अच्छी तरह से पुष्ट हमारा विज्ञान भी अन्ततः एक सांस्कृतिक रचना है, सभी संस्कृतियों को स्वतंत्रता है कि वे विभिन्न "तथ्यों" को चुनकर उन्हें मिला लें, अगर वे उनकी स्वयं की समयसिद्ध विश्वदृष्टि को नुकसान न पहुँचाये।

लोक के परम्परा-स्वीकृत, स्थानीय ज्ञान के दायरे में समा सकने वाले "पश्चिमी" विज्ञान की पुनर्व्याख्या के इस दृष्टिकोण का समर्थन भारत में आशीष नन्दी और भीखू पारेख द्वारा प्रतिपादित "आलोचनात्मक परम्परावाद" के सिद्धान्तों और विदेशों में "संकरता" पर होमी भाभा

के अस्पष्ट लेखन के प्रशंसकों द्वारा किया गया है। पश्चिम में यह विचार सान्द्रा हार्डिंग और डोन्ना हैरावे जैसी नारीवादियों और ब्रुनो लतौर, डेविड हेस तथा उनके अनुयायियों समेत विज्ञान के नृतत्वशास्त्रियों के बीच काफी लोकप्रिय रहा है।

निष्कर्षतः विज्ञान के सवाल पर फैशनेबल वामपंथ और धार्मिक दक्षिणपंथ एक बिन्दु पर मिलते हैं। आधुनिक विज्ञान के प्रति उत्तर आधुनिक बुद्धिजीवियों के अतिशय सन्देहवाद ने उन्हें ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया है जहाँ वे वैदिक परम्पराओं के गुणगान के लिए आधुनिक विज्ञान पर हिन्दुत्व के उदार कब्जे की आलोचना नहीं कर सकते, अगर उन्हें अपने विश्वासों के प्रति सत्यनिष्ठ बने रहना है तो।

●

इस लेख के पहले भाग में, मैंने चर्चा की कि किस प्रकार हिन्दुत्व के विचारकों ने "विज्ञान की पुस्तकों के रूप में वेद" का मिथ गढ़ा। मेरा तर्क है कि उत्तर आधुनिक बुद्धिजीवियों के विज्ञान-विरोधी शब्दाडम्बर ने विज्ञान और हिन्दू अध्यात्म के उस उदार घालमेल को दार्शनिक सम्माननीयता प्रदान कर दी है जो वैदिक विज्ञान के नाम से जाना जाता है। इस भाग में, मैं प्रख्यात नारीवादियों, पर्यावरणवादियों और उत्तर औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों द्वारा समर्थित "वैकल्पिक विज्ञानों" के लिए दार्शनिक तर्कों की पड़ताल करूंगी और दिखाऊंगी कि किस प्रकार वे हिन्दुओं के "साकल्यवादी" और "प्रामाणिक" विज्ञानों की श्रेष्ठता के दक्षिणपंथ के दावों से मेल खाते हैं। मैं इन बहसों को हिन्दू "पुनर्जागरण" के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर शुरुआत करना चाहती हूँ।

उत्तर उपनिवेशवाद और हिन्दू "पुनर्जागरण" का मिथ

"वैदिक विज्ञान" की जड़ें उस तथाकथित बंगाल पुनर्जागरण में तलाशी जा सकती हैं जिस पर हिन्दुत्व के "स्वर्ण काल" के रूप में वैदिककाल की प्राच्यवादी रचनाओं का गहरा प्रभाव है। जर्मन आदर्शवाद और ब्रिटिश रोमानीपन से गहरे तक प्रभावित, एच.टी. कोलब्रोक, मैक्स मूलर और पॉल डसेन समेत प्राच्यवादियों की प्रवृत्ति हिन्दू विचारधारा का केन्द्रबिन्दु वेदों, उपनिषदों और सबसे ज्यादा शंकर की अद्वैत वेदान्त परम्परा में तलाशने की थी। अद्वैत वेदान्त के धुर तर्क-विरोधी और आदर्शवादी (अर्थात प्रति-प्रकृतिवादी) तत्वों के बावजूद, राजा राम मोहन राय और बंकिम चन्द्र चटर्जी से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक प्रमुख राष्ट्रवादी सुधारवादियों को इसमें आधुनिकता के सारे तत्व मिलने लगे। इस विचार को आगे बढ़ाने में विवेकानन्द अग्रणी रहे कि अद्वैत वेदान्त के अद्वैतवाद में समस्त आधुनिक विज्ञान की चरम परिणति का पूर्वाभास था। चूँकि आधुनिक विज्ञान प्रकृति से बाहर किसी अति-प्राकृतिक सत्ता की भूमिका को स्वीकार नहीं करता, विवेकानन्द का दावा था कि सिर्फ वैदिक अद्वैतवाद ही सच्चे अर्थ में वैज्ञानिक है क्योंकि यह ईश्वर को प्रकृति का एक पक्ष मानता है और प्रकृति पर किसी बाह्य शक्ति का आरोपण नहीं करता।

यहाँ भारतीय "पुनर्जागरण" के विषय पर थोड़ा विषयान्तर उपयुक्त होगा। लगातार और जोर देकर दुहराते हुए, नव-हिन्दू विचारकों ने एक मिथ पैदा कर दिया है कि ज्ञान की ब्राह्मणवादी परम्पराएं प्रारम्भिक भारत में विज्ञान और तर्क के स्वर्णकाल का प्रतिनिधित्व करती हैं। हिन्दुत्व का साहित्य हिन्दू "पुनर्जागरण" के गुणगानों से अटा पड़ा है जिसके लिए वे दावा करते हैं कि यह पश्चिम में आधुनिक युग का श्रीगणेश करने वाले यूरोपीय पुनर्जागरण के समान है। वे यह भूल जाते हैं कि पश्चिम में पुनर्जागरण ने कैथोलिक चर्च द्वारा आच्छादित कर ली गयी ग्रीक परम्परा के मानववादी और प्रकृतिवादी स्रोतों की दुबारा खोज कीपुनर्जागरण के मानववादियों ने प्लेटो के दूसरी दुनिया के दर्शन के बरअक्स अरस्तू और आलोचनात्मक यथार्थवादी सुकरात के इस दुनिया के दर्शन को दुबारा खोजा। इसके विपरीत, नव हिन्दू "पुनर्जागरण"ने वैदिक विरासतअद्वैत वेदान्तके उन सर्वाधिक रहस्यमय और मानववाद-विरोधी तत्वों का पुनरन्वेषण किया जिन्होंने हमेशा हिन्दुत्व और बौद्ध धर्म की प्रकृतिवादी और वैज्ञानिक परम्पराओं को आच्छादित किया और उनका गला घोंटा। नव-हिन्दूवाद पुनर्जागरण (Renaissance) नहीं, बल्कि एक प्रकार का पुनरुत्थान (Revival) है।

इससे इनकार नहीं कि वेदों और उपनिषदों के ज्ञान में आधुनिक विज्ञान की नव-हिन्दू "खोज" की सीमित सार्थकता थी। चूँकि रूढ़िवादी हिन्दुओं ने खुद को विश्वास दिला दिया था कि उनका धर्म समस्त विज्ञानों की जननी है, उन्हें वैज्ञानिक शिक्षा से खतरा नहीं महसूस होता था। जब तक विज्ञान को वैदिक सत्य का ही "मात्र दूसरा नाम" बताया जा सकता है, वे इसे सीखने को लेकर उत्साहित भी थे। ज्ञान और विचार की ब्राह्मण परम्परा ऊँची जाति वालों का हित-साधन करती थी, जबकि उन्होंने आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा को अपनाया जिसमें वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी शामिल है। पारम्परिक दृष्टिकोण को खुलकर चुनौती देने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग करने वाले या तो जातीय श्रेणी में निम्नस्तर पर थे या "बिना मजहब वाले कम्युनिस्ट" थे और उन्हें सुरक्षित रूप से अनेदखा किया जा सकता था। महान नव हिन्दू "पुनर्जागरण" प्रयोगसिद्ध विज्ञान को वैदिक परम्परा का अनुगामी बनाने में सफल रहा हैजो भूमिका भारत के पूरे इतिहास में तर्क ने अदा की है। यही वह परम्परा है जिसे संघ परिवार हमारे स्कूलों, विश्वविद्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्र में संस्थाबद्ध कर रहा है।

आइये देखें कि इस मामले पर भारत के समकालीन जनता के बुद्धिजीवियों की क्या राय है। जैसा कि होता है, 19वीं शताब्दी में नव-हिन्दूवाद का उफान कदाचित आधुनिक भारत के बौद्धिक इतिहास में ऐसा प्रकरण है जिसके बारे में सबसे ज्यादा लिखा गया है। हमारे अनेक प्रख्यात बुद्धिजीवियों, जिनके नाम व्यवहार में दुनिया भर में उत्तर औपनिवेशिक सिद्धान्त से जुड़े हुए हैंआशीष नन्दी, पार्थ चटर्जी, गायत्री स्पिवाक, दीपेश चक्रवर्ती और सबआल्टर्न अध्ययनों के इतिहासकारों ने बंगाली 'भद्रलोक' वर्ग में नव-हिन्दू विचारधारा के अभ्युदय पर अपनी विद्वता की शुरुआत की है। ये बुद्धिजीवी प्रमुख दिखायी पड़ते हैं क्योंकि वे प्राकृतिक या सामाजिक किसी भी क्षेत्र में तटस्थ और वस्तुपरक ज्ञान के विचार की संभावना को ही खारिज करने वाली उत्तर-संरचनावादी विचारधारा के साथ काम करते हैं। उपनिवेशवाद के इतिहासकारों के बीच एडवर्ड सईद के लेखन से लोकप्रिय हुए फ्रांसीसी दार्शनिक मिशेल फूको के राजनीतिक लेखन का अनुसरण करते हुए ये विद्वान गैर-पश्चिम को घटिया, अतार्किक और अवैज्ञानिक बताने वाले पश्चिमी विज्ञानों को औपनिवेशिक हितों को साधने वाला समझते हैं। भारतीय बुद्धिजीवियों ने औपनिवेशिक ज्ञान की इस मीमांसा को विकसित करने और इसके भारतीय स्थितियों पर लागू करने, दोनों

में योगदान किया है।

कुल मिलाकर, इन उत्तर औपनिवेशिक विद्वानों ने वेदों के वैज्ञानिकीकरण की नव-हिन्दू प्रवृत्ति की आलोचना की है, लेकिन उन कारणों से नहीं जो वैदिक विज्ञान के और भी रैडिकल समर्थन का मार्ग प्रशस्त करते हैं जो अब हिन्दुत्व के साहित्य में उभर रहा है। आशीष नन्दी और पार्थ चटर्जी दोनों ने, जो भारत में आधुनिक विचारों के अभ्युदय पर लिखने वाले अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सर्वाधिक बिकने वाले लेखक हैं, हिन्दुत्व के समर्थकों जैसे विवेकानन्द, अरविन्द और बंकिम चन्द्र चटर्जी से लेकर उदारवादी, धर्मनिरपेक्ष मानववादी नेहरू तकसम्पूर्ण राजनीतिक परिदृश्य में उभरने वाले हिन्दू आधुनिकतावादियों की भर्त्सना की। ऐसा उन्होंने इन हिन्दू आधुनिकतावादियों द्वारा धार्मिक रूढ़िवादिता का प्रचार करने में आधुनिक विज्ञान को बिल्कुल झूठे तरीके से और स्वयं का हित साधने के लिए प्रयोग करने और अपने पौराणिक ग्रन्थों का समर्थन करने के लिए मिथ और विज्ञान का घालमेल करने के कारण नहीं किया। नहीं, उस प्रकार की स्वदेशीवाद की विचारधारा को जो विज्ञान की विशिष्ट पहचान का आग्रह करे और धार्मिक तर्कों पर से रहस्य का पर्दा हटाने की संभावना का आग्रह करे, हमारे अति आधुनिक (अवां-गार्द) सिद्धान्तकारों द्वारा अत्यन्त बीते जमाने का, अत्यन्त "सकारात्मकतावादी" मान लिया गया। इसके बजाय नन्दी, चटर्जी और उनके अनुयायियों ने भारतीय राष्ट्रवादियों की इस बात के लिए भर्त्सना की कि उन्होंने भारत की अपनी परम्पराओं और ज्ञानार्जन के उपायों पर विदेशी, औपनिवेशिक विचारधारा लागू करने का साहस भी कैसे किया।

इन बुद्धिजीवियों के लिए, हिन्दू राष्ट्रवादियों का सबसे बड़ा पाप अपनी उच्च हिन्दू परम्परा का समर्थन नहीं थाएक ऐसी परम्परा जिसने शताब्दियों तक सबसे खराब प्रकार की अज्ञानता और सामाजिक असमानता को बढ़ावा दिया है। उनका सबसे बड़ा पाप आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के समक्ष उनका आत्मसमर्पण था, जिसे उन्होंने हिन्दुत्व के लिए (विवेकानन्द, बंकिम चन्द्र और नेहरू के मामले में भी) अपनाने का प्रयत्न किया, या जिसे उन्होंने धर्मनिरपेक्ष प्रबोधन (नेहरू जैसे मार्क्सवादियों और सामाजिक मानववादियों के मामले में) के लिए प्रयोग करने का प्रयत्न किया। प्रसंगवश इन दो स्थितियों में ही सम्पूर्ण राष्ट्रवाद समाप्त हुआ प्रतीत होता है। बी.आर. अम्बेडकर, ई.वी. रामास्वामी पेरियार, ज्योतिबा फुले और इयोथी थास जैसे दलित और गैर-ब्राह्मण बुद्धिजीवियों द्वारा स्वयं को परम्परा की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए नये ज्ञान का प्रयोग करने की कोशिशें उत्तर आधुनिकतावादी साहित्य में नहीं दिखतीं जो आधुनिक विज्ञान को दमन और मानसिक उपनिवेशवाद के एक साधन के रूप में दिखाने के लिए उत्सुक है। जब तक भारतीय विचारधारा को आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में तौला जा रहा था, चाहे इसकी तारीफ में, अथवा इस पर से रहस्य का पर्दा उठाने के लिए, भारतीय मस्तिष्क का "औपनिवेशीकरण" हो रहा था और इसे अपना स्वयं का एजेंडा तथा अपने स्वयं के समाधान परिभाषित करने से वंचित किया गया था। हिन्दू दक्षिणपंथ और नेहरूवादी वामपंथ, जहां तक आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली के गुलाम रहे, वहां तक समान रूप से अपने औपनिवेशिक आकाओं से 'व्युत्पन्न' थे।

इस सन्दर्भ में, प्रामाणिक राष्ट्रीय मुक्ति सिर्फ भारत की प्रामाणिक परम्पराओं के पुनरन्वेषण से ही संभव है, जिन्हें, स्पष्ट है कि, सिर्फ महात्मा गाँधी ने समझा था। उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रति-तत्ववाद के प्रति अपने सारे समर्थनों के लिए, आधुनिकता के भारतीय आलोचक "रणनीतिक तत्ववाद" (गायत्री स्पिवाक के शब्दों में) के चतुराई भरे रूप का प्रयोग करते हैं जिसकी मान्यता है कि भारतीय परम्पराएं भारत का अनोखापन हैं जिन्हें बाहरी लोगों द्वारा नहीं समझा जा सकता। वास्तविक राष्ट्रीय मुक्ति का तात्पर्य होगा भारत की अनोखी संरचना का पुनरन्वेषण जो वस्तुओं को उनके प्रसंग से अलगाने की पश्चिमी विज्ञान की तुलना में, उत्तर औपनिवेशिक आख्यान में इसके साकल्यवाद, एकत्ववाद या अद्वैतवाद में निहित है। भारतीय विचारधारा को न तो आधुनिक विज्ञान की एक नकल के रूप में, न ही किसी भी प्रकार से अनुभूतिमूलक विज्ञानों के अभाव के रूप में, बल्कि पूरी तरह से एक अलग प्रकार के विज्ञान के कूटांकन (encoding) के रूप में देखा जाना चाहिये। इसको खोजने और विकसित करने की जिम्मेदारी उत्तर-धर्मनिरपेक्ष, उत्तर आधुनिक बुद्धिजीवियों की है। गाँधीवादी और लोकलुभावन वामपंथ से आने वाले उत्तर आधुनिकतावादी इन वैकल्पिक परम्पराओं को औरतों, किसानों, ग्रामीणों और विविध सबआल्टर्न समूहों की सरल लोक परम्पराओं के बीच तलाशते हैं। इस अनोखे प्रकार की, गैर आधुनिक जीवन पद्धति के लिए गाँधी उनके संरक्षक सन्त बन गये। "वास्तविक भारत" बराबर गाँधी बराबर गैर आधुनिक "समुदायों" की "निर्दोष परम्पराएं"। इस समीकरण में किसी भी गुणनखंड को चुनौती देने वाले को "औपनिवेशिक मस्तिष्क वाला" घोषित कर दिया गया।"

मानसिक उपनिवेशवाद के रूप में आधुनिकतावादी राष्ट्रवाद का यह विचार उन उत्तर आधुनिकतावादियों के लिए मुंह छुपाने का साधन बनकर आया है जो समकालीन हिन्दुत्व के आन्दोलन से स्वयं को अलग-थलग करने के लिए संघर्षरत हैं। इसने "भारतीय मस्तिष्क के औपनिवेशीकरण" को भी अपने रंग में रंग लिया है। नन्दी और उनके अनेक समर्थक हिन्दू राष्ट्रवाद के आधुनिकतावाद के प्रति समर्पित होने का अपना विवेचन जारी रखकर इससे अपने को दूर करने का प्रयास कर रहे हैं। वे हिन्दुत्व के प्रचारकों के आधुनिकतावादी, वैज्ञानिक शब्दाडम्बर की ओर संकेत करते हैं और दावा करते हैं कि हिन्दुत्व आधुनिकता की एक और पहचान मात्र है। समस्या यह है कि आधुनिकतावादी शब्दाडम्बर का प्रयोग करके कोई आधुनिक नहीं बनता। इसके विपरीत, हिन्दुत्व पारम्परिक हिन्दू विश्वदृष्टि में आधुनिक विचारों का समावेश कर रहा है। यह परम्पराओं पर आधुनिकता का मुलम्मा चढ़ा रहा है जिससे कि वे शिक्षित मध्य वर्ग के अनुकूल बन सकें। हिन्दुत्व एक प्रतिक्रियावादी आधुनिकतावादी आन्दोलन है जो विज्ञान (अर्थात टेक्नोलॉजी) के महत्वपूर्ण प्रयोगों को स्वीकार करता है लेकिन उस धर्मनिरपेक्ष प्रबोधन का प्रतिरोध करता है जो आधुनिकता की अनिवार्य शर्त है। उत्तर आधुनिक विद्वानों के विशाल शुभंकर के पीछे छिपे गाँधी भीजिन्हें "निर्दोष" लोक परम्पराओं का संरक्षक मसीहा माना जाता हैकाम नहीं आते, क्योंकि हिन्दुत्व भी गाँधी पर अपना स्वयं का शुभंकर होने का दावा करता है। हिन्दू राष्ट्रवादियों को गाँधी की गहन प्रति-धर्मनिरपेक्ष और प्रति-आधुनिक विश्वदृष्टि से कोई समस्या नहीं है; वे 'सिर्फ' उनके "शान्तिवाद" को नापसन्द और अस्वीकार करते हैं।

उत्तर आधुनिकतावाद और "वैकल्पिक विज्ञान"

फिर भी, तर्क दिया जा सकता है कि परम्पराओं की सत्ता के विरुद्ध एक सांस्कृतिक हथियार के रूप में विज्ञान के प्रबोधन शैली में प्रयोग का विरोध करने मात्र से ही उत्तर आधुनिकतावादी बुद्धिजीवी धर्मिक दक्षिणपंथ के सहयोगी नहीं बन जाते। आखिरकार उपनिवेशों के पाश्चात्य शोषण और स्थानीय लोगों के प्रति मालिकाना भाव पैदा करने में विज्ञान और टेक्नोलॉजी की भूमिका की न्यायसंगत आलोचना की जा सकती है। विज्ञान आलोचना से परे नहीं है, और विज्ञान का आलोचक मात्र होने से कोई भर्त्सना का पात्र नहीं बन जाता।

समस्या यह है कि उत्तर आधुनिकतावादी बुद्धिजीवी वैज्ञानिक ज्ञान के किसी विशिष्ट दुरुपयोग की आलोचना मात्र करके चुप नहीं बैठते। इसकी बजाय, वे वस्तुपरक ज्ञान के विचार को उन शक्तिशाली लोगों का मिथ बताते हैं जो अपने स्वयं के हित में यथार्थ की सामाजिक रचना के लिए सत्य पर कब्जा कर लेना चाहते हैं। वे इस विचार पर ही हमला करते हैं। उसी प्रकार, विज्ञान के "पश्चिमी-पन" पर उत्तर आधुकितावादी हमला विज्ञान और पश्चिमी/साम्राज्यवादी हितों के बीच किसी विशिष्ट सम्बन्ध का संकेत करने से आगे जाता है। इसकी बजाय वे विज्ञान के सार्वभौमिकतावाद के दावे को पाश्चात्य आधिपत्य की ढाल बताकर इस पर हमला करते हैं।

एक बार जब वे वस्तुपरकता और सार्वभौमिकता के विचार पर ही आक्रमण कर देते हैं तो ये आलोचक "वैकल्पिक विज्ञानों" के विचार का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। वह विचार यह है कि आधुनिक विज्ञान प्रकृति की नियमितताओं को वर्गीकृत करने, उनका प्रेक्षण करने और उन्हें समझने का केवल एक तरीका प्रस्तुत करता हैः इसमें कुछ भी अन्तर्निहित रूप से वस्तुपरक और वैज्ञानिक नहीं है। इस तर्क में आगे कहा जाता है कि अगर अन्य संस्कृतियाँ वास्तव में "अपने मस्तिष्क को औपनिवेशिक प्रभाव से मुक्त करना" चाहती हैं तो उन्हें अपने धर्म और संस्कृति के अनुरूप अपनी स्वयं की वैज्ञानिक पद्धतियाँ विकसित करनी चाहियेउत्तर आधुनिक नारा है"अलग-अलग संस्कृतियाँ, अलग-अलग विज्ञान"। चूँकि समस्त ज्ञान का आधार मिथों, मॉडलों और साम्यानुमानों (या अधिक तकनीकी नाम दें तो "उदाहरणों") से बने रेत के घरौंदे हैं, जिन्हें वैज्ञानिक अपनी पाठ्यपुस्तकों से चुन कर उठा भर लेते हैं, इसलिए इस बात का कोई कारण नहीं है कि गैर-पश्चिमी संस्कृतियों के विज्ञान ऐसे नये "वैकल्पिक सार्वभौमिक सिद्धान्त" न गढ़ सकें जिन्हें दुनियाभर में पाठ्यपुस्तकों और प्रयोगशालाओं में पढ़ाया जा सके।

वस्तुपरकता और सार्वभौमिकतावाद की ये रैडिकल विवेचनाएं इतनी लोकप्रिय हो गई हैं कि सामाजिक आलोचकों के बीच उनको सत्य की मान्यता मिल गई है। लेकिन विज्ञान की तार्किकता की अवहेलना करने वाले ये सभी तर्क विज्ञान की त्रुटिपूर्ण समझ पर आधारित हैं जिन्हें अनेक बार कार्यशील वैज्ञानिकों और विज्ञान के प्रमुख दार्शनिकों ने खारिज किया है। विज्ञान वस्तुतः किस प्रकार काम करता है और विज्ञान की गहन सामाजिक प्रकृति के बावजूद वस्तुपरकता कैसे संभव है, इसे लेकर उत्तर आधुनिकतावादियों की गलतफहमी को पूरी तरह से असली रूप में सामने लाने के लिए अलग से एक लेखमाला की जरूरत पड़ेगी। अन्त में कहा जा सकता है कि विज्ञान के रैडिकल अधःपतन को मुख्यधारा के वैज्ञानिकों में और दर्शन की मुख्यधारा तथा विज्ञान के इतिहास में बहुत कम मान्यता है।

अब मैं उन तीन प्रमुख तर्कों की पड़ताल करूंगी जो भारतीय उत्तर आधुनिकतावादी साहित्य में सामने आये हैं जो बिल्कुल वैदिक विज्ञानों की श्रेष्ठता के हिन्दुत्व के समर्थन से मिलते हैं। ये तीन तर्क हैं : औपनिवेशीकरण के प्रभाव से मुक्त होने का तर्क, प्रति-द्वैतवाद का तर्क और सममिति का तर्क।

वैज्ञानिक तर्क को औपनिवेशिक प्रभाव से मुक्त करना

हिन्दुत्व के विचारक स्वयं को उत्तर औपनिवेशिक अध्ययनों का अभिन्न अंग मानते हैं। हिन्दू दक्षिणपंथ दावा करता है कि हिन्दू मस्तिष्क को औपनिवेशिक प्रभाव से मुक्त करने के लिए विज्ञान को हिन्दू श्रेणियों से समझने की जरूरत है। बौद्धिक हिंसा के उत्तर औपनिवेशिक विचारकों के साथ सुर में सुर मिलाते हुए मुरली मनोहर जोशी, कोनराद एल्स्त, गिरिलाल जैन, डेविड फ्राले, एनएस राजाराम और हिन्दुत्व के अन्य सिद्धान्तकार वैदिक पुस्तकों द्वारा किये गये अनुभवसिद्ध दावों के वैज्ञानिक मूल्यांकन को मानसिक उपनिवेशवाद और पाश्चात्य साम्राज्यवाद का प्रतीक मानते हैं। इनमें से हिन्दुत्व के कई सिद्धान्तकार एडवर्ड सईद, रोलां इन्देन, आशीष नन्दी, क्लाद एल्वेएर्स, गायत्री स्पिवाक जैसे उत्तर औपनिवेशिक विद्वानों और सबआल्टर्न अध्ययनों के इतिहासकारों के कृतित्व को बड़े सम्मान से उद्धृत करते हैं। हिन्दू दक्षिणपंथ प्रमाणिकता की इस माँग को संस्कृति की तत्ववादी समझ से जोड़ता है जो सीधा ओस्वाल्ड स्पेंग्लर की 'डिक्लाइन ऑफ दि वेस्ट' से उधार ली गयी है, जिसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति की एक अन्तर्जात प्रकृति होती है, एक स्वभाव होता है जो अनिवार्यतः गणित और भौतिकी से लेकर चित्रकला और काव्य तक इसके सांस्कृतिक उत्पादों की दिशा तय करता है। राष्ट्र के अन्तर्जात स्वभाव राष्ट्र के स्वभाव या चित्त का यह विचार दीनदयाल उपाध्याय के "एकात्म मानववाद" की विचारधारा से प्रतिपादित है, जो भारतीय जनता पार्टी की अधिकारिक विचारधारा का एक हिस्सा है। वस्तुतः यह भाजपा के आधिकारिक घोषणापत्र का हिस्सा है कि यह भारत के अन्तर्जात हिन्दुत्व का प्रयोग "कसौटी" के रूप में करेगी जिससे यह तय किया जायेगा कि कौन से विज्ञानों को आगे बढ़ाया जाय और उन्हें कैसे पढ़ाया जाय। एक अन्तर्जात, कालातीत हिन्दू स्वभाव की इस कसौटी का प्रयोग करते हुए, हिन्दुत्व के साहित्य में अभी भी वैध विज्ञान के रूप में जैवशक्तिवाद के पुराने सिद्धान्त विद्यमान हैं। (प्राणिशास्त्र में जैवशक्तिवाद का कहना है कि सजीव प्राणियों को एक विशेष जीवनीशक्ति की आवश्यकता होती है, जिसे भारतीय साहित्य में अलग-अलग शब्दों "प्राण" या "शक्ति" से जाना जाता है, यह "मात्र" अणुओं और कणों से सर्वोपरि है। भारत में, सबसे पहले जगदीशचन्द्र बोस ने पौधों में चेतना के प्रमाण पाने का दावा किया। बोस के कार्य को उनके जीवन-काल में झूठा बताया गया और मुख्यधारा के प्राणिशास्त्र द्वारा खारिज किया गया। हिन्दुत्व के साहित्य में अभी भी इसे विश्व विज्ञान को भारत का योगदान बताया जाता है।) एक बार फिर, यह वेदान्त की कसौटी के विरुद्ध है कि हिन्दू प्रचारक क्वांटम भौतिकी के अन्तरविरोधों की एक रहस्यमय तरीके से व्याख्या करने को औचित्यपूर्ण महसूस करते हैं। क्वांटम भौतिकी की बिल्कुल यथार्थवादी व्याख्याएं

हैं, जिन्हें वैदिक विज्ञान के साहित्य में उपेक्षित कर दिया गया है। ठीक वेदान्त के दावे की तरह इनका दावा है कि आधुनिक भौतिकी से प्रकृति में चेतना की उपस्थिति "प्रमाणित होती है।"

अपचयनवादी (Reductionist) विज्ञान बनाम साकल्यवादी (Holistic) विज्ञान

इस बहस का निचोड़, जैसा कि वैदिक विज्ञान पर हिन्दू राष्ट्रवादी लेखन में प्रतीत होता है, सरल हैआधुनिक विज्ञान में वह सब कुछ जो खतरनाक और असत्य है, उस द्वैतवादी और "अपचयनवादी" विचार की सामी एकेश्वरवादात्मक प्रकृति से आता है जो वस्तु से व्यक्ति को, चेतना से प्रकृति को, जानने वाले से ज्ञात को अलग करती है। आधुनिक विज्ञान में वह सब कुछ जो वाकई सार्वभौमिक और सत्य है उस "साकल्यवादी" विचार की हिन्दू प्रकृति से आता है, जिसने प्रकृति की वस्तुओं और मानवीय व्यक्तियों का अलग-अलग अस्तित्व न मानकर उन्हें हमेशा एक ही सार्वभौमिक चेतना के भिन्न-भिन्न प्रतिरूप माना है। शब्द वितण्डा रहित (non-logocentric) हिन्दूवाद के लिए यथार्थ वस्तुपरक नहीं, बल्कि सर्वगुणयुक्त (omnijective) है, चेतना और पदार्थ की संयुक्त रचना। पश्चिमी विज्ञान प्रकृति को मृत पदार्थ मानता है, जबकि हिन्दू विज्ञानों में प्रकृति को देवताओं का पवित्र निवास माना जाता है। इस प्रकार हिन्दुत्व के विद्वान दावा करते हैं कि योग, भावातीत ध्यान और आयुर्वेद की परम्पराएं भविष्य के विज्ञान हैं, क्योंकि वे पदार्थ को उस 'ब्रह्माण्ड ऊर्जा' से मिलाती हैं जो समस्त पदार्थों में व्याप्त है। इसके अलावा प्रकृति को लेकर हिन्दू दृष्टिकोण को परिभाषा के अनुसार पारिस्थितिक माना जाता है क्योंकि इसमें प्रकृति का मात्र पदार्थ नहीं माना जाता जिसका निजी प्रयोग के लिए दोहन किया जाये।

हिन्दूवाद के "साकल्यवाद" की श्रेष्ठता का यह विचार उस अजीबोगरीब और बिलकुल गलत अवधारणा पर आधारित है जिसमें विज्ञान के वामपंथी आलोचकों के साथ उग्र राष्ट्रवादी हिन्दू साझीदार हैंकि आधुनिक विज्ञान का मूलभूत वर्गीकरण, जिसे "अपचयनवाद" कहा जाता है, न केवल गलत बल्कि राजनीतिक रूप से दमनकारी है। विज्ञान में अपचयनवाद का मतलब मात्र जटिल प्राकृतिक घटनाओं को सिरे से समझने का तरीका है जिसमें पहले निम्न स्तर के अवयवों को अलग किया जाता है और फिर नियंत्रित दशाओं में उनकी अन्तक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

अपचयनवाद प्रयोगसिद्ध रचना खण्डों के बीच सम्बन्धों के ऊपर किसी अतिरिक्त बल (अर्थात चेतना, जीवनी शक्ति आदि) की अभिधारणा के बिना समग्र की व्याख्या करता है। जैसा कि आलोचकों का मानना है, सरल मस्तिष्क वाला अथवा वाम होने के ठीक विपरीत कोशिकीय स्तर पर ही डीएनए प्रतिकृति से लेकर पारिस्थितिकीय प्रणालियों तक की जटिल प्रणालियों को समझने में हुई प्रत्येक प्रगति की सफलता का कारण प्रकृति के आधारभूत रचना खण्डों के प्रति अपचयनवादी दृष्टिकोण है।

विज्ञान की वास्तविक कार्यप्रणाली के बारे में एक बुनियादी गलतफहमी और ढेर सारे छिद्रान्वेषण के साथ नारीवादी, पर्यावरणीय और साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों के बीच अनेक वामपंथी आलोचकों ने अपचयनवाद की बड़ी सहज स्वाभाविक आलोचना विकसित कर ली है। अपचयनवादी विज्ञान को बुरा विज्ञान माना जाता है जिसमें राजनीतिक रूप से दमनकारी जटिलताएं हैं। कैरोलिन मर्चैंट, सान्द्रा हार्डिंग और डोन्ना हैरावे जैसी प्रख्यात नारीवादी विभूतियाँ इसे वस्तु और व्यक्ति के बीच की एकता को तोड़ने का पुरुषवादी तरीका समझती हैं। पर्यावरणविद, जिनमें स्वयं भारत की वन्दना शिवा और उन्हीं की तरह सोचने वाले पारिस्थितिक-नारीवादी सम्मिलित हैं, अपचयनवाद को, प्रकृति को सारे पवित्र अर्थो से खाली करके इसके क्रूर शोषण का रास्ता खोलने वाला तरीका समझते हैं। (पारिस्थितिक रोमानीवादी सारे विरोधी उदाहरणों की उपेक्षा करते हैं जहाँ प्रकृति की पवित्रता का इस्तेमाल पवित्र उपवनों, नदियों और आम आदमी के अन्य संसाधनों तक पहुँच पर नियंत्रण रखने में किया जाता है।) अपनी तरफ से उत्तर औपनिवेशिक आलोचक अपचयनवाद को 'वे और हम' के विरोधी वर्गों की शब्दावली में सोचने की पश्चिमी और पूंजीवादी आदत का परिणाम मानते हैं।

आधुनिक विज्ञान की मूलभूत सुव्यवस्थित परम्परा को इस प्रकार की कम समझी गयी और राजनीति प्रेरित चुनौतियों ने हिन्दुत्व के इन दावों की जमीन तैयार की है कि हिन्दुत्व प्रकृति के साथ जुड़ने का अपेक्षाकृत एक "साकल्यवादी", ज्यादा पूर्ण, ज्यादा पारिस्थितिक और इससे भी ज्यादा नारीवादी तरीका प्रदान करता है। "साकल्यवाद" की श्रेष्ठता के अधिकांश दावों की पुष्टि नहीं हुई है। गहराई से जांच करने पर, वे उन छद्म-विज्ञानों को पुष्ट करते नजर आते हैं जिनमें पूरी तरह अविनिर्दिष्ट प्रणालियों के द्वारा पदार्थ पर सक्रिय बन्धनमुक्त चेतना होती है। सम्पूर्ण प्रकृति को एक पवित्र और आपस में जुड़ी सम्पूर्ण सत्ता मानने की हिन्दू परम्परा में अपेक्षाकृत ज्यादा पारिस्थितिक और ज्यादा नारीवादी संवेदना होने के अधिकांश दावे प्रायोगिक तौर पर झूठे साबित होते हैं। वस्तुतः कई बार कुछ नदियों और पौधों की देवी शक्तियों में विश्वास उनकी पर्याप्त देखभाल न करने का बहाना बन जाता है क्योंकि माना जाता है कि उनमें यथापूर्व स्थिति में आने और पवित्र बने रहने के लिए ईश्वर की दिव्य शक्तियाँ मौजूद हैं। सारे झूठ और पोंगापंथ के बावजूद हिन्दू (या व्यापक रूप में, पूरब के) साकल्यवाद के विद्वानों के बीच फलने-फूलने का कारण विज्ञान की अपचयनवादी प्रणाली की रैडिकल बुद्धिजीवियों द्वारा गलत और बढ़-चढ़कर की गई मीमांसा है।

सममिति का तर्क

सममिति तर्क का दावा है कि सभी स्थानीय विज्ञान अपने स्वयं के सांस्कृतिक प्रसंग की परिधि में एक समान "वैज्ञानिक" (अर्थात तार्किक, सुसंगत और प्रेक्षित घटनाओं की व्याख्या करने में सक्षम) हैं। इस तर्क में आगे कहा जाता है कि आधुनिक विज्ञान को ज्ञान प्राप्ति के अन्य तरीकों के साथ 'सममति में' माना जाना चाहिए। जैसा कि हमने देखा है कि आधुनिक विज्ञान पर सामाजिक रचनावादी और उत्तर आधुनिक हमलों का यही मर्म है। "वैदिक भौतिकी" और "वैदिक सृष्टि रचनावाद" के सिद्धान्तों के मूल में यही तर्क है। अमेरिका में काम करने वाले एक इंजीनियर सुभाष काक ने हाल ही में दावा किया कि ऋग्वेद की ऋचाएँ वस्तुतः भौतिकी के उच्च स्तरीय सिद्धान्तों के कूटबद्ध फार्मूले हैं। और माइकेल क्रेमो तथा अमेरिका में उनके साथी हरे कृष्ण अनुयायियों द्वारा डार्विन के प्राकृतिक चयन द्वारा जैव विकास के स्थान पर एक वैदिक विकल्प दिया जा रहा है। इन नये-नये सिद्धान्तों

की स्थापना का कारण वैदिक हिन्दू आध्यात्मिक अवधारणाओं की परिधि में वैदिक रहस्यवाद का एक वैधानिक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में खुलकर समर्थन है जिसे तार्किक और अच्छे से अच्छे आधुनिक विज्ञान के रूप में पर्याप्त तथा पारम्परिक रूप से स्वीकृत पदार्थ और जैव विकास के सिद्धान्त के रूप में सार्वभौमिक वस्तुपरक ज्ञान की स्थिति के लायक माना जाता है।

पुस्तकों और निबन्धों की एक पूरी श्रृंखला में, जिन्हें 1995 के प्रकाशन, 'इन सर्च ऑफ दि क्रेडल ऑफ सिविलाइज़ेशन' में सम्मिलित किया गया है, सुभाष काक ने ऋग्वेद में, कूट रूप में, खगोलशास्त्र और गणना का उच्चस्तरीय ज्ञान पाने का दावा किया है। काक के अनुसार, ऋगवेद में निर्धारित यज्ञ की वेदियों की रचनाकहाँ कितनी ईंटें रखी जाएं और कितने पत्थरों से घेरा जायेवस्तुतः सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी, सौर वर्ष तथा चन्द्र वर्ष की लम्बाई और प्रकाश की गति जैसे आधुनिक 20वीं शताब्दी के खगोलीय निष्कर्षों की ओर संकेत हैं। सभी वैदिक मूल्य बिल्कुल उन्हीं मूल्यों से मिलते हैं जिन्हें हम 19वीं और 20वीं शताब्दी की भौतिकी के माध्यम से जानते हैं। इसके अलावा ईंटों और पत्थरों की संख्या वेद की ऋचाओं में अक्षरों की संख्या से मेल खाती है। निष्कर्षः "वेद भौतिकी की पुस्तकें हैं।"

चारों वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद में अपेक्षाकृत उन्नत अमूर्त भौतिकी की खोज हिन्दुत्व के लिए अति महत्वपूर्ण है। यह सिद्ध करने के संगठित प्रयत्न हुए हैं कि ऋग्वेद की रचना कम से कम तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के आसपास हुई, 1500 वर्ष ईसा पूर्व नहीं जैसा कि पहले सोचा जाता था। हिन्दुत्व के सर्किल में इस बात के लिए भी पुरजोर कोशिश हुई है कि आर्य, जिन्होंने संभवतः 3000 वर्ष ईसा पूर्व ऋग्वेद की रचना की, भारत के मूल निवासी थे। इन परिस्थितियों में, ऋग्वेद में उन्नत भौतिकी की खोज से 'सिद्ध होगा' कि भारत वाकई सभी सभ्यताओं का जनक था और यहीं से ग्रीक और अन्य प्राचीन संस्कृतियों के ज्ञात विज्ञान का उद्‌भव हुआ।

लेकिन ऐसे नाटकीय दावे करने वाले किसी को भी इस सवाल का जवाब देना चाहिए : हमारे वैदिक पूर्वजों को इस समस्त भौतिकी का ज्ञान कैसे था? उनकी पद्धति क्या थी?

काक और उनके साथी (जिनमें 'इन सर्च ऑफ दि क्रेडल ऑफ सिविलाइज़ेशन' के उनके साथी लेखक डेविड फ्राले और जार्ज फ्यूर्स्टीन सम्मिलित हैं) अविश्वसनीय रूप से जवाब देते हैं कि वैदिक वैज्ञानिकों ने गहन आत्म विश्लेषण से भौतिकी के नियमों का आविष्कार किया। यौगिक चिन्तन से वैदिक सन्त अपने ज्ञानचक्षुओं को तथा ब्रह्माण्ड सम्बन्धी, सांसारिक और आध्यात्मिक इकाइयों के बीच समानताएं, समरूपताएं और तुल्यताएं देख पाते थे। उनका तर्क है कि समरूपता और तुल्यता देखने की यह पद्धति पश्चिम में जादुई मानी जा सकती है लेकिन भारत की अद्वैतवादी आध्यात्मिकी की परिधि में यह पूरी तरह वैज्ञानिक है जिसमें पदार्थ और चेतना के बीच, शारीरिक और आत्मिक के बीच, सजीव और निर्जीव के बीच कोई भेद नहीं किया जातासभी उसी आध्यात्मिक ऊर्जा से बन्धे हैं जो सबमें है। इन परिकल्पनाओं के तहत, यौगिक आत्म-विश्लेषण विज्ञान की एक पद्धति है। चूँकि समस्त विज्ञान प्रतिमान-बद्ध है, काक और उनके सहयोगी उत्तर आधुनिकतावाद के भ्रामक गुरुओं थामस कुन और पॉल फेयेराबेन्द का आधिकारिक सन्दर्भ देते हुए कहते हैं कि वैदिक विज्ञान वैदिक परिकल्पनाओं के प्रतिमान से पूरी तरह वैज्ञानिक है।

दरअसल, एक वैध वैज्ञानिक पद्धति के रूप में यौगिक चिन्तन की वैज्ञानिकता का समर्थन करने में काक और उनके सहयोगी अकेले नहीं हैं। महर्षि महेश योगी का "एकीकृत विज्ञान" इसी तर्क पर आधारित है। इस प्रकार का सांस्कृतिक समर्थन अक्सर ही उन लोगों द्वारा किया जाता है जो वैदिक ज्योतिष शास्त्र और अपसामान्य विश्वासों (पिछले जन्म की स्मृतियाँ, शरीर से परे अनुभव और पुनर्जन्म) जैसे गूढ़ छद्‌म-विज्ञानों का समर्थन करते हैं।

ठीक इसी प्रकार अमेरिका में हरे कृष्ण के अनुयायियों के मुख्यालय भक्ति वेदान्त इंस्टीट्यूट से आने वाले प्रचुर मात्रा के लेखन के मूल में भक्ति योग की पद्धति को साकल्यवाद सम्बन्धी ज्ञान के एक वैधानिक स्रोत के रूप में समर्थन देना है। एक नई पुस्तक 'ह्यूमन रिवोल्यूशन' में कट्टर हरे कृष्ण अनुयायी माइकेल क्रेमो ने खुलकर डार्विन के जैव विकासवाद का एक वैदिक विकल्प प्रस्तावित किया है। क्रेमो का दावा है कि मनुष्य जाति का विकास निम्न श्रेणी के जानवरों से नहीं हुआ है, बल्कि उसका पतन, या ब्रह्म की पवित्र चेतना से उसकी मौलिक एकता से उसका जैव-ह्रास हुआ है। (इसके पहले की एक पुस्तक 'फॉरबिडन आर्कियोलॉजी' में क्रेमो और उनके साथियों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि जीवाश्म रिकार्ड वस्तुतः पृथ्वी पर मानव-जीवन समेत करोणों वर्षों के जीवन के वैदिक समय मान का समर्थन करता है। प्रमाणस्वरूप, क्रेमो दुनिया में अपसामान्य क्षेत्र में कहीं भी किये गये हरसंभव शोध को उद्‌धृत करते हैं जिससे साकल्यवादी ब्रह्माण्ड विज्ञान का वह सत्य सिद्ध होता है जो समस्त पदार्थों में एक आध्यात्मिक तत्व की उपस्थिति का प्रस्ताव करता है (जो अलग-अलग रूप ले लेता है जिससे "जैव-ह्रास" के सिद्धान्त की व्याख्या होती है)।

छद्‌म विज्ञान का यह उल्लेखनीय सारांश इस परिकल्पना पर आधारित है कि आधुनिक विज्ञान पाश्चात्य संस्कृति और धार्मिक पूर्वाग्रहों की जकड़ में है और, परिणामस्वरूप पश्चिमी वैज्ञानिकों ने एक 'ज्ञान का फिल्टर' गढ़ रख है जो वैदिक ब्रह्माण्ड विज्ञान का समर्थन करने वाले साक्ष्य को बाहर रखता है। उनका कहना है कि एक बार पाश्चात्य परिकल्पनाओं को हटा दें तो योग की पद्धति को वैज्ञानिक परिकल्पनाओं का एक वैधानिक स्रोत माना जा सकता है। वैदिक ज्ञान के इन दावों का सत्यापन अन्य योग जानने वालों द्वारा किया जा सकता है जिन्होंने ध्यान द्वारा अपनी अनुभूति को इस हद तक 'पवित्र' कर लिया है कि वे चेतना की दुनिया के उन संकेतों को 'प्रत्यक्ष रूप से महसूस कर सकते हैं' जिन्हें पाश्चात्य प्रशिक्षित वैज्ञानिकों द्वारा "अपसामान्य" कहकर हेय दृष्टि से देखा जाता है।

यद्यपि वैदिक भौतिकी और वैदिक सृष्टि रचनावाद पूरी तरह अविश्वसनीय और किसी अनुभूतिमूलक समर्थन से पूरी तरह खाली हैं, उन्हें इस अवधारणा पर आधारित गंभीर विद्वत्कर्म बताया जा रहा है कि अलग-अलग सांस्कृतिक अवधारणाएं तार्किक और वैज्ञानिक पद्धति के रूप में वैकल्पिक पद्धतियों को स्वीकार करती हैं।

उत्तर आधुनिक बुद्धिजीवियों ने आधुनिक दुनिया की तमाम कमियों से अपने मोहभंग को आधुनिक विज्ञान की ही रैडिकल भर्त्सना से जोड़ लिया है। उन्होंने सार्वभौमिक रूप से वैध और वस्तुपरक ज्ञान के एक स्रोत के रूप में आधुनिक विज्ञान की स्थिति की पश्चिमी साम्राज्यवाद,

(शेष पृष्ठ 98 पर)

अप्टन सिंक्लेयर एवं पूँजीवादी पत्रकारिता के अन्तरविरोध

• रावर्ट डब्ल्यू मैकेंज़ी एवं बेन स्काट

वर्ष 1980 के प्रारम्भ से अमेरिका में मुख्यधारा की पत्रकारिता की गहरी खामियों के विषय में जनता की जागरूकता में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई। वामपंथी लेखकों जैसे टॉड गिटलिन, हबर्ट शिलर, गेटा टचमैन, बेन बैगडाइकियन एवं माइकल पेरेन्टी में से प्रत्येक द्वारा अपने तरीके से उद्योग जगत तथा दिखावटी प्रजातांत्रिक समाज के बीच के विरोधाभास की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। विशेष रूप से एडवर्ड एस हर्मन तथा नोम चोम्स्की ने एक सम्पूर्ण प्रगतिशील पीढ़ी को मुख्यधारा की पत्रकारिता की विषम स्थिति से परिचित कराया। जैसा कि उनकी चर्चित कृति "मैन्यूफैक्चरिंग कन्सेन्ट" का शीर्षक इंगित करता है कि पूँजीवादी समाचार माध्यम अभिजनों की नीतियों के लिए समर्थन जुटाने के लिए हैं न कि अवाम को अनौपचारिक राजनीतिक निर्णय लेने के अधिकार प्रदान करने के लिए।

वामपंथियों की जानकारी के लिए यहाँ यह बताना उचित है कि पूँजीपतियों द्वारा प्रायोजित पत्रकारिता की सीमाओं की आलोचना कोई नई बात नहीं है। वास्तव में इसका इतिहास लगभग 150 वर्ष पूर्व 20वीं शताब्दी के पूर्व आधुनिक वर्चस्व वाले पूँजीवाद एवं आधुनिक व्यावसायिक सिनेमा के जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो गया था। प्रेस की मौलिक आलोचना प्रगतिवादी समाज के तमाम सामाजिक आन्दोलनों का एक अभिन्न अंग था जो तेजी से बढ़ते पूँजीवाद का प्रतिरोध करना चाहता था। वह बिलकुल आज के दौर की तरह का समय था जो विशेष रूप से राजनीतिक एवं व्यावसायिक संभ्रान्तों द्वारा प्रजातंत्र को भ्रष्ट करने को प्रतिबिम्बित करता है जिनका मीडिया पर नियंत्रण जनजागरूकता, बहस तथा सक्रियता का गला घोंट देता है। हालांकि, आज की स्थितियों से भिन्न प्रगतिवादी युग में पूँजीवादी पत्रकारिता का घोर विरोध वामपंथियों का सबसे प्रधान विषय था, विशेष रूप से, अराजकतावादी एवं प्रगतिशील प्रेस में। यह प्रेस की आलोचना का स्वर्णिम युग था और अप्टन सिंक्लेयर इसके सिरमौर थे।

अप्टन सिंक्लेयर को सबसे अधिक उनके उपन्यास "दि जंगल" के लिए याद किया जाता है जो शिकागो के पशुबाड़ों में मजदूरों की स्थिति तथा वहाँ रहने की नारकीय परिस्थितियों को अभिव्यक्त करता था। इस किताब ने उस समय 27 वर्षीय लेखक को अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया तथा सिंक्लेयर वर्ष 1968 में अपनी मृत्यु से पूर्व तक एक ख्यातिलब्ध तथा व्यापक रूप से पढ़े जाने वाले लेखक रहे। लेकिन उन्हें "दो किताबें लिखने वाले लेखक" के रूप में जाना गया तथा उनकी शेष कृतियाँ अतीत के गर्त में खो गयीं। "दि जंगल" के अलावा "दि ब्रास चैक" उनकी दूसरी कृति थी जिसे उन्होंने वर्ष 1919 में स्वयं प्रकाशित किया था। "दि ब्रास चैक" में सिंक्लेयर ने अमरीकी "स्वतंत्र प्रेस" की अत्यन्त सीमित स्वतंत्रता की सुनियोजित निन्दा की। उन्होंने लिखा कि इस पुस्तक की यह अभिधारणा है कि "अमरीकी पत्रकारिता एक वर्ग संस्था है जो अमीरों की सेवा तथा गरीबों का तिरस्कार कर रही है।" अगर दि जंगल" पूँजीवादी उद्योग पर अपने भीषण प्रहारों के लिए मशहूर थी तो "दि ब्रास चैक" ने उससे भी भीषण प्रहार किये थे। उस किताब का शीर्षक स्वयं ही उस समय के शहरी वेश्यालयों के संरक्षकों को जारी की जानी वाली पर्ची का उल्लेख करता है। सिंक्लेयर ने पत्रकारों तथा वेश्याओं की समतुल्यता की तरफ ध्यान आकर्षित किया जो प्रेस के मालिकों तथा उस पर नियंत्रण रखने वाले धनी संभ्रान्त व्यक्तियों के कार्यक्रमों, सिद्धान्तों तथा नीतियों के आभारी रहते हैं। "राजनीति, पत्रकारिता तथा बड़े पूँजीपति हाथ में हाथ मिलाकर जनता तथा मजदूरों को लूटते तथा धोखा देते हैं।" उनका यह कथन अमरीकी राजनीति के भ्रष्टाचार तथा पूँजीवाद की भयावह प्रकृति की उनकी विस्तृत आलोचना का एक अभिन्न अंग था।

सिंक्लेयर ने देखा कि जब तक दिखावटी रूप से जनता की आवाज पूँजीवादी प्रेस के सम्पादकों तथा समाचार लेखकों के हाथ में रहेगी उन्हें तथा उनके सामाजिक न्याय के आन्दोलन को निष्पक्ष साझेदारी नहीं प्राप्त होगी। समाजवादियों द्वारा सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ जनता की आम राय बनाने के जो प्रयास किये जा रहे थे वह भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था द्वारा नहीं अपितु धनाढ्य वर्ग के लोगों द्वारा नियंत्रित किये जा रहे थे। जब तक ऐसी परिस्थिति बनी रहनी थी तब तक किसी प्रकार का न्याय संभव नहीं था। प्रत्येक राजनीतिक समस्या के मूल में प्रेस था तथा बड़े आन्दोलनों की सफलता के लिए इसकी भूमिका आवश्यक थी। जब 1919 में सिंक्लेयर ने ब्रास चेक लिखना शुरू किया तो उन्हें ज्ञात था कि उस पुस्तक का उनके द्वारा लिखी अन्य पुस्तकों से बहुत अधिक महत्व था। पुस्तक के मूल पाठ में ही उन्होंने कहा था कि "यह मेरे द्वारा लिखी गयी पुस्तकों में सबसे महत्वपूर्ण एवं सबसे खतरनाक पुस्तक है।"

इसके बावजूद जहाँ "दि जंगल" को अमरीकी साहित्य का एक बुनियादी एवं प्रधान उपन्यास माना जाता है वहीं पर "दि ब्रास चैक" को लगभग भुला दिया गया है। ऐसा तब हुआ है जब अमरीकी पत्रकारिता के इतिहास में इस प्रकार की पहली व्यवस्थित आलोचना की गयी जिसने उसकी संरचना की नीवें हिला कर रख दी थीं। आने वाले समय में मीडिया के संरचनात्मक ढाँचे की और घोर आलोचना का पूर्वानुमान करते हुए सिंक्लेयर ने पत्रकारिता के क्षेत्र में स्थापित वर्ग विभेद की चार भागों में विभक्त सुव्यवस्थित मॉडल के रूप में व्याख्या की। उन्होंने प्रेस मालिक, विज्ञापनकर्ता, जन सम्पर्क तथा आर्थिक स्वार्थ के महत्व पर जोर देते हुए इन्हें मीडिया की व्यवस्था से बन्धे होने तथा जनमत नियंत्रण के लिए उत्तरदायी बताया। प्रेस की आलोचना को प्रगतिवादी काल में आन्दोलनों के वृहत इतिहास के साथ जोड़ते हुए सिंक्लेयर ने सामाजिक अन्याय की उन सभी समस्याओं में मीडिया की केन्द्रीय भूमिका होने की तरफ इशारा किया जो नये पूँजीवाद की वृद्धि में सहायक हुई।

इन सबके बावजूद वे इतिहासकार जो ब्रास चैक का जिक्र करने की जहमत उठाते हैं, यह स्पष्ट करते हुए कि जिन समस्याओं का यह चित्रण करता है वह पहले ही हल हो चुकी हैं, इसको क्षणिक बताकर नकार देते हैं। जैसा कि सिंक्लेयर की कृतियों के संकलनकर्ता जान एहाऊस कहते हैं, सिंक्लेयर द्वारा "दि ब्रास चैक" में की गयी आलोचना ने एक व्यापक स्तर पर बहस छेड़ने में महती भूमिका निभायी जिसके फलस्वरूप अमेरिकी प्रेस में व्यापक तथ्यपरकता आयी। सिंक्लेयर, जो हरेक बुराई को उग्र रूप से उखाड़ फेंकने वाले थे, उन्होंने समाचार कक्षों में व्याप्त गन्दगी को उसी प्रकार से साफ करने में सहायता की जिस प्रकार उन्होंने पशुबाड़ों को साफ करने में की थी। हम सब अब किसी और महत्वपूर्ण सामाजिक मुद्दे की तरफ चलते हैं।

वास्तव में व्यावसायिक पत्रकारिता के बारे में सिंक्लेयर की बहुत चिन्ताएं व्यावसायिकता तथा "वस्तुपरकता" बढ़ने के साथ खत्म नहीं हुईं, ये ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्हें वह तुच्छ मानते थे तथा एक कपटपूर्ण समाधान समझते थे। उस पर भी जैसे-जैसे अमरीकी प्रेस पर पिछले दो दशकों में व्यावसायिक दबाव बढ़ता जा रहा है, सिंक्लेयर की बहुतेरी आलोचनाएं आश्चर्यजनक रूप से सही पायी जा रही हैं। इससे ब्रास चैक के विलुप्त होने के बारे में तब भी समझा जा सकता है, अगर यह भी जिक्र न किया जाये कि इसने सम्पूर्ण वृहत परम्परा को जन्म दिया जो जनता की जागरूकता तथा ढेर सारे मुख्यधारा के अथवा आलोचनात्मक समकालीन मीडिया विद्वानों को पढ़ने से जन्म लेती है।

हमारे नजरिये से इसकी व्याख्या ऐसे है कि इस पुस्तक में सिंक्लेयर अमरीका में एक केन्द्रीय एवं शक्तिशाली संस्था की विवेचना करते हैंव्यावसायिक प्रेसतथा एक स्पष्ट मूलभूत आलोचना प्रस्तुत करते हैं। सिंक्लेयर को इस बात का तत्काल बोध हो गया था कि प्रेस की व्यवस्था के ऊपर आक्रमण करना अधिक संवेदनशील, कठिन तथा विवादास्पद था, बजाय मांस बेचने वालों, डकैतों एवं शराब के व्यवसायियों की आलोचना करने के।

शुरुआत में ही "दि ब्रास चैक" को उनकी अन्य प्रकाशित पुस्तकों से भिन्न काफी विरोध का सामना करना पड़ा। शुरुआत करने वालों के लिए प्रथम दो सौ पृष्ठों में प्रत्येक पृष्ठ मुकदमेबाजी के लिए उपयुक्त था। उनको एक भी ऐसा व्यावसायिक प्रकाशक नहीं मिला जो उनकी परियोजना में सहयोग का इच्छुक हो इसलिए उन्होंने स्वयं ही अपनी पुस्तक प्रकाशित की, ऐसा उन्होंने अपने पेशे में कुछ एक ही विगत अवसरों पर किया था। पुस्तक में व्यावसायिक संभावना की कोई कमी नहीं थी। अपने प्रकाशन के प्रथम दशक में ही "दि ब्रास चैक" के दस संस्करण सिंक्लेयर द्वारा प्रकाशित किए गए तथा 150,000 से भी ऊपर प्रतियाँ बेची गईं। इस आशा में कि अधिक से अधिक लोग उनकी पुस्तक पढ़ सकें, उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रकाशन के प्राधिकार भी सुरक्षित नहीं कराये, यह भी जानते हुए कि कोई अन्य उनकी पुस्तक का पुनर्संस्करण नहीं छापेगा तथा उनके साथ विवादितों की श्रेणी में शामिल होना नहीं चाहेगा। वास्तव में तो एक समय उन्हें पुस्तक के संस्करण के प्रकाशन के लिए अक्खड़ी विक्रेताओं से प्रचुर मात्र में कागज प्राप्त करने तक में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ा।

सुस्थापित मीडिया की नाराजगी यहीं समाप्त नहीं हुई। अधिकतर समाचारपत्रों ने उस पुस्तक की समीक्षा करने से इनकर कर दिया और कुछ लोग जिन्होंने समीक्षा की भी, उनका रवैया हमेशा असहानुभूतिपूर्ण रहा। बहुत से समाचारपत्रों जैसे न्यूयार्क टाइम्स आदि ने तो उस पुस्तक के भुगतान हुए विज्ञापनों को भी प्रकाशित करने से इनकार कर दिया। आलोचकों ने तो आरोप लगाये कि सिंक्लेयर ने "दि ब्रास चैक" में तथ्यों को फूहड़ता के साथ प्रस्तुत किया है तथा पुस्तक गम्भीर परीक्षण के योग्य नहीं है। तथ्यों की सच्चाई के लिए कट्टर माने जाने वाले सिंक्लेयर ने "दि ब्रास चैक" की आलोचना करने वालों को पुस्तक के अगले संस्करणों में अक्सर फुटनोट के माध्यम से सीधी चेतावनी दी कि अगर वे लोग पुस्तक के मूल पाठ में एक भी शब्द को गलत सिद्ध कर सकें, तो उनमें से कोई भी उन पर मुकदमा कर सकता है। लेकिन उन पर कोई मुकदमा नहीं हुआ। अलबत्ता वर्ष 1921 में एसोसिएट प्रेस ने इस बात की घोषणा की कि वह एक समिति का गठन करने जा रहे हैं जो सिंक्लेयर द्वारा "दी ब्रास चैक" में एसोसिएट प्रेस के खिलाफ लगाये गये आरोपों का परीक्षण कर तथ्य एकत्र करेगी तथा उन आरोपों की भर्त्सना करेगी। वह परियोजना बिना किसी औपचारिक अथवा अनौपचारिक विवरण प्रस्तुत किये गुपचुप तरीके से त्याग दी गयी।

हमारे विचार से किसी अन्य कारण से कहीं अधिक यह बदनाम करने वाली मुहिम ही थी जो "दि ब्रास चैक" के बीसवीं शताब्दी के मध्य तक विलुप्त होने का कारण बनी। सिंक्लेयर मुख्यधारा के मीडिया के माध्यम से अपने उत्तर देने में अशक्त हो गये, अतः अनुत्तरित आरोपों तथा व्यंगात्मक टिप्पणियों ने सच्चाई को ढँक लिया। स्वयं सिंक्लेयर और ज्वलन्त मुद्दों की तरफ मुखातिब हो गये। उनके द्वारा मीडिया की आलोचना हमेशा से सामाजिक न्याय के प्रति उनकी मुख्य रूप से प्रतिबद्धता का अंग था तथा 1920 और 1930 में अन्य कई ऐसे मुद्दे थे जो उनका ध्यान अपनी तरफ खींच रहे थे।

यह अप्टन सिंक्लेयर ही थे जिन्होंने पूँजीवादी प्रेस के ऊपर हमले में अग्रणी भूमिका निभायी जो कोई सामान्य महत्व की बात नहीं थी। सिंक्लेयर सार्वजनिक जीवन में सर्वोच्च महत्ता के व्यक्तित्व बन गये थे जो एक कथित कट्टर समाजवादी के लिए कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। एचएल मानकेन के दावे के अनुसार सिंक्लेयर विदेशों में "अब तक के" सबसे अधिक व्यापक रूप से अनुवादित लेखक थे। 1941 में जार्ज बनार्ड शॉ ने सिंक्लेयर से कहा "जब लोग मुझसे यह पूछते हैं कि मेरे जीवन काल में क्या घटित हुआ है तो मैं उन्हें किसी समाचारपत्र की पत्रावली या प्राधिकारियों का नहीं अपितु आपके उपन्यासों का सन्दर्भ देता हूँ।" मिशेल के शब्दों में "किसी अन्य लेखक ने इससे अधिक नवयुवकों को समाजवादियों में परिवर्तित नहीं किया है।"

परन्तु वह एक लेखक के अतिरिक्त भी बहुत कुछ थे। सिंक्लेयर सामाजिक प्रयोगों से सीधे जुड़े हुए थे। जैसे समूह में रहने वाली सहकारी संस्थाएं तथा स्वास्थवर्धक आहारों में उनकी रुचि थी। सबसे महत्वपूर्ण है, उन्होंने अनेक अवसरों पर सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव भी लड़ा, एक सोशलिस्ट की तरह। वह कभी प्रभावी रूप से एक पार्टी विशेष के राजनीतिज्ञ नहीं रहे जो एक विशेष प्रकार के ध्येय अथवा सिद्धान्त से जुड़े होते हैंलेकिन वह कभी गतिविधियों से दूर भी नहीं रहे। उनको सबसे बड़ी सफलता 1934 में हासिल हुई जब वह कैलिफोर्निया में गरीबी हटाओ प्लेटफार्म पर कैलिफोर्निया के गवर्नर पद के लिए डेमोक्रेटिक पार्टी के उम्मीदवार के रूप में चुनाव लड़े। न्यूयार्क टाइम्स के शब्दों में, यह "अमेरिका में लाभ पर आधारित व्यवस्था के खिलाफ पहला गम्भीर आन्दोलन था।" जैसा ग्रेग मिशेल ने उत्कृष्ट रूप से इतिहासबद्ध किया है, सिंक्लेयर राज्य के समृद्ध संभ्रान्त व्यक्तियों, जिनमें हॉलीवुड एवं

मीडिया जगत की महान हस्तियाँ भी शामिल थीं, द्वारा असामान्य रूप से छेड़े गये कृत्रिम एवं दुष्प्रचारपूर्ण युद्ध के पश्चात हार गये थे। वास्तव में, यह ब्रास चेक (शतरंज की बिसात पर धन के कारण उनकी मात) ही थी।

सिंक्लेयर जिस प्रकार के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, तथा जिस प्रकार का उनका पेशा था, उन्हें एक अप्रतिम प्रतिभाशाली व्यक्ति के रूप में नहीं जाना जाता है, अपितु, अमेरिका में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विस्तृत विकास के प्रतिनिधि के रूप में जाना जाता है। यही मीडिया की आलोचना के बारे में भी सच था जो, दि ब्रास चेक में सिंक्लेयर ने प्रस्तुत की थी। प्रेस के जिस संकट के बारे में सिंक्लेयर ने लिखा था वह प्रगतिकाल में अमेरिकी समाज में आम चर्चा का विषय था। इस संकट का आधार बिलकुल स्पष्ट था। पारम्परिक रूप से अमेरिका में समाचारपत्र बहुत ही पक्षपाती होते थे। उनमें व्यक्त विचार उनके मालिकों के होते थे, वास्तव में उनके सम्पादक तथा प्रकाशक एक ही होते थे। एक बड़े शहर में दस से बीस या, उससे भी अधिक, समाचारपत्र होते थे, उनमें से प्रत्येक एक अलग राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता था। किसी एक समाचारपत्र का सम्पूर्ण बाजार पर एकाधिपत्य नहीं होता था, तथा अगर कोई उनके उस समय विद्यमान समस्त दृष्टिकोणों से असन्तुष्ट हुआ, तो एक नये समाचारपत्र का सूत्रपात करना संभव नहीं था। समाचारपत्रों का बाजार परस्पर स्पर्धात्मक था।

ये सभी परिस्थितियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के साथ बदल गयीं जब समाचारपत्रों का बाजार अत्यन्त कम प्रतिस्पर्धात्मक रह गया। सबसे बड़ी समाचार पत्रिकाएँ जैसेपुलिटजर, फ्लियरेस्ट, स्कीप्सने
सम्पूर्ण राष्ट्र में समाचार पत्रिकाओं की श्रृंखला खड़ी कर दी थी, अगर उनका सम्पूर्ण बाजार पर स्पष्ट एकाधिकार नहीं हो पाया तब भी उस समय उपलब्ध किन्हीं दो समाचारपत्रों में से एक उनका ही होता था। इसके अतिरिक्त, अर्थशास्त्रियों के कथनानुसार “प्रवेश पर अवरोध” की धारणा के कारण नये उद्यमियों के लिए प्रतिस्पर्धा में बने रह पाना मुश्किल हो गया था। विज्ञापन आमदनी के सबसे बड़े स्रोत बन गये थे, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य की तुलना में, जब यह लगभग महत्वहीन हुआ करते थे, बढ़कर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह समाचारपत्रों की आमदनी के दो तिहाई हिस्से के लिए उत्तरदायी हो चुके थे। इसने केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को और बढ़ा दिया। विज्ञापनकर्ता उन समाचारपत्रों की ओर बड़ी संख्या में आकर्षित होने लगे जो अधिकतर पढ़ने वालों को न्यूनतम “लागत प्रति हजार” पर उपलब्ध करा रहे थे। इसके कारण हाशिये पर आ गये अखबारों के व्यापार से बाहर आने की नौबत आ गयी, इससे अमीर मालिकों या अखबारों के समूह का वर्चस्व सभी और कम से कम बड़े शहरों में और मजबूत होने लगा। बीसवीं शताब्दी के अन्तर्गत अमेरिका में दैनिक समाचारपत्रों के असीमिति लाभकारी होने के बावजूद, 1920 से कुछेक नये समाचारपत्र ही सफलतापूर्वक स्थापित बाजार में प्रवेश कर सके हैं। यह एकाधिकार या अल्पविक्रेताधिकार का एक उत्कृष्ट संकेत था। समाचारपत्रों का प्रकाशन एक बहुत बड़ा व्यवसाय बन चुका था।

समाचारपत्रों के बाजार में इस प्रकार के केन्द्रीकरण तथा विज्ञापनों की उत्तरोत्तर वृद्धि ही प्रगतिशील काल में, पत्रकारिता के संकट की नींव बनी। अत्यन्त पक्षपाती पत्रकारिता करना एक बात थी, जब समाज में ढेरों समाचारपत्र ऐसे थे जो एक प्रकार के नजरियों की श्रृंखला प्रस्तुत कर रहे थे, और एक अन्य नये समाचारपत्र की शुरुआत कर देना कोई कठिन काम नहीं था। परन्तु वही अत्यन्त पक्षपाती पत्रकारिता बिलकुल अलग बात थी जब मात्र एक या दो ही समाचारपत्र होते थे, और वह स्पष्ट रूप से अपने मालिकों के ऐसे राजनीतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते थे, जो निश्चित रूप से सामान्यतः रूढ़िवादी थे। ऐसे प्रसंगों में पत्रकारिता उस प्रकार के सरकारी प्रचार से भरी नहीं होती, जो एक सत्ताशील समाज में होते हैं जहाँ प्रेस की आजादी पर औपचारिक प्रतिबन्ध होते हैं। यही वह प्रसंग था जिसे सिंक्लेयर सम्बोधित कर रहे थे।

प्रगतिशील काल में पत्रकारिता के संकट के परम्परागत विवरण, जिसमें फ्रैंक लूथर द्वारा सबसे अधिक बार उद्धृत इतिहास तथा मरियान मजरोल्फ द्वारा किये गये गहन अध्ययन, ने सनसनीखेज खोजों की बढ़ती प्रवृत्ति की पुष्टि की हैया जिसे “यलो जर्नलिज्म” भी कहा
जाता थालाभ अर्जित करने के लिए भूखे प्रकाशकों ने वह सब कुछ
प्रकाशित किया जो आम पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए आवश्यक था जिससे विज्ञापनकर्ताओं का रुझान समाचारपत्र की तरफ हो सके। प्रजातांत्रिक प्रेस की वह प्रतिष्ठित बाध्यता, जिसके कारण वह जनसाधारण के मामलों की सही खबर देते थे, उसको एक नयी किस्म की चतुराईपूर्ण एवं बनावटी प्रवृत्ति की लहर ने दरकिनार कर दिया, जो उन विशिष्ट लोगों के हितों के झूठ का ढिंढोरा पीट रही थी, जो अपने समाचारपत्रों का उपयोग राष्ट्रीय राजनीति में जोड़-तोड़ के लिए कर रहे थे। प्रगतिवादी सिनेटर राबर्ट ला फालिट के खेमे के थे, वह निरन्तर व्यावसायिक प्रेस की निन्दा ला फालिट की पत्रिका के माध्यम से किया करते थे तथा प्रजातांत्रिक व्यवस्था की विकृतियों के बारे में जनमत खड़ा कर लोगों को चेताया करते थे। विश्वविद्यालयों ने जनसूचनाओं के गिरते स्तर, पूर्वाग्रहों के लिए जोड़-तोड़ तथा व्यावसायिक प्रेस की व्यवस्था के पीछे स्थित निहित स्वार्थों द्वारा षडयंत्र कर कार्यक्रमों का निर्धारण आदि विषयों पर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए संगोष्ठियाँ आयोजित करनी शुरू कर दीं। व्यवस्था में विद्यमान सम्पादकों एवं पत्रकारों ने अपनी स्वयं की चिन्ताएं प्रकट करते हुए, एक अव्यावसायिक प्रेस, न्यायपूर्ण तथा सटीक सूचनाओं वाले केन्द्र की स्थापना तथा विज्ञापनों की आय पर रोक लगाने आदि विषयों की वकालत शुरू कर दी। 1900 से 1920 के बीच लोकप्रिय समाचारपत्रों जिनमें सोशलिस्ट अखबारों से लेकर बहुतायत में वितरित होने वाली पत्रिकाएं शामिल थीं, में सैकड़ों आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे।

इन लगभग सर्वव्यापी प्रतिरोधों के मूल में कुछ अत्यन्त साधारण सी चिन्ताएं थीं “देश जनमत से नियंत्रित होता है, और जनमत तो ज्यादातर समाचारपत्रों से ही नियंत्रित होता है” हावर्ड के प्रोफेसर ह्यूगो मन्सटबर्ग ने 1911 में लिखा था “क्या यह जानना जरूरी नहीं है कि कौन समाचारपत्रों को संचालित करता है?” प्रेस की शक्ति स्वयंसिद्ध थी। “अमेरिकी प्रेस अन्य किसी काल अथवा देश की तुलना में इस समय सबसे प्रभावशाली है।” विल इरविन ने 1911 में लिखा कि “धर्म को छोड़कर अन्य कोई भी न्यायेत्तर प्रक्रिया इससे आधी भी शक्तिशाली नहीं है।” चार्ल्स एडवर्ड रसेल बहुत से लोगों की भावना अभिव्यक्त करते थे, जब उन्होंने 1910 में ला फोन्ट राजनीतिक पत्रिका के लिए लिखा था “अगर अमेरिका के सभी लोगों को प्रतिदिन यह सूचना दी जा सके कि वाशिंगटन में क्या होता है तथा उसके क्या कारण हैं, तो उद्योगों की राष्ट्रीय कानूनी विधानों पर जो अनूठी पकड़ है, वह अगले चुनावों तक नहीं रह पायेगी।”

अगर परम्परावादी नजरियों ने पत्रकारिता से जुड़ी समस्या को नियंत्रण से बाहर होती व्यावसायिकता की तरह देखा, जिसमें हरेक हारने वाला था, तो रैडिकल प्रेस के आलोचकों ने इसे नितान्त एक वर्ग के मुद्दे के तौर पर देखा "एक चापलूस प्रेस तथा एक स्वतंत्र शासन एक ही छत के नीचे नहीं रह सकते हैं," मैक्स शेरोबर ने एक सोशलिस्ट राजनीतिक पर्चे में लिखा था। और यह चापलूसी बड़े व्यावसायिक घरानों की थी। हैमिल्टन हाल्ट, जिनका राजनीतिक रूप से सोशलिज्म से कोई लेना-देना नहीं था, उन्होंने अनधिकारिक रूप से एक पत्रकार के बारे में बताया जो इन विचारों से सहमत थे "न्यूयार्क के एक पत्रकार का व्यवसाय सच को विकृत करना, सीधे-सीधे झूठ बोलना, बदनाम करना, रईसों के तलुवे चाटना तथा अपनी रोजी-रोटी के लिए अपने देश तथा अपनी बिरादरी को बेच देना है। हम लोग अप्रत्यक्ष रूप से अमीरों के औजार और गुलाम हैं।" ला फोलिट प्रेस की व्यवस्था के निरन्तर आलोचक थे। फिलाडेल्फिया में पत्रिकाओं के प्रकाशकों की एक सभा में अपने भाषण में उन्होंने फरवरी 1912 में प्रेस के पीछे काम करने वाली खतरनाक ताकतों के बारे में आगाह किया "इसका नियंत्रण स्वार्थी तत्वों की बिरादरी द्वारा किया जाता है, जिसमें निवेश तथा उधार की परस्पर निर्भरता होती है जिसके कारण प्रकाशक बैंकों से बँधा रहता है।"

यद्यपि प्रेस की मौलिक आलोचना नाराजगी भरी होती थी तथा उन सम्पादकों एवं संवाददाताओं के खिलाफ होती थी जो सच कहने में असफल रहते थे परन्तु यह कोई षडयंत्र पर आधारित नहीं होती थी। इसकी अवधारणा यह कभी नहीं थी कि समस्या बुरे व्यक्ति थे, अपितु इसके ठीक विपरीत, समस्या बुरी व्यवस्था थी जो अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्तियों को गलत कार्यों के लिए बाध्य करती थी। पूँजीवादी समाचार प्रस्तुतिकरण के केन्द्रीय तार्किक पक्ष ने ही इसके प्रजातांत्रिक उपयोग के उद्देश्य को मूल तक भ्रष्ट कर दिया था। "इससे इनकार नहीं किया जा सकता है" एक समाजशास्त्री ने लिखा "कि बड़े समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं में पूँजी निवेश, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, व्यापारिक समुदायों के ऊपर उनकी साख पर निर्भर करता है। और यह साख व्यापारिक समुदाय के हितों की पूर्ति के बिना नहीं प्राप्त हो सकती थी।" बोस्टन कॉमन के एक सम्पादक ने तर्क दिया "इस सच्चाई का कारण न तो आकस्मिक है और न ही प्रकाशकों का विशेष चारित्रिक पतन है अपितु इसके पीछे स्पष्ट कारण व्यावसायिक आवयश्कता है कि जब भी विशेष सुविधासम्पन्न वर्गों के खिलाफ बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी गयी हैं तो समाचारपत्रों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सुविधासम्पन्न वर्गों के साथ ही पाया गया है। इस उद्योग में आन्तरिक सुधारों के जितने भी प्रस्ताव हुये वह निरर्थक साबित हुए।" विस्कान्सिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर एडवर्ड रास ने सहयोग पर आधारित प्रेस की धारणा की वकालत इन संवदनाओं के साथ की "प्रेस के मालिक या प्रकाशक के अँगूठे के तले दबे हुये सम्पादक से, यह अनुरोध करना कि वह और अधिक स्वतंत्र हो जाये, उसे अपने व्यवसाय से हाथ धोने के लिए उकसाने के समान है। पूँजीपति मालिक को इस बात के लिए प्रेरित करना कि वह अपने समाचारपत्र को प्रगति एवं सत्य के हित में चलाये उसी प्रकार तर्कसंगत है जिस प्रकार किसी मिलमालिक को प्रेरित करना कि वह अपने मालिकाना हक का इस्तेमाल अपने निजी लाभ की जगह जनहित के लिए करे।"

प्रेस की मूलभूत आलोचना में, विज्ञापनों को विशेष रूप से विपरीत प्रभाव एवं भ्रष्टाचार का मुख्य साधन माना गया था। प्रोफेसर रास ने 1910 में लिखा "जब समाचार कालम तथा सम्पादकीय पृष्ठ व्यापारिक प्रकाशनों की लाभकारी बिक्री के लिए प्रासंगिक मात्र हैं, तो यह भी शुद्ध व्यावसायिकता है कि बड़े विज्ञापनकर्ताओं को इन दोनों के प्रकाशन नियंत्रण करने दिये जाएँ।" ला फोन्ट ने विज्ञापनों को "एक छिपा हुआ खतरा" बताया तथा उन्होंने पत्रकारों को यह आगाह किया कि यह "समय आने पर आपका गला घोंटने का प्रयत्न करेगा।" विलियम साल्सबरी, जो एक प्रख्यात पत्रकार थे, ने निष्कर्ष निकाला "बड़ा विज्ञापनकर्ता ही राजदंड देने वाली अमेरिकी पत्रकारिता का राजा हैवह राजा जो कुछ गलत नहीं कर सकता।"

अपने पूर्ववर्ती प्रेस के आलोचकों से कहीं अधिक, सिंक्लेयर ने भी विज्ञापनों तथा उनके स्वतंत्र प्रेस को बदनाम करने वाले कारणों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया "सर्वत्र पत्रकारिता की दुनिया में, ऊँचे तथा निचले स्तर पर, आप विज्ञापनकर्ताओं की इसी शक्ति को देखते हैं," वह लिखते हैं, "यह प्रचार प्रसार की व्यवस्था जो विज्ञापनों के बदले मिलती है सैद्धान्तिक रूप से एक बेईमानी है, लेकिन यह लाभ अर्जन के लिए किये जाने वाले समाचार प्रकाशन के व्यवसाय का अविभाज्य अंग है, वैध और अवैध इतने धीरे-धीरे एक-दूसरे में विलीन हो जाते हैं कि किसी भी ईमानदार सम्पादक के लिए यह बहुत मुश्किल हो जाता है कि वह कहाँ पर सीमा निर्धारित करे।" (पृ-285) इसके बावजूद, सिंक्लेयर के अनुसार, विज्ञापकर्ताओं के राजनीतिक पूर्वाग्रहों ने समाजवादी (सोशलिस्ट) तथा मजदूरों के पक्षधर प्रकाशनों के लिए व्यवसाय में टिके रहना भी अत्यन्त कठिन कर दिया था। "कुछ विचित्र कारणों से" उन्होंने एक ऐसी पत्रिका के विषय में टिप्पणी की जो बड़े पैमाने पर बिकती थी परन्तु फिर भी इतनी ही आमदनी हो पाती थी जिससे बड़ी मुश्किल से लागत वापस मिल पाती थी, "सुअर का मांस पैक करने वाले, रेडिमेड कपड़े और ऑटोमोबाइल बनाने वाले, सुगन्धित प्रसाधन सामग्री तथा फैन्सी सिगरेट बनाने वाले एक सोशलिस्ट पत्रिका को पैसा नहीं दे सकते।"

सिंक्लेयर की प्रतिभा का एक भाग तो "दि ब्रास चैक" में आलोचनाओं की एक पूरी फेहरिस्त को छाँटकर उसका सार एक उपयोगी एवं मौलिक रूप में प्रस्तुत करने में प्रयुक्त हुआ। एक पत्रकार एवं राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में उनके विस्तृत अनुभव का सम्मिश्रण इसे और प्रभावशाली बनाता है। उदाहरण के तौर पर, शक्तिशाली ताकतों द्वारा प्रचार-प्रसार माध्यमों का उपयोग करके प्रजातंत्र को उखाड़ फेंकने की परिष्कृत आलोचना करने के मौलिक कारण हैं "पत्रकारिता एक ऐसी युक्ति है जिससे औद्योगिक निरंकुशता राजनीतिक प्रजातंत्र पर अपना नियंत्रण रखती है, दिन ब दिन चुनावों के प्रचार के बीच जनता की स्मरण शक्ति को तथ्यों को स्वीकार करने की स्थिति में रखा जाता है, जिससे जब भी चुनाव का संकट आये, वह मतदान केन्द्र जाएँ तथा अपना शोषण कर रही किन्हीं दो पार्टियों में से किसी एक को अपना वोट डाल दें।" (पृ-222) "आप इस पुस्तक का सार भूल जाएँगे" सिंक्लेयर आगे लिखते हैं, "अगर आप समाचारपत्रों के दुराग्रह तथा जनता के मत के साथ विश्वासघात को समझ नहीं पाते हैं तो यह कोई संयोग या दुर्घटना का विषय नहीं है, पिछले पच्चीस सालों से यह वस्तु जानबूझकर नियोजित की गयी है तथा सुनियोजिकत ढंग से कार्यान्वित की गयी है, बाजार में ऊँचे दामों पर उपलब्ध होने वाले विशेषज्ञों ने अपने जीवन इसके लिए समर्पित किये हैं, वह उद्योग के मालिकों के साथ बैठ कर परामर्श करते हैं, और जनता के विचारों के बारे में सूचना देते हैं, और यह पता लगाते हैं उन विचारों का सही प्रस्तुतिकरण कैसे किया जाये और इनका दमन

कैसे किया जाये।"(पृ-262)

इसके प्रतिरोध का स्तर इस बात पर निर्भर करता है कि संकट कितनी गहराई तक है। प्रगतिशील काल प्रगतिशील स्वतंत्र मीडिया से भरा पड़ा था। सोशलिस्ट पार्टी के समर्थक अकेले 325 अंग्रेजी तथा विदेशी भाषाओं के दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक समाचारपत्र एवं पत्रिकाएँ प्रकाशित कर रहे थे। इनमें से ज्यादातर निजी स्वामित्व के थे या पाँच हजार से भी अधिक सोशलिस्ट पार्टी के स्थानीय प्रकाशनों में से एक थे। उनका प्रसार कुल बीस लाख से भी अधिक पाठकों तक था। *अपील टू रीज़न* , एक प्रख्यात समाचारपत्र था जिसमें सिंक्लेयर का अपना एक पृष्ठ होता था, उसके स्वयं के पाठकों की संख्या 750,00 से भी अधिक थी। परन्तु एकाधिकार वाले, विज्ञापनों के द्वारा समर्थित मीडिया बाजार ने वैकल्पिक प्रेस के लिए कठिनाइयों के स्तर को इस कदर बढ़ा दिया था कि उनके लिए मुख्यधारा में बने रहना वस्तुतः असंभव हो गया था। सिंक्लेयर इस विचार से तिरस्कार रखते थे कि रैडिकल प्रेस को अपने को हाशिये पर रख कर आर्थिक रूप से दिवालिया मीडिया के साथ सन्तुष्ट रहना चाहिये, उन्होंने इस गलत अवधारणा को नकार दिया जो साफ इंगित करती है कि "मध्यमवर्गीय विचार दिवालिया होता है।"(पृ. 404)

सिंक्लेयर के लिए, सामाजिक न्याय के लिए चलाये जा रहे आन्दालनों से होने वाला सलूक ही उस समय की पत्रकारिता का असली पैमाना था, और यहीं पर उन्होंने मजदूरों, सोशलिस्टों तथा नारी स्वतंत्रतावादियों के साथ किये जा रहे व्यवहार को इतना कठोर और शत्रुतापूर्ण पाया कि यह प्रजातंत्र के शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए बहुत बड़ा अवरोध बन गया था। "पत्रकारिता इस साधारण एवं मौलिक नियम का अनुकरण करती है," वह लिखते हैं "अगर हड़ताली लोग हिंसात्मक हैं तो वह, टेलीग्राफों में जगह पाते हैं, जबकि यदि वह अंहिसात्मक है तो वह टेलीग्राफों में जगह नहीं पाते हैं, इसी साधारण युक्ति से ऐसा होता है कि हड़ताल के बारे में आप द्वारा पढ़ी जाने वाली दस में से नौ खबरें हिंसा की होती हैं, इसलिए आप के विचार तंत्र पर इन विचारों से जुड़ी भावनाएँ अमिट रूप से अंकित हो जाती हैः हड़ताल-हिंसा, हिंसा-हड़ताल।"(पृ-353)

ब्रास चेक का अभिप्राय व्यावसायिक पत्रकारिता की मात्र आलोचना करना ही नहीं है, अपितु इसके कारणों को भी समझाना है जिससे व्यवस्था में परिवर्तन हो सके। "जिस बात को मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि पत्रकारिता का वेश्याकर्म अमुक कारणों से है, और अमुक परिवर्तनों से इसको सुधारा जा सकता है"।(पृ-221) यद्यपि वह एक सोशलिस्ट थे, परन्तु सिंक्लेयर इस बात से नफरत करते थे सरकार का समाचारपत्रों अथवा पत्रकारिता पर एकाधिकार हो। वह दि ब्रास चेक में समाधानों की पूरी श्रृंखला प्रस्तुत करते हैं, जिनमें अनेक ऐसे हैं जो व्यवस्था के अन्दर ही काम कर सकेंगे। उदाहरण के तौर पर उन्होंने पत्रकारों के एक स्वतंत्र एवं शक्तिशाली संघ की माँग की। "अमेरिका के हरेक समाचारपत्र कार्यालय में समाचार विभाग एवं वाणिज्य कार्यालय के बीच वही संघर्ष हर समय चलता रहता है।"(पृ-234) उन्होंने निष्कर्ष निकाला, "इस पुस्तक का उद्देश्य समाचारपत्र कर्मचारियों के एक संघ की वकालत करना है, जिससे वह एक संस्था की तरह अपनी माँगें रख सकें, एक असहाय व्यक्ति की तरह नहीं।"(पृ-421) उन्होंने संगठित मजदूरों को भी प्रेरित किया कि वह प्रचुर धन पोषित स्वतंत्र समाचारपत्रों की स्थापना करें। दि ब्रास चेक के प्रकाशन के उपरान्त कई वर्षों तक सिंक्लेयर "नेशनल न्यूज़" नामक एक ईमानदार साप्ताहिक समाचारपत्र शुरू करने के वास्ते कोष बनाने के लिए धन एकत्र करते रहे, जो किसी पार्टी या किसी उद्देश्य के हित में न हो, अपितु जनता को सच्चाई बता सके। सिंक्लेयर ने उस समाचारपत्र का विचार त्याग दिया जब वह उनका अत्यधिक समय लेने लगा, वह किताबें लिखने को प्राथमिकता देने लगे।

सिंक्लेयर की सराहना की जानी चाहिये कि उन्होंने यथास्थिति की आलोचना के साथ-साथ अपनी स्वेच्छा से इसके सुधार के लिए एक योजना का प्रस्ताव प्रस्तुत करने में अपनी उत्सुकता दिखायी। उनके समाधान उनकी समालोचना की तुलना में पर्याप्त नहीं थे यह एक दूसरा उदाहरण है उन घोर कठिनाइयों का जिनका रैडिकल मीडिया के आलोचकों को सामना करना पड़ रहा था। "अमेरिकी जनता पूरी तरह से समाचारपत्रों से तिरस्कार एवं घृणा करती है," सिंक्लेयर ने टिप्पणी की "फिर भी लगता है उन्हें इस बात की कोई कल्पना नहीं है कि इसके लिए क्या करना है, और वह यह मान लेते हैं उनको अपनी बची हुयी जिन्दगी भर इसी प्रकार झूठ को पढ़ते रहना चाहिये।"(पृ-201) व्यावसायिक समाचार मीडिया विशेष रूप से, विचारों के प्रचार-प्रसार पर अपने प्रभुत्व तथा राजनीतिज्ञों पर प्रभाव होने के कारण, उनके सबसे प्रबल प्रतिपक्षी थे। कुछ एक राजनीतिज्ञों जिन्होंने प्रेस की बड़ी हस्तियों, जैसे राबर्ट एम लॉ फोलिट की कटु समालोचना करने का साहस किया तो उन्होंने अपने लिए प्रबल शत्रु बना लिए, जो उनके राजनीतिक जीवन और कार्यक्रमों की जड़ खोदने में लग गये। (पृ-325-26) जो भी सफलता दि ब्रास चेक के समय मीडिया सुधार कार्यक्रमों को मिलनी थी वह मुख्य रूप से सोशलिस्टों एवं लॉ फोलिट शाखा के प्रगतिशील आन्दोलनों की सफलता पर निर्भर थी। जब उन आन्दोलनों को कुचल दिया गया तब, 1920 तक, मीडिया सुधारों का भविष्य, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, पहले क्षीण होते हुये, विलुप्त हो गया।

यह एक विडम्बना ही है कि उस समय के प्रेक्षकों ने यह तर्क दिया कि बढ़ती व्यावसायिकता ने प्रभावशाली रूप से सिंक्ल्येर की समाचार मीडिया की प्रमुख आलोचना का समाधान कर दिया था। यद्यपि व्यावसायिक पत्रकारिता की धारणा प्रगतिशील युग में प्रस्तुत हुई थी, यह उस समय बहुत कम दृढ़ हो पायीयह कदाचित ही आश्चर्य की बात थी क्योंकि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक एक रिवाज बनने के बावजूद अपनी काल्पनिक उपलब्धियों के बड़े-बड़े भाषण देने के अतिरिक्त इसने कुछ भी नहीं किया था। अत्यन्त चर्चा एवं शोरगुल का विषय रहे "चीन की दीवार" के निर्माण का मुद्दा, जो व्यावसायिक कार्यालय को सम्पादकीय कार्यालय से पृथक करता, उसे अभी मजबूत होने में समय लगना था। ऐसे प्रशिक्षित पेशेवर लोग, जो मालिकों के और अपने पूर्वाग्रहों को तरजीह नहीं दें, उन्हें अभी ऐसा करने के लिए प्रशिक्षित होना था। इसके अतिरिक्त यह उस प्रथा की वैधता के लिए बहुत बड़ा अवरोध था जिसके अनुसार यह एक अनौपचारिक समझौता था, जो कि प्रेस मालिकों द्वारा अन्य सुदृढ़ मालिकों के उत्पाद को वैधता प्रदान करता था इसलिए यह एक अच्छा व्यापार था।

लेकिन सिंक्लेयर मुख्यधारा के पर्यवेक्षक के अतिरिक्त कुछ और भी थे, तथा वह काफी हद तक एक ऐसे सोशलिस्ट थे जो हमेशा उस समस्या के समाधान के बारे में सोचते रहते थे जो मालिकों के संवर्ग को सत्ता देती थी तथा निरपवाद रूप से दोषपूर्ण थी। उनका विश्वास था कि, अन्तिम रूप से, वे लोग जो मालिकाना हक रखते हैं और नौकरी

दे सकते हैं, और नौकरी से निकाल सकते हैं, एवं बजट आदि निर्धारित करते हैं वे ही उस माध्यम के नैतिक मूल्यों का निर्धारण करते हैं। बिल इरविन का उदाहरण देते हुये, उन्होंने टिप्पणी की "मातहतों" का झुकाव "अपने आप ही मालिकों के दृष्टिकोण की तरफ होता है।"(पृ-276) "एक व्यावसायिक पत्रकार" वह निष्कर्ष निकालते हैं, "को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो हमेशा अपने आप को एक दिन के नोटिस तैयार रखता है कि वह अपने दृष्टिकोण का नये मालिक की जेब में रखी किताब के अनुसार सामंजस्य स्थापित कर सके।"(पृ-276) अनेक पत्रकार जिनका मोहभंग हो चुका था वह इन भावनाओं की पुष्टि करते हुये चारों तरफ मंडराया करते थे। व्यावसायिकता ने व्यापारिक पत्रकारिता के संकट को जनता के घोर विरोध की परिधि से नीचे तक ला दिया था तथा हमेशा की तरह विद्यमान व्यापार की सच्चाइयों की क्षतिपूर्ति के लिए उसको हल्के आन्तरिक सुधारों तथा विलक्षण एवं व्यापक जनसम्पर्क के साथ संयुक्त कर उसको उसी स्तर पर बनाये रखा। बिल इरविन ने इस दोहरे मापदण्ड को सजीवता के साथ प्रस्तुत किया "सार्वजनिक रूप से नियंत्रित समाचारपत्र अपने प्राचीन कर्तव्य जनसेवा का दिखावा करते हैं। व्यक्तिगत तौर पर, यह समृद्धि की सेवा करते हैं। सार्वजनिक रूप से यह, अपने नियमित पाठकों की संख्या बरकरार रखने के लिए, प्रगति का पक्ष लेने का दिखावा करते हैं, निजी तौर पर अपने मालिकों की आमदनी के स्रोत तथा समाज में इनकी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए, उन समाचारों को छिपा तथा विकृत कर देते हैं जो प्रगति की प्रक्रिया में सहायक हो सकती है। यह व्यवस्था अपने मूल तक बेईमान है।"

दि ब्रास चेक के प्रथम बार प्रकाशित होने के उपरान्त आगामी दशकों में पत्रकारिता में व्यावसायिकता काफी परिष्कृत हो चुकी है। इसने पत्रकारों को व्यावसायिक दबावों के लिए स्वायत्तता का एक मापदण्ड उपलब्ध कराया है, और सच्चाई की विशुद्धता पर एक अधिशुल्क लगा दिया है। यह सब अच्छे के लिए ही है। किन्तु व्यावसायिक पत्रकारिता की न्यायसंगतता एवं सामाजिक निष्पक्षता के दावे निरन्तर आलोचना के पात्र रहे हैं, तथा सिंक्लेयर की शंकाओं को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं। साफ-साफ कहा जाये, तो व्यावसायिक पत्रकारों के लिए नव निर्धारित संहिता में, जैसा मीडिया समालोचक बेन बैगडीकियन ने इंगित किया, अनेकों सुस्पष्ट पूर्वाग्रह लिखे गये हैं जो मालिकों की व्यापारिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं को परिलक्षित करता है। (इन पर चर्चा के लिए, देखिये राबर्ट डब्ल्यू मैकचेस्ने का लेख "जर्नलिज्म, डेमोक्रेसी एण्ड क्लास स्ट्रगल" मन्थली रिव्यू, नवम्बर 2000)।

व्यावसायिक पत्रकारिता की दिखावटी निष्पक्षता उसी तरीके से प्रत्यक्ष हो जाती है जब यह पूँजीवाद विरोधी सामाजिक आन्दोलनों का विवरण देते हैं। व्यावसायिक पत्रकारिता के अन्तर्गत, व्यापार को समाज का एक सहज परिचारक, जबकि मजदूर को एक कम उदार (शुभचिन्तक) ताकत की तरह देखा जाता है और वामपंथी राजनीति को समान्यतः शक की दृष्टि से देखा जाता है। सीआईओ न्यूज़ के एक कार्टून ने 1940 के अन्त में न्यूज मीडिया में इस प्रवृत्ति की ओर प्रगतिशील विचारों की तरफ अपना ध्यान आकर्षित किया। इसमें सिगार पीते हुये एक मोटे बॉस के व्यंग्य चित्र को दिखाया गया है जो एक व्यक्ति, जिसे अमेरिकी जनता के रूप में दर्शाया गया है, के सिर पर फिट की गयी खोपड़ी में लगे दो लीवरों को चला रहा है। एक लीवर रेडियो तथा दूसरा समाचारपत्रों के लिए है। उसके दिमाग में यह सन्देश भरा जा रहा है कि "व्यापार अच्छा, तथा श्रम बेकार है।"

विगत 25 वर्षों में, प्रगतिवादियों के लिए मुख्यधारा के मीडिया में सन्तोषजनक स्थान पाना और भी मुश्किल हो गया है। यह प्राथमिक रूप से न्यूज मीडिया के ऊपर उद्योग जगत के कसते हुये शिकंजे की वजह से है जो सरकार द्वारा प्रचार-प्रसार के माध्यमों के विनियंत्रिण तथा सरकार से अविश्वास करने पर लागू होने वाले कानूनों का शिथिल प्रवर्तन है। पिछले दो दशकों में, अमेरिकी न्यूज़ मीडिया कुछ प्रभावशाली गुटों के हाथ में सिमट कर रह गया है। इसके कुछ अनुपात का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 2000 में एओएल द्वारा टाइम वार्नर को खरीदना मीडिया के इतिहास का अब तक का सबसे बड़ा सौदा था, जिसकी कीमत लगभग 160 बिलियन डालर थी। वह मीडिया के इतिहास में 1979 तक अंकित सबसे बड़े सौदे से 470 गुना अधिक थी। मीडिया के नौ या दस सबसे बड़े ग्रुप अब दुनिया की सबसे बड़ी 300 फर्मो की सूची में स्थान पाते हैं, 1970 में उस सूची में मात्र एक या दो ही मीडिया फर्में हुआ करती थीं।

ये मीडिया ग्रुप अक्सर टीवी नेटवर्क या न्यूजपेपर चेन के लिए प्रीमियम मूल्य अदा किया करते थे, जिससे उन्हें अपने उन्हीं व्यापारिक उसूलों को न्यूज रूम में लागू करने में वही बड़े प्रोत्साहन (लाभ) प्राप्त हो सकें, जो वह अपने दूसरे विभागों में प्रयुक्त करते रहे हैं। आखिर क्यों उन्हें अपने सम्पादकों को पूर्णाधिकार देना चाहिये जबकि उनके दूसरे मैनेजरों को अपनी हरेक गतिविधियों का हिसाब देना पड़ता है? इसका तर्कसंगत परिणाम पत्रकारिता के संसाधनों में आयी कमी, महंगी एवं विवादास्पद खोजी रिपोर्टों में गिरावट तथा पत्रकारिता के मानकों में सस्ती और व्यापारिक दृष्टिकोण से लुभावनी पत्रकारिता को स्वीकार करने में आयी नरमी है। उद्योग जगत की बलिवेदी पर शहीद होने वालों की कतार में सर्वप्रथम अन्तरराष्ट्रीय रिपोर्टिंग है जो काफी महंगी होती है परन्तु अन्तिम उत्पाद, जो कि धनार्जन है, में बहुत कम सहयोग करती हैं। मजदूरों की खबरों को स्थान देना काफी पीछे छूट गया है। जबकि अधिक लाभप्रद "व्यावसायिक पत्रकारिता"जो समाज के एक चौथाई हिस्से की तरह झुकाव रखती हैसही अर्थो में, इतनी प्रचलित हो गयी है कि यह सामान्य समाचारों का हिस्सा बन चुकी हैं। व्यावसायिक पत्रकारिता की वह प्रवृत्ति जिसके कारण यह पत्रकारिता की नीति निर्धारक बन गयी है "बाजारी ताकतों" के अमेरिकी प्रजातंत्र तथा सार्वजनिक मामलों में उदारवादी एवं प्रेरणास्रोत के रूप में सामान्यतः प्रभावी रूप से स्थापित होने की विजय का जश्न मनाती हैएक निर्भीक वैचारिक चाल जो निष्पक्ष समाचार के भेष में छिपी हुयी थी।

संक्षेप में कहा जाये तो मीडिया मालिकों ने विस्तार होते व्यावसायिक "सौदों" को त्याग दिया है, क्योंकि इनका अब कोई आर्थिक महत्व नहीं रह गया है। न्यूज रूमों की स्वायत्तता पर हुये हमलों का एक अनुमान पेशेवर पत्रकारों के गिरते मनोबल से लगाया जा सकता है। 1980 तक, पत्रकार मीडिया की यथास्थिति के कट्टर और सबसे संवेदनशील रक्षक होते थे। वह अपने विशेषाधिकारों का आनन्द लिया करते थे तथा वह उनका इस्तेमाल समाज के हित के लिए कर रहे थे। पिछले एक दशक में, जिसे एक भारी परिवर्तन की संज्ञा दी जा सकती है, पत्रकार अपनी स्वायत्तता खो देने के फलस्वरूप काफी हताश हो चुके हैं। पत्रकारों के गढ़ों के सर्वेक्षण यह दर्शाते हैं कि 1990 के अन्तराल में उनके मनोबल पतन के प्रकरणों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। शिकागो ट्रिब्यून के सम्पादक, जेम्स स्कीयर्स, ने यह तर्क देते हुये अपनी नौकरी छोड़ दी, कि "उद्योग

जगत द्वारा" अखबारों पर कब्जा कर लेने के कारण वह "पत्रकारिता की मौत" के साक्षी रहे थे।

इसलिए इक्कीसवीं सदी का सवेरा हमें एक ऐसी स्थिति में पाता है जो आज से अस्सी से भी अधिक सालों पहले सिंक्लेयर और उनके साथियों द्वारा अनुभव की गयी अवस्था से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। मीडिया निरपवाद रूप से कुछ हाथों में केन्द्रित है, पत्रकारिता की सत्यनिष्ठा सन्दिग्ध हो चुकी है, पत्रकारों के हौसले पस्त हो चुके हैं, तथा राजनीतिक व्यवस्था भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी हुयी है। अप्टन सिंक्लेयर की "दि ब्रास चैक" आलोचनात्मक पत्रकारिता की प्रथम महान पीढ़ी का चक्र ही नहीं अपितु आधुनिक काल में पूँजीवादी पत्रकारिता की सर्वप्रथम गहन आलोचना भी है, जिस काल में हम निश्चित रूप में रहते हैं। पूँजीवादी पत्रकारिता के राजनीतिक संकट की अपरिहार्यता आज भी कायम है तथा हमारी वर्तमान दुर्दशा को समझने के लिए एक मुख्य पहलू है, तथा ऐसा कोई भी कारण हमें यह सोचने के लिए मजबूर नहीं कर सकता कि यह समस्या अपने आप ही समाप्त हो जायेगी। किसी भी प्रजातांत्रिक स्थिति को इस मूल समस्या का सामना करना होगा कि पूँजीपति ही पत्रकारिता को नियंत्रित करते हैं तथा मीडिया एक स्वतंत्र तथा स्वायत्त समाज का ढोंग भर करती है।

('मंथली रिव्यू' से साभार)

अनुवाद : एस.के. यादव

उत्तर-आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान'

(पृष्ठ 91 का शेष)

पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रहों और ईसाई द्वैतवादी सोच के प्रतीक के रूप में भर्त्सना की है। वामपंथ की ओर झुकाव रखने वाले सामाजिक आन्दोलनों में लोकलुभावनवादी, स्वदेशीवादी धाराओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले भारत के तमाम प्रख्यात बुद्धिजीवियों ने विज्ञान के उत्तर आधुनिकतावादी सन्देह को अपनाया है, और "वैकल्पिक विज्ञानों" का आह्वान किया है जो भारत की उस जनता की सांस्कृतिक प्राथमिकताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं जो आधुनिक नहीं है।

"वैकल्पिक विज्ञानों" के समर्थकों के समक्ष सवाल यह है : "वैदिक विज्ञानों" के समर्थकों के लिए उनको क्या कहना है? उदाहरण के लिए, वैदिक ज्योतिषशास्त्र की तथाकथित वैज्ञानिकता के विरुद्ध वे क्या तर्क दे सकते हैं? क्या वे समस्त विज्ञानों को सामाजिक रचनाएं मानने के अपने ज्ञानसापेक्षवादी विचार पर दृढ़ रहते हुए भी वेदों के वैज्ञानिकीकरण को चुनौती दे सकते हैं जो वैदिक भौतिकी या वैदिक सृष्टि रचनावाद के सिद्धान्तों में चल रहा है।

विज्ञान और मिथ के बीच, तर्कसम्मत प्रमाण-आधारित सार्वजनिक ज्ञान और योगियों की पहुँच वाले आध्यात्मिक ज्ञान के बीच की विभाजक रेखा के किसी भी प्रकार धूमिल होने का सीधा परिणाम विज्ञान के चोले में पोंगापन की वृद्धि होगा। यही समय है कि धर्मनिरपेक्ष और स्वयंभू वामपंथी बुद्धिजीवी अतार्किकता और रोमानीपन के प्रति अपना मोह छोड़ें। यही समय है कि विज्ञान और मिथ के बीच, वामपंथ और दक्षिणपंथ के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जाये।

('फ्रंटलाइन' से साभार)

अंग्रेजी से अनुवाद : रघुवीर शर्मा

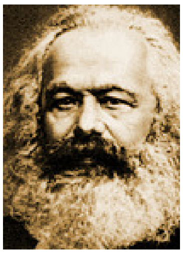

An Introduction to Marx's Capital

By **Ranganayakamma**

(Price: Rs. 90.00/ for Vol. I, Rs. 110.00 for Vol. II, and Rs. 80.00 for Vol. III)

A Book on 'Caste' question

For the solution of the 'Caste' question
Buddha is not enough,
Ambedkar is not enough either,
Marx is Must

By **Ranganayakamma**

Pages 430. Paper back. Rs. 80

Published by **Sweet Home Publications, Hyderabad**
Availbale from : **JANCHETNA**
- **D-68, Nirala Nagar, Lucknow-226020**
- **989, Purana Katra, University Road, Manmohan Park, Allahabad**
- **Jafra Bazar, Gorakhpur**
- **29, UNI Aptts, GH-2, Sec-11, Vasundhara, Ghaziabad-201010**

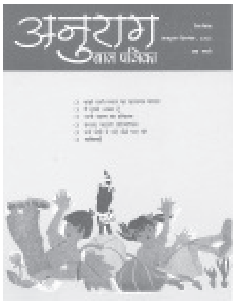

अनुराग
बाल पत्रिका

अनुराग बाल पत्रिका और अनुराग ट्रस्ट की बच्चों के लिए दिलचस्प किताबों के लिए लिखें :

डी-68, निरालानगर, लखनऊ

एक प्रति : 10 रु.

वार्षिक : 40 रु. (डाक व्यय अतिरिक्त)

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95-फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति : *लेनिन* • जनवादी केन्द्रीयता का सवाल : *माओ त्से-तुङ* • शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं • आइजेंस्ताइन और *'पूंजी'* पर फिल्म बनाने की योजना

मार्च-अगस्त 1996

• माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश

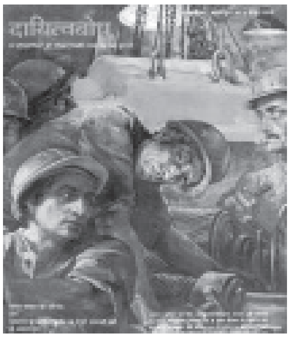

सितम्बर-अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96-फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर ***विशेष सामग्री***

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च-जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई-अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • चाङ चुन-चियाओ का लेखः बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में • सेर्गेई आइजेंस्ताइन कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97-फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख • गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधि-कारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च-जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

जुलाई-दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता • उत्तर- औपनिवेशिक सिद्धान्त और *'उत्तर'* -अवस्था : *एजाज अहमद* • गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : *जार्ज थामसन* • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

जुलाई-सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर-दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : ***वोलोशिनोव*** • विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम • ***इस्तवान मेस्जारोस*** की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी-मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : *अंतोनियो लाब्रियोला* और *रेमंड लोट्टा* के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : ***ब्रेष्ट*** • कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ : ***आलोक श्रीवास्तव*** • माओवादी चीन में स्त्रियां • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख • नजरुल की कविता 'विद्रोही'

जुलाई-सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय • ***हांस आइसलर*** का लेख एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता • समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र

जनवरी-मार्च 2001

इतिहास के लिए कुछ कार्य-स्थगन प्रस्ताव •औपनिवेशिक भारत में लोकभाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन • सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याओं पर माओ का लेख • राष्ट्रीय प्रश्न पर जार्ज थामसन का लेख • 'मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं'—हांस आइसलर

जुलाई-सितम्बर 2001

भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी ''मार्क्सवाद'' • शेयर बाजार—एक मार्क्सवादी विश्लेषण : फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाड़ बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा और प्रो. अरुण कुमार के लेख • निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियां • 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं ' की आलोचना—माओ त्से-तुङ • खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति

अक्टूबर 2001-मार्च 2002

• दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती • अफगानिस्तान और उसके बाद • एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर • एन.जी.ओ. की सैद्धान्तिकी और व्यवहारशास्त्र के बारे में हमारी समझ कैसे बनी?

जुलाई-सितम्बर 2003

• मार्क्सवाद पर अंबेडकर के विचार • इराक : मदमत्त हाथी फिर दलदल में • साम्राज्यवाद के बारे में • पश्चिम एशिया : शान्ति की शर्त फलस्तीन की आजादी • पूंजीवादी निवेश के कारण तबाह हो रहे हैं गरीब किसान • स्तालिन के निधन के पचास वर्ष बाद • दूरसंचार का निजीकरण

जुलाई-सितम्बर 2003

वर्ल्ड सोशल फोरम और एन.जी. ओ. की राजनीति पर केन्द्रित विशेष अंक

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें : प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

खत्म करो पूंजी का राज! लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!

गांव-गांव में अलख जगाकर
विदेशी लूट मिटाएंगे
देशी कफनखसोटों को भी
लड़कर मार भगाएंगे
कसम शहीदों की भारत में
लोक स्वराज बनाएंगे

...''देश के इतिहास के ऐसे मोड़ पर, जब समय के गर्भ में महत्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं, हम पूंजीवादी जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी और तथाकथित पंचायती राज के कपटपूर्ण शगूफे को सिरे से खारिज करने के लिए उन सबका आह्वान करते हैं जो इस व्यवस्था में छले जा रहे हैं, ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, वे ही नई व्यवस्था बनाने के लिए आगे आएंगे। उन्हें आगे आना ही होगा!

...सवाल आज विदेशी गुलामी बनाम स्वदेशी का नहीं है। बल्कि सवाल सम्पूर्ण पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और पूंजीवादी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रणाली को ही नष्ट करने का है, जो अनैतिहासिक और मानवद्रोही हो चुकी है।

21वीं सदी में इतिहास के एजेंडे पर यही केन्द्रीय मुद्दा है। क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा उस पूंजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष का नारा है, जिसने देशी पूंजीपतियों की लूट के साथ ही साम्राज्यवादी देशों और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लूट के लिए देश के दरवाजे खोल दिये हैं।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान पूंजीवादी जनतंत्र के सभी स्वांगों और छल-छद्मों का भण्डाफोड़ करते हुए वर्तमान संसदीय प्रणाली को सिरे से खारिज करने का और सरकारी पंचायती राज के असलियत को समझने का आह्वान करता है।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान व्यापक परिवर्तन के हर मोर्चे पर सन्नद्ध होने के साथ-साथ गांव-गांव में, शहर के मुहल्लों और मजदूर बस्तियों में जनता की वैकल्पिक सत्ता के क्रान्तिकारी केन्द्रों के रूप में लोक स्वराज्य पंचायतों के गठन का आह्वान करता है।

हम जानते हैं कि, यह रास्ता लम्बा है। पर यही एकमात्र विकल्प है। यही इतिहास का रास्ता है। इसलिए हमारा यह संग्रामी संकल्प है कि ''लोक स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम हर कीमत पर उसे लेकर रहेंगे।''

दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा, बिगुल मज़दूर दस्ता,
देहाती मज़दूर यूनियन, नारी सभा और दायित्वबोध मंच की ओर से पिछले नौ वर्षों से चलाये जा रहे
क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पर्चा संख्या-4 के अंश

प्रमुख सम्पर्क : ● नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94 ● जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, नोएडा (शाम 5 से 8) ● 29, यू.एन. आई. अपार्टमेंट, सेक्टर-11, वसुंधरा, गाजियाबाद ● पंकज, 33, सेक्टर 15, सोनीपत ● जनचेतना डी-68, निरालानगर, लखनऊ ● 'आह्वान' कार्यालय, कल्याणपुर, गोरखपुर ● जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ● जनचेतना, 989, पुराना कटरा, युनिवर्सिटी रोड, मनमोहन पार्क, इलाहाबाद ● डा. दूधनाथ, शहीद पुस्तकालय, मर्यादपुर, मऊ ● जनचेतना, ग्राम भदईपुरा, रुद्रपुर (ऊधमसिंहनगर) ● सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज-3, पखोवाल रोड, लुधियाना ईमेल : dayitvabodh@rediffmail.com